२०५

ॐतत्सत् ।

रतवर्षका इतिवृत्त ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल

शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा प्रकाशित ।

(महामाया ट्रस्ट निधिकी सहायतासे)

रया } कलेर्गताब्दाः ५०५८ { मूल्य ३)

प्रकाशक
श्रीभारतधर्ममहामण्डल
शास्त्रप्रकाश विभाग,
वाराणसी ।

मुद्रक
अमलकुमार बसु,
इंडियन प्रेस, प्राइवेट, लिमिटेड,
वाराणसी-शाखा

भारतवर्षका इतिवृत्त ।

—:❁:—

विषयानुक्रमणिका ।

—:❁:—

पहिला अध्याय ।

तीसरा अध्याय।

चौथा अध्याय।

पाँचवाँ अध्याय।

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

विषय पृष्ठाङ्क

आठवाँ अध्याय।

भारतद्वीपका धर्म्म और उसकी ज्ञानगरिमा

नववाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

पुराण और इतिहासका लक्षण। इस अध्यायके लिखनेका उद्देश्य। आदर्श पुरुष जीवन और आदर्श नारीजीवनके दृष्टान्तको जगत्‌में स्थापन करनेके लिये ही राम सीताका जन्म। ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्तिके सामञ्जस्यके लिये रामावतारका होना। सतीत्वका आदर्श स्थापन करनेके लिये सीता महाराणीका जन्म। रामावतार से वीर, करुण, वात्सल्य, मधुर, भयानक, अद्भुत आदि सकल रसोंका आदर्श संसारमें स्थापन होना। रामराज्यका आदर्शरूप होना। मनुष्य समाजकी धारणाके प्रधान चार अङ्ग और रामराज्यमें उनका पूर्ण उत्कर्ष। रामराज्यके राजप्रजासत्तात्मक होनेका वर्णन। शङ्काओंका समाधान करते हुए सीताराम चरित्रका आदर्शत्व सिद्ध करना। रामराज्यका आदर्शत्व। रामराज्य और आधुनिक राज्योंका तुलनात्मक विचार। भगवान् राम और भगवती सीताके आदर्श जीवनकी विशेष आलोचना। इतिहासों और पुराणोंके चरित्र वर्णनकी पृथकता। उनमें केवल लौकिक इतिहास खोजनेकी निष्फलता। विभिन्न पिण्डोंमें भगवदवताओंका आविर्भाव। अवतार शरीरमें दो प्रकारकी क्रियायें। रामायणमें आधुनिक विचारसे असंभव चरित्रोंका समाधान। श्रीरामराज्यमें सृष्टिरक्षाके चतुर्व्यूहोंकी पूर्णता। रामायणका महत्त्व।

श्री जगन्मात्रे नमः

विनीत निवेदन

सर्वशक्तिमान् भगवान्की असीम अनुकम्पासे भारतवर्षका इतिवृत्तका यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। श्री भारतधर्म-महामण्डलके संस्थापक और सञ्चालक भगत्पूज्यपाद महर्षि श्री १९०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजप्रभुने भारतवासियोंकी कल्याण-कामनासे प्रायः बीस वर्षों पहले इस ग्रन्थका प्रणयन किया था। उसी समय यह प्रकाशित भी हो गया था। थोड़े ही समय में इसकी प्रतियाँ समाप्त हो गयीं और वर्षोंसे यह ग्रन्थ अप्राप्य हो गया था, किन्तु इसकी माँग बराबर बनी रही। इस अपूर्व ग्रन्थके इस दूसरे संस्करणको जनताजनार्दनकी सेवाकेलिये अर्पित करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द हो रहा है।

परम पूज्यचरण ग्रन्थकारद्वारा लिखित इसकी विस्तृत भूमिका-के गम्भीरतापूर्वक अध्ययनसे इसकी प्रणयन-शैली एवं गवेषणा-शैली हृदयङ्गम हो सकेगी। यह इतिवृत्त अपने ढङ्गका निराला अद्वितीय ग्रन्थ है। इसके प्रणयन-शैलीमें भारतीय प्राचीन शैली-का ही अनुसरण किया गया है। यह ग्रन्थ रत्न कालेजोंमें यदि पढ़ाया जाय, तो छात्रोंके चरित्र-निर्माणमें बड़ी सहायता होगी; उनको अपने देशके अतीत महान् गौरवका ज्ञानभी होगा, जिससे वे अपने को उसके अनुरूप बनाने का प्रयत्न करेंगे। वस्तुतः इतिहासमें ऐसे ग्रन्थोंका अभाव होनेसे इतिहासकेद्वारा भारतके यथार्थ स्वरूपका दर्शन नहीं होता है। विदेशी शासक इसे चाहते

भी नहीं थे; उनको तो अपना दास प्रस्तुत करना ही इस देशमें शिक्षाके प्रचारका ध्येय था। भगवान्‌की असीम कृपासे और हमारे देशके महान् नेता महात्मागान्धीजी, आदिके त्याग-तप एवं आत्म-बलिदानसे आज हमारा देश स्वतन्त्र है। अब उपयुक्त अवसर है, जब ऐसे-ऐसे साहित्य हमारे देशके युवक-युवतियोंको पढ़ाया जाय, जिससे वे पुनः भारतके अतीत गौरवके अनुरूप ईश्वर-भक्त, निर्भीक, चरित्रवान्, देशभक्त, त्यागी, तपस्वी नागरिक बनें और पुनः संसारका पथ-प्रदर्शन करके भारतके जगद्गुरुपदको पुनः सार्थक करें।

ग्रन्थकर्त्ताने इस ग्रन्थका सत्वाधिकार "वाणी पुस्तकमाला" को प्रदान किया था; तदनुसार इसका सत्वाधिकार वाणीपुस्तक मालाको प्राप्त है। वाणी-पुस्तक-मालामें वाराणसीने केवल इस संस्करणका सत्वाधिकार श्रीभारतधर्ममहामण्डलको प्रदान किया है।

वाराणसी
फाल्गुन पूर्णिमा
सं० २०१४

देवी नारायण
(विद्यासागर बी० ए०, एल० एल० बी एडवोकेट)
जनरल सेक्रेटरी
श्रीभारतधर्ममहामण्डल

ॐ तत्सत् ।

भारतवर्षके इतिवृत्तकी भूमिका ।

—:❀:—

मंगलाचरण ।

(१)

नाथ ! तुम्हीं हो ब्रह्म सनातन
नहीं तुम्हारा कुछ आकार ।
प्रकृति तुम्हारी विश्वमोहिनी
फैलाती है त्रिगुण-विकार ॥

(२)

जब वह देशरूप धारण कर
त्रिगुणोंका दम भरती है ।
अगणित ब्रह्माण्डोंका फिर फिर
सृष्टि-स्थिति-लय करती है ॥

(३)

लीलाका विस्तार सुरासुर
मुनि अनन्त लेखा करते ।

कालरूपमें द्रष्टा बन कर
कौतुक तुम देखा करते ॥

(४)

"मैं-मेरा"-सा है अभेद
दोनोंमें, प्रेमी गहरे हैं ।
सागरसे उठती, फिर भी वे
सागरकी ही लहरें हैं ॥

(५)

शक्तिमानसे शक्ति भला क्या
कभी पृथक् रह सकती है ?
गायककी वह गानशक्ति क्या
उससे कहीं खसकती है ? ॥

(६)

प्रेमभरे आपसमें मिलकर
करते हैं निर्मल परिहास ।
दोनोंके उस शबल रूपको
ज्ञानी कहते हैं इतिहास ॥

(७)

वह भी थक जाता है, कहते—
कहते काल-देश-वृत्तान्त ।

पाते नहीं पता, रहते हैं
व्याकुल, संशोधक उद्भ्रान्त ॥

(८)

जिसमें सब, जिससे सब जो सब,
सबभर भरा हुआ अभिराम ।
सत्-चित्-रस उस देव सर्वमय
सर्वात्माको करूँ प्रणाम ॥

कालज्ञान-सम्बन्धीय गाथाओंको इतिवृत्त या इतिहास कहते हैं । इतिवृत्त अथवा इतिहास लिखनेकी शैली वर्तमान कालमें कुछ और है और भारतद्वीपके प्राचीन कालमें कुछ और थी । इस समय इतिहास लिखनेकी शैली यह है कि, कालके छोटे छोटे विभागों और पृथ्वीके छोटे छोटे विभागोंतककी घटनावाली जहाँतक सम्भव हो और पक्षपात-रहित तथा पक्षपात-सहित जितना एकत्र होना सम्भव हो, उतना ग्रन्थोंमें प्रकाशित कर दिया जाता है । प्राचीन भारतद्वीपवासियोंकी इतिहास लिखनेकी शैली कुछ विचित्र ही थी ।

अलौकिक और प्राचीन भारतद्वीपमें अर्थात् महाभारतके महायुद्धके पूर्वकालके भारतद्वीपमें इतिवृत्तसमूह पुराण और इतिहासके नामसे धर्मग्रन्थरूपसे प्रकाशित करनेकी रीति थी।

उस समयके इतिवृत्तोंमें न कालके छोटे छोटे विभागोंपर ध्यान दिया जाता था, न देशके छोटे छोटे विभागोंपर ध्यान दिया जाता था। क्योंकि प्राचीन भारतद्वीपवासी आर्यगण अनादि-अनन्त काल और अनादि-अनन्त देशके विराट् रूपको अपने ज्ञाननेत्रके सामने सदा रखकर अपने नित्यके कर्म्मकाण्ड और उपासनाकाण्डके सङ्कल्पमें उसकी पर्य्यालोचना किया करते थे। इस प्रकारके सङ्कल्प करनेकी शैली भारतद्वीपके सब प्रान्तोंकी धार्मिक सनातनधर्मी जनतामें अब भी प्रचलित है। इसमें विलक्षणता यह है कि, कालज्ञान तो सब प्रान्तोंमें समानरूपसे ही होता है; किन्तु विशेष देशज्ञानका ठीक ठीक पता और किस देशको पहिले क्या कहते थे, इसका पता उन प्रान्तोंके संकल्पोंसे लग जाता है। इस कारण महान् काल और विराट् देशकी दृष्टिको आंकुचित करना वे अप्रयोजनीय और अहितकारी समझते थे। उस समयके पुराणों और इतिहासोंमें वे ही गाथाएँ प्रकाशित करनेकी शैली थी, जो देवलोक और मनुष्यलोककी मिली जुली गाथाएँ हों और जिन गाथाओंसे लोकशिक्षा होकर मनुष्यजातिकी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध उन्नति हो सके। यही कारण है कि, आजकलके ऐतिहासिकगण साधारण रीतिसे

प्राचीन भारतद्वीपवासियोंके ऐतिहासिक तत्त्वोंके हृदयङ्गम करनेमें समर्थ नहीं होते ।

प्राचीन वेद और शास्त्रोंकी गाथाओंके समझनेमें एक वड़ा अन्तराय यह है कि, वेद और वेदसम्मत पुराणादि शास्त्रोंकी भाषाशैली और भावशैलीका रहस्य सधारण रीतिसे दुर्ज्ञेय होता है । वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंमें भाषाके ढङ्ग तीन होते हैं । यथाः—१–समाधिभाषा, २–लौकिकभाषा और ३–परकीयभाषा । इसी तरह वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंकी वर्णनशैली भी तीन भावोंसे गुम्फित रहती है । यथाः—१—अध्यात्मभाव, २—अधिदैवभाव और ३—अधिभूतभाव । समाधिभाषा उसको कहते हैं, जिसमें लौकिक विषयका वर्णन न हो, किन्तु समाधिगम्य विषयोंका वर्णन हो । यथाः—ईश्वरतत्त्व, प्रकृतितत्त्व, कर्मतत्त्व, परलोकतत्त्व, इत्यादि; जो केवल समाधिद्वारा जाने जाते हैं । समाधिगम्य विषय जिस भाषाकेद्वारा लौकिक रीतिपर वर्णित हों, उसको लौकिकभाषा कहते हैं । यथाः—विष्णुभागवतकी रासलीला, देवीभागवतकी रासलीला, दोनोंका संयुक्त रहस्य, शिव-पार्वतीके विवाहका रहस्य, शिवलिङ्गका रहस्य, भगवान् ब्रह्माके कन्याहरणका रहस्य इत्यादि । परकीय भाषा उसको कहते हैं, जिसके द्वारा कल्प-कल्पान्तरकी,

युगयुगान्तरकी और मन्वन्तर-मन्वन्तरान्तरकी देवलोककी, मनुष्यलोककी अथवा उभय संयुक्त चरित्रावली, धर्मस्थापन, धार्मिक चरित्रगठन और समाधिगम्य भावोंके समर्थन तथा पुष्टिके निमित्त प्रकाशित करना उचित समझा गया हो। यथाः—सावित्रीसत्यवान्-गाथा, हरिश्चन्द्र-गाथा, मार्कण्डेय-गाथा, श्रीराम-गाथा, श्रीकृष्ण-गाथा इत्यादि।

इसी ढङ्गपर त्रिविध भावोंकी विचित्रता भी वेद और शास्त्रमें अलौकिक है। त्रिविध भावोंका मूल ब्रह्ममें है। यथाः—ब्रह्म सत् है, चित् है और आनन्दरूप है। सत् अधिभूत, आनन्द अधिदैव और चित् अध्यात्मभावका प्रकाशक है। इसी कारण परमात्मा सत्‌रूपमें विराट्‌पुरुष, आनन्द-रूपमें ईश्वरस्वरूप और चित्‌रूपमें ब्रह्मस्वरूप हैं और अपने ज्ञानी भक्तोंको विराट्‌पुरुष, ईश्वर और ब्रह्मरूपमें दर्शन देकर कृतकृत्य करते हैं। अतः वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंका सिद्धान्त यह है कि, जब ये तीनों भाव कारण ब्रह्ममें हैं, तो ये ही तीनों भाव कार्यब्रह्मके प्रत्येक स्तरमें होंगे। पूज्यपाद महर्षियोंकी ज्ञानदृष्टिमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीन रूप न हों। उदाहरणसे समझनेयोग्य है कि, रूप-तन्मात्रा नेत्रका अध्यात्म है। नेत्रके अधिदैव सूर्यदेव हैं और नेत्रका

अधिभूत नेत्रगोलक है, जो नष्ट भी हो जाता है। इसी सर्व-व्यापक त्रिभावकी सत्ताके अनुसार वेद-शास्त्रोंकी भाषाओंमें भी त्रिभाव गुम्फित रहते हैं। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, भगवान् ब्रह्मा चतुर्मुख होकर सब जीवोंके मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्काररूपी अन्तःकरण-चतुष्टयमें विराजते हैं, यह उनके अध्यात्मभावका वर्णन है। उनके कन्याहरण आदिका रहस्य इसी भावसे सम्बन्ध रखता है। वे जब ब्राह्मस्वर्गमें विराजकर ब्रह्माण्डकी सृष्टिक्रिया सम्पादित करते हैं, तब उनकी गाथा उनके अधिदैवभावसे पूर्ण है और जब वे स्थूलमूर्ति धारण करके भक्तोंको दर्शन देते और उनकी इच्छापूर्ति करते हैं, तब उनकी गाथा अधिभूतभावसे सम्बन्धयुक्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि, वेद और पुराण आदि शास्त्रोंका रहस्य समझनेके लिये तीनों भाषाओंका रहस्य और तीनों भावोंका रहस्य ऐसा हृदयङ्गम कर लेना उचित है, जिससे जहाँ जहाँ ये विषय आवें, वहीं इनका स्वरूप समझमें आजाय। वेदके सब मन्त्रोंका और वेदसम्मत शास्त्रोंकी समाधिभाषाके सब वचनोंका त्रिविध अर्थ होना तो वेदसे ही सिद्ध है। ये सब बातें लक्ष्यमें रखकर वेद और शास्त्रोंका अध्ययन किया जायगा, तभी वेद और शास्त्रोंके समझनेमें पण्डितोंके लिये

ज्ञानका द्वार खुला रह सकता है। वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंके प्रत्येक स्थलमें इन छहों वर्णनशैलियोंका विचार रखकर, कहाँ क्या है, यह समझकर विषयके समझनेका प्रयत्न करनेसे सफलता होती है, अन्यथा भ्रममें पड़ना निश्चित है। यही कारण है कि, वर्तमान समयके ऐतिहासिक गण इन बातोंको न समझकर वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंमें लौकिक ढंगपर ऐतिहासिक तत्त्वोंकी खोज करते हुए भ्रममें पतित हुआ करते हैं। जिससे हित न होकर अहित ही हो जाता है।

पिछली शताब्दिके शेष भागमें आबूगिरिके वनके वशिष्ठाश्रममें वर्तमान श्रीभारतधर्ममहामण्डलरूपी महायज्ञका बीजारोपण हुआ था। उससे वर्तमान भारतधर्ममहामण्डलका दिव्य देह प्रकट हुआ है। उस देहका मेरुदण्डरूपी उसका शास्त्रप्रकाशन विभाग है। उस स्वजातीय शास्त्रप्रकाशन-विभागसे सबसे प्रथम वैदिक दर्शनशास्त्रोंका उद्धार किया गया। वैदिक दर्शनसिद्धान्त सब मिलाकर सात हैं। यथाः—न्याय और वैशेषिक—ये दो पदार्थवादके दर्शन, योग और सांख्य—ये दो सांख्यप्रवचनके दर्शन और वेदके कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डके अनुसार पूर्वमीमांसा, मध्यमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये तीन मीमांसा दर्शन। इस प्रकार सात वैदिकदर्शनोंके द्वारा सप्त-

ज्ञानभूमिप्रदर्शक वैदिक दर्शनोंकी सात पौढियाँ ज्ञानियोंकी अन्तर्दृष्टिकी प्रकाशक हैं। इन सातोंमेंसे पूर्वमीमांसा और मध्यमीमांसादर्शन असम्पूर्ण हो गये थे और उनके सब सूत्र उपलब्ध नहीं होते थे। श्रीमहामण्डलके इस कार्य-विभागके द्वारा दोनोंके सब सूत्र उपलब्ध हुए हैं और तीनों मीमांसाओंके वर्तमान देशकालपात्रोपयोगी भाष्य प्रस्तुत हुए हैं। इसके अतिरिक्त अन्य चार दर्शनोंपर भी देशकाल-पात्रोपयोगी भाष्य बने हैं और बन रहे हैं। इसी प्रकार वेदके उपनिषदविभागके कई एक भाष्यग्रन्थ अध्यात्म-विद्याको प्रकाशित करनेके निमित्त निर्मित हुए हैं। उपासनाकाण्डके शरीररूपी योगशास्त्रका औपपत्तिक अंश महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगदर्शनमें यद्यपि मिलता था, परंतु उसके क्रियासिद्धांशकी दशा बहुत शोचनीय थी। योगशास्त्रका क्रियासिद्धांश चार भागोंमें विभक्त है। यथाः—मन्त्र-योग, हठयोग, लययोग और राजयोग। यद्यपि उपनिषदों, पुराणों, तन्त्रों और अन्यान्य शास्त्रोंमें इन चारों सिद्धान्तोंका पता लगता है, तथापि इन चारोंके अलग अलग संहिता-ग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं होते थे। अतः इन चारों योगोंके क्रियासिद्धांश पूर्णरूपमें अलग अलग प्राप्त हो सकें और सब साधनोंका क्रमवार पता लग सके, इसके निमित्त

चार योगोंके चार संहिताग्रन्थ वहुत खोजके साथ हिन्द अनुवाद सहित प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र इन तीनों कर्मकाण्डके सम्प्रदायोंके यज्ञसम्वन्धी पद्धतिग्रन्थ वहुत खोजके साथ संगृहीत हुए हैं, जो सुभीतेके अनुसार प्रकाशित किये जायेंगे। सगुण पञ्चोपासनाके उपासकोंका पारस्परिक अज्ञानजनक विरोध दूर करनेके निमित्त श्रीमहामण्डलके इस विभागके द्वारा शम्भुगीता, विष्णुगीता, धीशगीता, सूर्यगीता और शक्तिगीतारूपी पञ्चगीताओंका अनुसन्धान होकर वे गीताग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हुए हैं। उसी प्रकार शिष्योंके उपकारके लिये गुरुगीता और संन्यासियोंके कल्याणार्थ संन्यासगीता भी खोजसे निकालकर प्रकाशित की गयी है। ये सव ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित होकर हिन्दीभाषाकी पुष्टि कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त संन्यासाश्रमके कल्याणार्थ कुटीचक, वहूदक, हंस और परमहंस इन चारों अधिकारोंकी साधनपद्धतिके ग्रन्थ और उपासकोंकी साधनपद्धतिके ग्रन्थ खोजकर निकाले गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीसप्तशतीगीता और रामगीता आदि गीताओंके तथा मार्कण्डेयपुराण, देवीभागवत आदि पुराणोंके ऐसे भाष्यग्रन्थ प्रकाशित हुए और हो रहे हैं कि, जैसे किसी भाषामें प्रकाशित नहीं

हुए थे। भारतमें धार्मिक शिक्षा विस्तारके निमित्त आबाल वृद्ध स्त्री-पुरुष, और पाठशालाओंकी सब श्रेणियोंके लिये पाठोपयोगी ५० से अधिक ग्रन्थ बने हैं और क्रमशः प्रकाशित होते जाते हैं। इसके अतिरिक्त लोकशिक्षार्थ अनेक टीकाग्रन्थ और अनेक संग्रहग्रंथ, यथाः—कहावतरत्नाकर आदि प्रकाशित हुए हैं। सनातनधर्मका एक महाग्रन्थ, जो हजारों पृष्ठों और आठ वृहत् खण्डोंमें धर्मकल्पद्रुम नामसे प्रकाशित हुआ है, वह सनातनधर्मका 'इनसाइक्लोपीडिया' (महाकोष) बनकर प्रकाशित हुआ है और हिन्दीभाषाकी सर्वाङ्गपूर्तिके निमित्त हिन्दीभाषाका एक महाकोषग्रन्थ (इन्साइक्लोपीडिया) प्रकाशित करनेका आयोजन हो रहा है; जिसमें शब्दोंकी पूर्णता और तुलनात्मक भावोंकी पूर्णता रहेगी। क्योंकि विना भाषाकी पूर्णताके राष्ट्रकी पूर्णता नहीं होती, न उसका यथार्थ संघटन ही हो सकता है और विना स्वजातीय शब्दोंका राष्ट्रीय महाकोष बने भाषाकी पूर्णता नहीं हो सकती। ज्ञानभण्डारकी पूर्तिका इतना कार्य अग्रसर होनेपर श्रीभारतधर्ममहामण्डलके पूज्य संचालक श्रीस्वामीजी महाराजने इस इतिवृत्तके प्रकाशित करनेकी आवश्यकता समझी है।

इस समयके बहिर्दृष्टिसम्पन्न पश्चिमी शिक्षाके प्रभावसे

प्रभावित विद्वानों तकके विचार भी सूक्ष्म दैवीराज्यसे हट कर एक वार ही स्थूल दृश्यमान जगत्की ओर आकृष्ट हो गये हैं। सूक्ष्म, विशाल तथा महान् शक्तिशाली दैवीराज्यके अस्तित्वको सभी भूल गये हैं और उसपर ध्यान देनेकी आवश्यकता ही नहीं समझते। इसका फल यह हुआ है कि, सभी वातोंको, चाहे वे लौकिक हों या अलौकिक, स्थूल-दृष्टिसे ही देखनेका उन्हें अभ्यास हो गया है। इस कुसङ्ग और कुविचारके द्वारा उन्नत विद्यासम्पन्न और विचार-शील पण्डितगण भी सूक्ष्म दैवीराज्यको कल्पनाप्रसूत माननेमें नहीं हिचकते। जो जगत्की आदिगुरु भारतद्वीप-की आर्यजाति सव शास्त्रों, सव विद्याओं और मनुष्यकी सभ्यताके सव अङ्गोंकी आविष्कर्ता थी, उसको ऐतिहासिक तत्त्वविहीन और मूर्ख कहते हुए भी वे लज्जित नहीं होते और ऐसी आदिगुरु मनुष्यजातिके वेदसमूहोंको लौकिक ग्रन्थ समझकर उनकी रचनाका कालनिर्णय करनेमें उद्यत होकर वालकके चन्द्रमाको पकड़नेकी चेष्टाके समान चेष्टा किया करते हैं। अन्तर्जगत् प्रकाशक चाहे दर्शनशास्त्र-समूह हों अथवा अन्तर्जगत्से सम्वन्ध स्थापन करानेवाले मन्त्र, तन्त्र, योग आदि हों, इस समयके ज्ञात साइन्सको आधार मानकर और अपनेको सर्वज्ञ मानकर उनकी

हंसी उड़ाया करते हैं। प्राचीन आर्योंका लक्ष्य आत्माकी ओर था और नवीन सभ्यताके समय मनुष्योंका सम्पूर्ण लक्ष्य इन्द्रियोंकी ओर हो गया है। ऐसे इन्द्रियोंकी ओर ही लक्ष्य देनेवालोंको गुरु मानकर प्राचीन सभ्यता, अध्यात्म लक्ष्य और पूर्वजनोंकी ज्ञानगरिमापर वज्राघात करके वे स्वयं दिनपर दिन पतित होकर जगत्‌को भी अधः-पतित करते जाते हैं। सभ्य और शिक्षित समाजकी यह दुःखजनक दशा देखकर उनके सन्मार्ग प्रदर्शनके लिये इस ग्रन्थके लिखनेकी आवश्यकता समझी गयी है। प्राचीन आर्यगण जगद्‌गुरुत्व लाभ करके ऐतिहासिक तत्त्वसे अन-भिज्ञ नहीं थे तथा वे सृष्टिप्रवाहको किस प्रकार मानकर किस श्रेणीके ऐतिहासिक तत्त्वको प्रकाशित करते थे और लोकशिक्षामें उसका कैसा उपयोग हुआ करता था और प्राचीन समयका ऐतिहासिक तत्त्व किन किन भावोंसे गुम्फित था, उसका दिग्दर्शन इस ग्रन्थके इस प्रथम खण्डमें किया गया है।

यदि यह निश्चित है कि, कालज्ञान सम्बन्धीय शास्त्र ही इतिहास है और यदि यह निश्चित है कि, काल और देशका अन्योन्याश्रयसम्बन्ध है, तो हम जिस देशमें रहते हैं, उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना सबसे प्रथम आवश्यक है।

अपने ब्रह्माण्ड और अपने ब्रह्माण्डके साथ अपने भारतवर्षका परस्पर क्या सम्बन्ध है, उसका अनुशीलन करना सबसे प्रथम आवश्यक होनेके कारण ब्रह्माण्ड और भारतवर्ष नामक पहिले ही अध्यायमें उसकी चर्चा की गयी है।

यदि शास्त्रानुसन्धान द्वारा यह निश्चित होता है कि, भारववर्ष नामसे हमारा सब मृत्युलोक ही समझा जाता है, जिसको दुनिया कहते हैं और उस मृत्युलोकका प्रधान अङ्ग भारतद्वीप है, जिसको हिन्दुस्थान कहते हैं, तो समग्र ब्रह्माण्डके मानचित्रमें उसका स्थान कहाँ है और समग्र ब्रह्माण्डकी आधिभौतिक स्थिति कैसी है, इन सब अति आवश्यकीय विषयोंपर वर्तमान समयके विपथगामी विद्वानों और अनुसन्धानकर्ताओंकी दृष्टि आकृष्ट करनेके अभिप्रायसे ब्रह्माण्डका मानचित्र नामक दूसरे अध्यायकी रचना करनेकी आवश्यकता हुई और उसके निमित्तसे ब्रह्माण्डका मानचित्र नामक चित्र भी इस पुस्तकके सम्बन्धसे अनेक खोजके साथ बनाया गया है, जिसका तिरङ्गा चित्र इस ग्रन्थके परिशिष्टरूपमें स्वतन्त्ररूपमें प्रकाशित होगा। उसके द्वारा चतुर्दश भुवनोंका परस्पर सम्बन्ध, उसमें विलस्वर्ग, भौमस्वर्ग, माहेन्द्रस्वर्ग, प्राजापत्यस्वर्ग और

ब्राह्मस्वर्गकी अलग अलग स्थिति, इन सप्त लोकोंमेंसे भूलोकके विस्तारका स्वरूप, उसमें सप्तद्वीप और सप्तसमुद्र कैसे हैं, इसका स्वरूप, इन सातों द्वीपोंमेंसे जम्बुद्वीपका स्थान और उसमें नौ वर्ष, पितृलोक, नरकलोक और प्रेत-लोकका स्थान उसमें मृत्युलोक, जिसको भारतवर्ष कहते हैं, उसकी स्थिति और उसमें भारतद्वीपकी स्थितिका दिग्दर्शन कराया गया है और साथ ही साथ इस मानचित्रमें यह भी दिखाया गया है कि, भूः और भुवर्लोकरूपी भौमस्वर्ग, जिसके अन्तर्गत सारे ग्रह, नक्षत्र और राशिचक्र आदि हैं, उसमें दिव्यपर्वत सुमेरु कैसे सबको धारण किये हुए है और सुमेरुको आश्रय करके ध्रुवलोक, सप्तर्षिमण्डल, सूर्य शशिचक्र और सब ग्रहगण कैसे स्थित हैं, उसका यथा-सम्भव दिग्दर्शन कराया गया है। इसी चित्रमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूपी त्रिमूर्ति, जो ब्रह्माण्डके ईश्वर हैं और यम-राज, देवराज, कालराज और असुरराज इन चारों बड़े बड़े देवपदधारियोंकी ओर भी उनके चित्र देकर लक्ष्य आकृष्ट कराया गया है।

प्राचीन भारतद्वीपवासियोंकी आर्यसभ्यता और वर्त-मान समयके पाश्चात्य जातियोंकी सभ्यतामें कई बड़े अन्तर हैं। प्राचीन सभ्यता आत्माकी ओर लक्ष्य कराती

है और नवीव सभ्यताका एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियसेवा है। प्राचीन सभ्यतामें निवृत्तिको ही अन्तिम लक्ष्य माना है और नवीन सभ्यतामें प्रवृत्तिको ही सब कुछ मान लिया गया है। प्राचीन सभ्यतामें दैवी सूक्ष्मराज्यके परलोकको ही मुख्य माना गया था और नयी सभ्यतामें इसी लोकको सब कुछ मान लिया है। इस तुलनात्मक दिग्दर्शनका तात्पर्य यह है कि, प्राचीन सभ्यता और प्राचीन शिक्षाप्रणालीसे सत्त्व-गुणकी अभिवृद्धि होकर क्रमशः अहंकारकी हानि हुआ करती थी और नवीन सभ्यताका प्रभाव और शिक्षाप्रणाली मनुष्यको साधारणतया अहंकारकी मूर्ति बना दिया करती है। इस कारण वर्तमान सभ्यताके पाश्चात्य गुरुगणोंके मूल्यवान् वचनावलीके संग्रहके द्वारा ऐसा प्रयत्न करनेकी आवश्यकता समझी गयी कि, उनके वर्तमान पाश्चात्य गुरु-मण्डलके सिद्धान्तद्वारा भारतद्वीपवासियोंका जगद्‌गुरुत्व सिद्ध हो सके। इससे सद्विचारद्वारा उनके अहंकारकी समता हो और प्राचीन आर्योंपर श्रद्धा होकर प्राचीन ऐति-हासिक तत्त्वके द्वारा कालज्ञानका रहस्य प्राप्त करनेमें उन्हें सुभीता हो, इसी लक्ष्यकी सिद्धिके हेतु जगद्‌गुरु भारतद्वीप नामक तृतीय अध्यायकी रचना की गयी है।

इतिहासके साथ कालका अन्योन्याश्रयसम्बन्ध है।

विशेषतः वर्तमान समयके लौकिक इतिहास लिखनेकी शैलीके साथ अपनी छोटी दृष्टिके अनुसार कालज्ञान कराना परमावश्यकीय माना गया है। इस कारण प्राचीन भारत-द्वीपके जगद्गुरु आर्यगण कालगणनामें कैसे सर्वज्ञ थे और कैसी दूरदर्शिता रखते थे और वे अपनी इतिहासरचनामें कैसे कालके स्वरूपको अपने नेत्रोंके सामने रखते थे, इसकी पर्यालोचना करनेके लिये चतुर्थ अध्यायकी सृष्टि की गयी है। कालकी पर्यालोचना करते समय स्वतः जगत्की सृष्टिकी ओर दृष्टि जाती है। इस कारण ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डकी रचनाके अङ्गोंका कालनिर्णय करते समय सृष्टि-प्रकरणका रहस्य भी यथासम्भव प्रकाशित करनेकी आव-श्यकता समझी गयी। वस्तुतः यदि कालका महान् स्वरूप लक्ष्यमें आवे, तो उस कालके साथ सम्बन्धयुक्त सृष्टिका यथासम्भव ज्ञान होना भी आवश्यक है। अतः भारतद्वीपके प्राचीन आर्यगण अपनी योगयुक्त बुद्धिसे अनुसन्धान करके दोनोंको कैसा समझा गये हैं, इसका स्वरूप यथासम्भव प्रदर्शितकरनेके लिये सृष्टिप्रकरण और कालचक्र नामक यह चतुर्थ अध्याय लिखा गया है।

ब्रह्माण्ड सम्बन्धी इतिवृत्तकी पर्यालोचना करते ही अपने मृत्युलोकका प्रारम्भिक इतिवृत्त जान लेनेकी स्वतः

इच्छा होना स्वाभाविक है। इस कारण ब्रह्माण्डकी सृष्टि होते समय प्रजासृष्टि कहां कहां कैसी कैसी हुई और हमारे मृत्युलोकरूपी भारतवर्षमें सृष्टि कैसे हुई, मनुष्यसृष्टिका प्रथम स्थान कौनसा है, सृष्टिके प्रारम्भमें मनुष्यसमाजके चिरस्थायी बनानेके लिये देवताओंकी ओरसे क्या क्या उपाय किये गये और इन सब गुरुतर विषयोंकी पर्यालोचना भारतद्वीपके प्राचीन आर्यगण अपने इतिहासग्रन्थोंमें किस प्रकार कर गये हैं, इसके विदितार्थ मनुष्यसृष्टिका आदि-स्थान और वर्णाश्रमबन्ध नामक पांचवें अध्यायकी रचना की गयी है। इस अध्यायके सम्बन्धसे वर्णाश्रमबन्ध नामक एक औपनिषदिक रहस्यपूर्ण चित्र इस ग्रन्थमें सन्निविष्ट कर दिया गया है, जो परिशिष्ट अंशमें प्रकाशित होगा। इसके देखनेसे और उसे देखकर अध्यायका मूल अंश और टिप्पणीका अंश अध्ययन करनेसे, वर्णाश्रमशृङ्खलाका दैवी-राज्यसे गुम्फित सम्बन्ध, उसका स्वाभाविकत्व और अलौकिक रहस्य पाठकों और दर्शकोंको भलीभांति परिज्ञात होगा।

इतिहासके साथ राजानुशासनका सम्बन्ध रहनेपर भी सबसे प्रथम और अतिघनिष्ठ सम्बन्ध समाजानुशासनका ही है। व्यष्टि व्यक्ति परस्परमें मिलकर समष्टि समाजका

गठन करते हैं। अतः चाहे देश हो, चाहे राष्ट्र हो, सबके मूलमें मनुष्यकी सामाजिक व्यवस्था ही अतिबलवती होती है। मनुष्यकी सामाजिक शृङ्खला ही व्यष्टिरूपी नर-नारी तथा मनुष्यसमाज और राष्ट्र आदिको अल्पायु बना सकती है और चिरायु भी बना सकती है। सुशृ-ङ्खला करके सुखी बना सकती है और अव्यवस्थित करके दुःखी भी बना सकती है। मनुष्यको नीचे गिरा कर पशुवत् बनाती अथवा उसे उन्नत कराती हुई आध्या-त्मिक उन्नतिकी पराकाष्ठा तक पहुंचा दे सकती है। अतः मनुष्यसमाजकी सोशियालाजी अर्थात् सामाजिक संघ-टनपर विचार करना ऐतिहासिक गवेषणामें परम आव-श्यक ही है। यही जानकर जगद्गुरु प्राचीन भारतद्वीप-वासियोंकी सामाज़िक शृंखलाका विचार करनेके निमित्त भारतवर्षका सामाजिक संघटन नामक सप्तम अध्याय निर्मित हुआ है।

मनुष्यसमाजकी उन्नतिकी कसौटी उसका धर्मज्ञान और ज्ञानगरिमा है। जिस मनुष्यजातिमें जितनी धर्मकी उन्नति हुई हो और जिस मनुष्यजातिमें जितनी ज्ञानकी उन्नति हुई हो, वह मनुष्य जाति उतनी ही उन्नत समझी जाती है। भारतद्वीपकी प्राचीन आर्यजातिमें धर्मका सर्व-

व्यापक, सर्वजीवहितकारी और पूर्णस्वरूप कैसे विकसित हुआ था और उस जगद्गुरु आर्यजातिमें ज्ञानगरिमा कैसी जाज्वल्यमान हुई थी, भारतके इस इतिवृत्तमें उसका दिग्दर्शन करानेके अर्थ भारतद्वीपका धर्म और उसकी ज्ञानगरिमा नामक आठवां अध्याय रचा गया है। इस अध्यायके सम्वन्धमें इस ग्रन्थमें ज्ञानगोलक नामक एक चित्र दिया गया है, जो जगत्के ज्ञानेच्छु विद्वानोंके लिये वहुत ही आनन्दजनक होगा। यह गोलक धीशगीताके अवलम्वनसे वनाया गया है। इसके ऊपर चिन्मय स्वस्वरूप ब्रह्मका स्थान और इसके नीचे अचित् जड़ प्रकृतिका स्थान दिखाया गया है। नीचेके आधे गोलकमें अविद्या देवीकी विलासरूपी सप्त अज्ञानभूमियां दिखाई गई हैं और ऊपरके अर्धगोलकमें विद्यादेवीकी विलासरूपी सात ज्ञानभूमियां दिखायी गयी हैं। जिसके परिशीलनसे जगत्के सर्वश्रेणीके दार्शनिकगण भारतद्वीपके प्राचीन आर्योंकी ज्ञानगरिमाका चमत्कार वहुत सुगमतासे अनुभव कर सकेंगे।

देश और कालके साथ राष्ट्रका और राष्ट्रके साथ राजानुशासनका परस्पर गुम्फित सम्वन्ध है। इस कारण प्राचीन भारतद्वीपकी जगद्गुरु आर्यजाति किस श्रेणीके राजानुशासनकी पक्षपातिनी थी और राजानुशासनके सम्वन्धमें उसका

आदर्श क्या था, इसका दिग्दर्शन करानेके लिये राजानुशासनविज्ञान नामक नववाँ अध्याय लिखनेकी आवश्यकता हुई।

चाहे मनुष्य जाति हो, या उस जातिकी कोई श्रेणी हो, चाहे राष्ट्र हो, व्यष्टिरूपी एक व्यक्तिसे लेकर समष्टिरूपी मनुष्यसमाजके सब अंगों उपाङ्गोंके साथ विद्याशिक्षाका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। विद्याशिक्षापद्धतिपर ही मनुष्यसमाज और राष्ट्रकी सब कुछ उन्नति निर्भर करती है। विद्याभ्यास ही मनुष्यजातिकी आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक उन्नति, ऐहिक अभ्युदय और पारत्रिक अभ्युदय सबका मूल है। इस कारण प्राचीन भारतद्वीपवासियोंके पूज्यपाद महर्षियोंकी प्रदर्शित शिक्षाप्रणाली किस श्रेणीकी होती थी; उसका दिग्दर्शन करानेके अर्थ प्राचीन भारतद्वीपकी शिक्षाप्रणाली नामक दसवें अध्यायकी रचना की गयी है। इस अध्यायके सम्बन्धसे 'धर्मकल्पद्रुम' नामक एक और औपनिषदिक चित्र दिया गया है। जिसके देखनेसे और धैर्यके साथ अनुशीलन करनेसे बुद्धिमान्मात्रको इस अध्यायके विषयोंका यह अनुभव हो जायगा कि, पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों द्वारा प्रदर्शित साधारणधर्मका मार्ग कैसा सर्वव्यापक और सर्वजीवहितकारी है। ऐसी धर्मशिक्षा

द्वारा पृथ्वीके सब धर्ममार्ग समानरूपसे लाभवान् हो सकते हैं।

वेदसम्मत अगणित शास्त्रोंमेंसे प्राचीन इतिहासका सम्बन्ध पुराणोंके द्वारा पाया जाता है। पुराण ग्रन्थ अनेक हैं। यथाः—महापुराण, पुराण, उपपुराण, इतिहास आदि। उनमेंसे अन्य पुराण श्रेणियोंमें देवलोककी गाथाओंका ही प्राधान्य है। केवल रामायण और महाभारत नामक दो महाग्रन्थोंमें लौकिक इतिहासकी विशेषता है। इस कारण रामायण नामक एकादश अध्याय और महाभारत नामक वारहवां अध्याय रचा गया है। जिनमें उक्त दोनों ऐतिहासिक कालोंकी घटनावली, चरित्रावली, सभ्यता आदिपर यथासम्भव प्रकाश डाला गया है।

पूर्वापर विचार कर और वर्तमान देशकालपात्रकी अवस्थाको विचारदृष्टिके सामने रखकर अभ्रान्त ऐतिहासिक तत्त्वोंके अनुशीलन करनेके निमित्त जगत्कल्याण बुद्धिसे भारतवर्षके इतिवृत्तका यह प्रथम खण्ड सर्वशक्तिमान् भगवान्की कृपासे प्रकाशित किया गया है। अनादि अनन्त कालव्यापी जगज्जननी भुवनेश्वरीकी लीलाको सम्मुख रख कर महाभारतके महायुद्धके पूर्वकालकी अवस्थाका ऐतिहासिक रहस्य यथासम्भवरूपसे इस खण्डमें विवृत करनेका

प्रयत्न किया गया है। श्रीभगवान्‌की कृपासे ही इस समय इस ग्रन्थका प्रकाशन हो सका है।

श्रीभगवान्‌की कृपापर निर्भर करके आशा की जा सकती है कि, सच्चेदिलसे इतिहासके विषयमें जो तुलनात्मक गवेषणा करना चाहते हैं उनके लिये यह पुस्तक निरापद तथा सुगम-मार्ग दिखलानेमें समर्थ होगी। भूले हुए स्वदेशप्रेमी ऐतिहासिकगण अपने देशके प्राचीन गौरवका पूर्णस्वरूप अनुभवकरके कृतकृत्य होंगे और विदेशीय ऐतिहासिक गवेषणामें सत्यमार्गका अवलम्बन कर सकेंगे। परिदृश्यमान स्थूल जगतही सब कुछ है, इन्द्रियसेवाके निमित्तही मनुष्य और मनुष्य-समाज अपना अभ्युदय चाहता है, परलोक चिन्ताकी कोई आवश्यकता नहीं है इत्यादि भ्रमोंको दूर करनेमें यह ग्रन्थ यथासम्भव सहायता प्रदान करेगा और सूक्ष्म जगतके अस्तित्व, दार्शनिकचिन्ताकी आवश्यकता और आध्यात्मिक विचारका महत्त्व प्रतिपादन करके ऐतिहासिक विद्वानोंको प्रौढ़ चिन्ता करनेका अवसर देगा। इस पुस्तकके द्वारा ऐतिहासिक जगत्‌में एक शुभ नवीन परिवर्तन होकर जगत्‌का कल्याण होगा।

यदि श्रीभगवान्‌की कृपाका लाभ इस समयके इतिहास पाठकगण उठावेंगे और इसका मनन करके इसके अन्य-

खण्डोंके प्रकाशनकी आवश्यकताका अनुभव करेंगे, तो अन्य खण्ड भी प्रकाशित किये जायँगे। यह प्रथम खण्ड कलियुगके प्रारम्भसे पहिलेकी घटनाओंका प्रकाशक है। करालकलिकालके उदय होनेके अनन्तर भारतवर्षभरकी मनुष्यंजातिकी दशा किस किस प्रकार परिवर्तित हुई, प्राचीन भारतद्वीपवासी जगत्के आदिगुरु आर्योंका प्रभाव पृथ्वीरूपी भारतवर्षके अन्य देशोंमें कैसा पड़ता रहा, हिन्दुस्थानरूपी भारतद्वीपके ज्ञानसूर्यकी ज्योति कहां कहां किस किस रूपमें पहुंची, अनादि अनन्त विराट्कालके अन्तर्गत कलियुगके पांच सहस्र वर्षोंमें सारे भारतवर्षमें और इस भारतद्वीपमें किस प्रकारकी धार्मिक क्रान्ति, सामाजिक-क्रान्ति और राजनैतिक क्रान्ति होकर वर्तमान दशामें भारत-वर्ष और भारतद्वीप पहुंचा है और इन क्रान्तियोंके परिणामसे शिक्षा पाने योग्य प्रधान प्रधान चरित्र और प्रधान प्रधान घटना-वलियां कौन कौन हैं, इत्यादि विषयोंको प्रथम खण्डके विज्ञान-को सम्मुख रखकर प्रकाशित करनेसे जगत्का उपकार होगा या नहीं, इसपर इतिहासपाठक विचार करें। भविष्यत्में यदि देशकालपात्र अनुकूल समझा जायगा और श्रीभगवान्की इच्छा होगी, तो आगेके खण्ड भी प्रकाशित हो सकेंगे।

—प्रकाशक।

ॐ तत्सत् ।

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो देवस्तस्मै सर्वात्मने नमः ॥

भारतवर्षका इतिवृत्त

पहिला अध्याय ।

ब्रह्माण्ड और भारतवर्ष ।

ब्रह्मशक्ति महामायाके अनादि अनन्त गर्भमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। उनमेंसे एक हमारा यह ब्रह्माण्ड है। सबसे पहिले हमारे ब्रह्माण्डका स्वरूप वेद और शास्त्रोंकी सहायतासे समझने योग्य है। वेद, वेदसम्मत दर्शनशास्त्र,

पुराण और सब स्मृतिशास्त्र एकवाक्य होकर ब्रह्माण्डके प्रधानतः चौदह अंशोंका वर्णन करते हैं। जैसे मनुष्यशरीरका उत्तमाङ्ग, मध्यमाङ्ग और अधोअङ्ग है और मध्यमाङ्गमें मेरुदण्ड है, ठीक वैसी ही ब्रह्माण्डकी भी बनावट है। ब्रह्माण्डके चौदह भुवनोंके नाम ये हैं। ऊपरके सात भुवन अर्थात् सात लोकोंके नाम—१ भूर्लोक, २ भुवर्लोक, ३ स्वर्लोक, ४ महर्लोक, ५ जनलोक, ६ तपोलोक और ७ सत्यलोक हैं।* नीचेके सात लोकोंके नाम—१ अतल, २ वितल, ३ सुतल, ४ तलातल, ५ रसातल, ६ महातल और ७ पाताल हैं।‡ जैसे

---

* भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २५ ॥ तत् प्रस्तारः सप्तलोकाः, तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोकः, मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः, तत्परः स्वर्लोकः पञ्चविधः, माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः, चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः, त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति ।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् ।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा ॥

—पातञ्जलयोगभाष्य ।

‡ ततोमहातलरसातलतलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि सप्तपातालानि, भूमिरियमष्टमी दक्षिणपार्श्वे चास्य (मेरोः) जम्बुः । तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढं, अण्डञ्च प्रधानस्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योतः, तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु

मनुष्यशरीरके मध्यमें मेरुदण्ड स्थित है, जो शरीरको धारण करता है, वैसे ही ब्रह्माण्डके भूलोकके कुछ नीचेसे लेकर स्वर्लोक-से कुछ ऊपरतक दैवीजगत्-सम्बन्धी दैवीपर्वत सुमेरु ब्रह्माण्डको धारण करता है। इन चौदह लोकोंमेंसे नीचेके सातलोक बिल-स्वर्ग कहाते हैं, जिनमें असुरलोग वास करते हैं। इन सातों लोकोंका भोग इन्द्रियभोगके सम्बन्धसे ऊपरके लोकोंके भोगोंसे विशेष है। आसुरी प्रकृतिके जीव उन्नत भोगकी इच्छा करनेवाले होनेपर इन आसुरी लोकोंमें जाकर भोग भोगते हैं।* ऊपरके सात लोकोंमेंसे भूर्लोक और भुवर्लोक दोनों भौमस्वर्ग कहाते

देवनिकाया असुरगन्धर्वादयः प्रतिवसन्ति, सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः । सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धाः । —पातञ्जलयोगभाष्य ।

अवनेरप्यधस्तात् सप्त भूमिवरा एकैकशो योजनायुतान्तरेणायामविस्तरेणोपक्लृप्ताः अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति ॥ ७ ॥ —विष्णुभागवत, स्कंध ५, अ० २४ ।

* एतेषु हि बिलस्वर्गेषु स्वर्गादप्यधिककामभोगैश्वर्यानन्दविभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्यानाक्रीडविहारेषु दैत्यदानवकाद्रवेया नित्यप्रमुदितानुरक्तकलत्रापत्यबन्धुसुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्ति । विष्णुभागवत, स्कं० ५, अ० २४

हैं*। ये दोनों लोक मध्यम श्रेणीके स्वर्गलोक हैं। इन्हीं दोनोंके अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, ध्रुव, नक्षत्र, पृथिवी आदि सब स्थूललोक हैं, यही सनातनधर्मके शास्त्रोंमें पाया जाता है†। इन दोनों लोकोंके ऊपरके पाँच लोक दिव्यस्वर्ग

*मेरोश्चतुर्दिशं ये तु प्रोक्ताः केसरपर्वताः ।
शीतान्ताद्या मुने तेषामतीव हि मनोरमाः ॥
लक्ष्मीविष्ण्वग्निसूर्यादिदेवानां मुनिसत्तम ।
तास्वायतनवर्षाणि जुष्टानि वरकिन्नरैः ॥
गन्धर्वयक्षरक्षांसि तथा दैतेयदानवाः ।
क्रीडन्ति तासु रम्यासु शैलद्रोणीष्वहर्निशम् ॥
भौमा ह्येते स्मृताः स्वर्गा धर्मिणामालया मुने ।
नैतेषु पापकर्माणो यान्ति जन्मशतैरपि ॥
यानि किम्पुरुषादीनि वर्षाण्यष्टौ महामुने ।
न तेषु शोको नायासो नोद्वेगः क्षुद्भयादिकम् ॥
सुस्थाः प्रजा निरातङ्काः सर्वदुःखविवर्जिताः ।
दशद्वादशवर्षाणां सहस्राणि स्थिरायुषः ॥
न तेषु वर्षते देवो भौमान्यम्भांसि तेषु वै ।
कृतत्रेतादिका नैव तेषु स्थानेषु कल्पना ॥

—विष्णुपुराण, अ० २, अं० २

† अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् ।
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ॥
सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्महीभिदा ।

कहाते हैं। इन पाँचोंमेंसे स्वर्लोक माहेन्द्रस्वर्ग भी कहाता है, महर्लोक प्राजापत्य स्वर्ग भी कहाता है और जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक ब्राह्मस्वर्ग भी कहाते हैं। इन पाँचों लोकोंमें सात्त्विक भोगकी अधिकता है और एकसे लेकर ऊपरके लोकोंमें क्रमशः उन्नतसे उन्नत महदात्माओंके रहनेका स्थान है, जिसका विस्तृत वर्णन वैदिक सप्तदर्शनोंमेंसे योगदर्शनमें किया गया है।

भौमस्वर्गके अन्तर्गत भूर्लोकमें हमारी यह पृथिवी है। भूर्लोकको शास्त्रकारोंने सात विभागोंमें विभक्त किया है। वे सात अलग अलग द्वीप कहाते हैं। उनका गठन ऐसा कहा गया है कि, प्रत्येक लोकके चारों ओर एक समुद्र है और एक एक द्वीपके चारों ओर एक एक समुद्र होनेके कारण जैसे सप्तद्वीपोंके अलग अलग नाम हैं, वैसे उनके चारों ओरके समुद्रोंके भी अलग अलग नाम हैं। ये सातों समुद्र

स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः ॥

—विष्णुभागवत, स्कन्ध ५, अध्याय २०, श्लो० ४५

एतेन हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति। यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनां ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धितम्। यन्मध्यगतो भगवाँस्तपतां पतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपति ॥२-३॥ विष्णुभागवत, स्कन्ध ५, अध्याय २१

हमारी पृथ्वीके जलमय समुद्रकी तरह नहीं हैं। ये सब वातावरणरूपी समुद्र हैं। प्याजके छिलकेकी तरह एक द्वीप-के ऊपर एक समुद्र इस प्रकार सातों द्वीप और सातों समुद्र विद्यमान हैं। इन सप्तद्वीपोंमेंसे हमारा द्वीप जम्बुद्वीप कहाता हैं, जो सातों द्वीपोंके बीचमें स्थित है। उस जम्बु-द्वीपमें नौ खण्ड अर्थात् नौ वर्ष हैं। उनमेंसे एक वर्ष हमारा भारतवर्ष है, जो मृत्युलोक कहाता है और बाकी आठ वर्ष देवलोक हैं *। इससे यही सिद्ध हुआ कि, एक ब्रह्माण्डके चौदह लोक हैं। उन चौदह लोकोंमेंसे एक लोक भूर्लोक है। उसके सात खण्ड सात द्वीप हैं। उन सात द्वीपोंमेंसे हमारा जम्बुद्वीप एक द्वीप है और जम्बुद्वीपके नौ वर्षोंमेंसे हमारा भारतवर्ष एक वर्ष है। इसी जम्बुद्वीपमें नरकलोक, पितृलोक और प्रेतलोक भी स्थित हैं। अर्थात्

* तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति।

—विष्णुभागवत, स्कन्ध ५, अ० १७

अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभिः शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति। विष्णुभागवत, स्कन्ध ५, अ० १९

एक ब्रह्माण्डका हमारा भारतवर्ष ११७६ वाँ हिस्सा है। क्योंकि जम्बुद्वीपके नौ वर्ष और नरकादि तीन लोक मिलाकर बारह खण्ड होते हैं। वे सात द्वीपोंसे गुणा करनेपर ८४ होते हैं। फिर उन्हें १४ लोकोंसे गुणा करनेसे उक्त संख्या निष्पन्न होती है। वही भारतवर्ष केवल मनुष्यपिण्डके वासोपयोगी है और बाकी सब अंश देवपिण्डके वासोपयोगी है*। देवपिण्डधारी जीव अनेक प्रकारके होते हैं, उनमें

---

*यस्मिन् (भूर्लोकान्तर्गतजम्बुद्वीपे) नववर्षाणि, एषां मध्ये इलावृत नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुः। विष्णुभागवत, स्कन्ध ५, अ० १६

भारतं प्रथमं वर्षं ततः किम्पुरुषं स्मृतम्।
हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज॥
रम्यकं चोत्तरं वर्षं तस्यैवानु हिरण्मयम्।
उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारतं तथा॥
नव साहस्रमेकैकमेतेषां द्विजसत्तम।
इलावृतं च तन्मध्ये सौवर्णो मेरुरुच्छ्रितः॥
भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालञ्च पश्चिमे।
वर्षे द्वे तु मुनिश्रेष्ठ तयोर्मध्यमिलावृतः॥

—विष्णुपुराण, अंश २, अध्याय २

यानि किम्पुरुषादीनि वर्षाण्यष्टौ महामुने।
तेषां स्वाभाविकी सिद्धिः सुखप्राया ह्ययत्नतः॥

असुरगण भी सम्मिलित हैं। तात्पर्य यह है कि, भूगोलके द्वारा जो पृथ्वी जानी जाती है, वही भारतवर्ष है और जिसको आज कल हिन्दुस्थान कहते हैं, वह आर्यावर्त अथवा भारत-द्वीप है ❀। इस सिद्धान्तके विरुद्ध जिन ऐतिहासिक खोज

विपर्ययो न तेष्वस्ति जरामृत्युभयं न च ।
धर्माधर्मौ न तेष्वास्तां नोत्तमाधममध्यमाः ॥
न तेष्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टासु सर्वदा ।
हिमाह्वं यस्य वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः ॥

विष्णुपुराण, अ० २, अं० २

❀ भरणात्प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते ।
निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद्भारतं स्मृतम् ॥
यतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यमश्चापि हि स्मृतः ॥
भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान् निबोधत ।
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ॥
आयतस्तु कुमारीतो गङ्गायाः प्रवहावधिः ।
द्वीपो ह्युपनिविष्टोऽयं म्लेच्छैरन्तेषु सर्वशः ॥
यवनाश्च किराताश्च तस्यान्ते पूर्वपश्चिमे ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः ॥

—मत्स्यपुराण, अ० ११४

तस्यर्षभोऽभवं पुत्रो मेरुदेव्यां महाद्युतिः ।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ॥
अभिषिच्य सुतं ज्येष्ठं भरतं पृथिवीपतिम् ।
ततश्च भारतं वर्षं एतल्लोकेषु गीयते॥

करनेवालोंने कल्पनाएँ की हैं, वे अशास्त्रीय कल्पनाएँ हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वर्तमान समयके जड़वादी अथवा साइण्टिस्ट विद्वानों अथवा धर्मशिक्षाविहीन नवशिक्षित व्यक्तियों अथवा दैवी-जगत्पर आस्था न रखनेवालोंको दैवीजगत्का अस्तित्व समझा देनेकी आवश्यकता है। ऐसा होनेपर उनकी चिन्ता-शक्ति आगे बढ़ सकती है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये आधुनिक

भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रातिष्ठिता वनम्।
तैरिदं भारतं वर्षं नव भागैरलंकृतम्॥
तेषां वंशप्रसूतैश्च भुक्तेयं भारती पुरा॥
कृतत्रेतादिसर्गेण युगाख्यां ह्येकसप्ततिम्।
एष स्वायम्भुवः सर्गो येनेदं पूरितं जगत्॥
वाराहे तु मुने कल्पे पूर्वमन्वन्तराधिपः॥
भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान् निशामय।
इन्द्रद्वीपः कशेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः॥
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
चत्वारि भारते वर्षे युगान्यत्र महामुने॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चान्यत्र न क्वचित्॥
अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बुद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः॥

—विष्णुपुराण, अं० २ अ० १ (–३)

साइन्ससम्बन्धी नवीन आविष्कार और गवेषणाके दो ज्वलन्त उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस समय विशेषतः युरोपके महायुद्धके अनन्तरसे युरोप और अमेरिकामें परलोकसम्बन्धी विचारों और दैवीजगत्‌के अस्तित्वके सम्बन्धमें खोज होने लगी है। उनके "साइकिक रिसर्च" अर्थात् दैवीजगत्-सम्बन्धी अनुसन्धानके कार्यकी पर्यालोचना करनेसे यह प्रतीत होगा कि, वे जब "साइकिक सर्कल" अर्थात् परलोकसम्बन्धी चक्रका अनुष्ठान करते हैं, उस समय उस चक्रके सब लोगोंको अनुभव करनेका अवसर मिलता है कि, उस चक्रमें आविर्भूत हुई परलोकगामी आत्माओंका गाना, रोना, बातचीत अन्तरसे केवल उसी व्यक्ति या उन्हीं व्यक्तियोंको सुनायी देती है, जो "साइकिक" अर्थात् इस विषयके साधक होते हैं। उनमें उक्त प्रकारसे सुनने-देखनेकी शक्ति विकसित हो जाती है। इस पाश्चात्य विद्या और अनुसन्धानकौशलकी सहायतासे दैवी जगत्‌का कुछ अस्तित्व अब साइंण्टस्ट विद्वान् भी मानने लगे हैं। यह उदाहरण कुछ सम्प्रदायगत अवश्य है। इसलिये सर्वसिद्धसिद्धान्तका एक उदाहरण और दिया जाता है, जिसको सबको मानना ही पड़ेगा। इस समय वायरलेस टेलिग्राफी, वायरलेस टेलिफोन तथा वैद्युतिक जगत्‌की अनेक क्रियाएँ यद्यपि सूक्ष्मदर्शी आस्तिक

जनके लिये सूक्ष्म दैवी जगत्का विश्वास दिलाती हैं, परन्तु जो इस समयका रेडियो यन्त्र निकला है, उसके द्वारा सूक्ष्म दैवीराज्यकी व्यापक सत्ताके अनुभव करनेमें विलम्ब नहीं लगता। सुदूर युरोपीय किसी नगरमें अथवा भारतवर्षके किसी सुदूर प्रान्तमें किसी घरमें बैठे हुए व्यक्तिका गान या कथोपकथन तत्काल काशीके घर घरमें सुनायी देने लगता है। इस दूरीके बीचमें अनेक वाधाएँ हैं। पृथ्वीकी गोलाई, पर्वतादिका आवरण, बीचके आकाशमें विरुद्धवातावरण आदि वाधाएँभी उस शब्दके विकाशको रोक नहीं सकतीं। सैकड़ों कोस दूरके शब्द ज्यों के त्यों तुरन्त ही काशीके आकाशमें प्रकाशित हो जाते हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि, सर्वव्यापकरूपसे स्थूलदेशके अन्तर्गत सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसा देश है, जिसे स्थूलदेश बाधा नहीं दे सकता। इसी प्रकार स्थूललोक और सूक्ष्मलोकका सम्बन्ध समझने योग्य है। इस विवेचनके अनुसार हमारा यह मृत्युलोक, जिसको अन्य-भाषामें 'दुनियाँ' या 'वर्ल्ड' कहते हैं और शास्त्रोंमें जिसे भारत-वर्ष कहा है, वह हमारे ब्रह्माण्डका बहुत छोटासा अंश है। अतः केवल भूगोलशास्त्र (जाग्रफी) को पढ़कर विद्वानोंको तृप्त नहीं होना चाहिये, न अपनेको सर्वज्ञ ही समझना चाहिये।

———

दूसरा अध्याय।

ब्रह्माण्डका मानचित्र।

देश और काल इन दोनोंसे इतिहासका बड़ा भारी सम्बन्ध है। वैदिक विज्ञानके अनुसार यद्यपि देश और कालको ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामायाकी साक्षात् विभूति करके माना गया है और दोनोंको विस्तारमें अनादि अनन्त माना गया है, तथापि सृष्टिके विशेष विशेष स्तरके अनुसार दोनों सादि और सान्त भी हैं। जब ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डके अन्तर्गत भारतवर्षके इतिहासका दिग्दर्शन कराया जाता है, तो ब्रह्माण्डके मानचित्रका स्वरूप सबसे पहिले जान लेनेकी आवश्यकता है।

हमारा ब्रह्माण्ड प्राचीन शास्त्रोंके अनुसार चतुर्दश-लोकोंमें विभक्त माना गया है; जिन चतुर्दश भुवनोंका नामोल्लेख पहिले अध्यायमें हो चुका है। पूज्यपाद महर्षियोंने एक

ब्रह्माण्डके साथ मनुष्यपिण्डका उदाहरण दिया है। जैसे मनुष्यकी नाभिके ऊपर और नाभिसे नीचे दो अलग अलग भाग हैं, ठीक वैसे ही एक ब्रह्माण्डके ऊद्ध्र्व और अधः दो भाग हैं। ब्रह्माण्डके ऊद्ध्र्व भागमें भूः भुवः आदि सात ऊद्ध्र्वलोक और अधोभागमें अतल वितल आदि सात अधो-लोक हैं। इन चौदह भुवनोंमेंसे भूर्लोकके अन्तर्गत हमारी पृथिवी, जिसको शास्त्रोंमें भारतवर्ष कहा है, वह एक बहुत छोटासा अंश है; जैसा कि, पहिले कहा गया है। वही मृत्युलोक और कर्मभूमि है और ब्रह्माण्डका बाकी सब अंश भोगभूमि अर्थात् देवलोक है। जैसा कि, पहिले कह चुके हैं कि, नीचेके सात लोकोंको बिलस्वर्ग कहते हैं; उन सातोंमें अलग अलग अधिकारके आसुरी सुखभोगके स्थान हैं। इन सातों अधोलोकोंमें नाना श्रेणीके असुरगण वास करते हैं, जो एक श्रेणीके देवयोनि हैं। हमारे मृत्यु-लोकसे शरीरान्तके बाद जो जीव आसुरी सुखभोगके अधि-कारी होते हैं, वे अपने अधिकारके अनुसार बिलस्वर्गके इन सातों अधोलोकोंमें सुखभोग करके आते हैं। बिलस्वर्ग-के अनुशासनके राजा अलग अलग हैं। उनकी प्रधान राज-धानी तीसरे अधोलोक और सातवें अधोलोकमें है। उनके राजा असुरराज कहाते हैं।

ऊपरके सात लोकोंकी महिमा अतिमहान् और विचित्र है। जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि, उन सातों लोकोंमेंसे भूर्लोक और भुवर्लोक भौमस्वर्ग कहाते हैं। तीसरा स्वर्लोक है। प्रथम भूर्लोकमें ही हमारा भारतवर्ष है और भूर्लोक तथा भुवर्लोकमें यावत् ग्रहनक्षत्रादि विद्यमान हैं। सूर्यमण्डलका भी स्थान भुवर्लोकमें है और ध्रुवलोकका स्थान भुवर्लोक और स्वर्लोककी सन्धिमें है *। तीसरे

---

* ध्रुव उवाच--आधारभूतं जगतः सर्वेषामुत्तमोत्तमम् ।
प्रार्थयामि प्रभो स्थानं त्वत्प्रसादादतोऽव्ययम् ॥
श्रीभगवानुवाच--त्रैलोक्यादधिके स्थाने सर्वताराग्रहाश्रयः ।
भविष्यति न सन्देहो मत्प्रसादाद्भवान् ध्रुव ॥
सूर्यात्सोमात्तथा भौमात् सोमपुत्राद्बृहस्पतेः ।
सितार्कतनयादीनां सर्वर्क्षाणां तथा ध्रुव ॥
सप्तर्षीणामशेषाणां ये च वैमानिका सुराः ।
सर्वेषामुपरि स्थानं तव दत्तं मया ध्रुव ॥

—विष्णुपुराण अं० १, अ० १२

मेरोरुभयतो मध्ये ध्रुवतारे नभः स्थिते ।
निरक्षदेशसंस्थानामुभये क्षितिजाश्रिते ॥
भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः ।
पर्यैत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम् ॥

—सूर्यसिद्धान्त, अ० १२

ऊर्द्ध्वलोकमें ही देवराज इन्द्रकी राजधानी है और अन्यान्य बड़ी बड़ी देवराजधानियाँ भी हैं। वर्तमान दृग-गणित, ज्योतिषशास्त्र और साइन्सके अनुसन्धानद्वारा जो ग्रह, उपग्रह, सूर्य और यहांतक कि, ध्रुवमण्डल तककी खोज हुई है, वे सब स्थूल लोकसमूह भूर्लोक और भुवर्लोकमें ही स्थित हैं। जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि, मनुष्यपिण्डमें जिस प्रकार मेरुदण्डका स्थान है, ठीक उसी प्रकार सुमेरु नामक दिव्य पर्वत ब्रह्माण्डमें स्थित है *। उसका विस्तार भूर्लोकसे कुछ नीचे तक है, जैसा कि, मनुष्यके शरीरमें

प्रवहानिला यथाः—
आमेघाद्भास्करात्सोमान्नक्षत्राद्ग्रहमण्डलात्।
ऋषिसप्तकनिर्देशादाध्रुवान्तं च सप्तमः॥
—तन्त्रालोकः।

* जम्बुद्वीपः समस्तानामेतेषां मध्यसंस्थितः।
तस्यापि मेरुर्मैत्रेय मध्ये कनकपर्वतः॥
—विष्णुपुराण, अं० २, अ० १

चतुराशीति साहस्रो योजनैरस्य चोच्छ्रयः।
प्रविष्टः षोडशाधस्ताद् द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि विस्तृतः॥
मूले षोडशसाहस्रो विस्तारस्तस्य सर्वशः।
भूपद्मस्यास्य शैलेशः कर्णिकारसमं स्थितः॥
—विष्णुपुराण, अं० २, अ० २

नाभिसे कुछ नीचेतक मेरुदण्ड हुआ करता है। वह ऊपरमें स्वर्लोकसे कुछ ऊपर तक है। मेरुके ऊपर अर्थात् उससे कुछ ऊपर ब्रह्मपुरी है। ऊपरके चौथे लोकको प्राजापत्य स्वर्ग कहते हैं और उसके ऊपरके अन्तिम तीन ऊर्ध्वलोकोंको ब्राह्मस्वर्ग कहते हैं; जैसा पहिले कहा गया है। इन्हीं तीनोंको ब्रह्मलोक, उपासनालोक और ज्ञानके उन्नत लोक भी कहते हैं; जिनमें उन्नत अधिकारके उपासक और उन्नत अधिकारके ज्ञानी महदात्मागण रहते हैं। योगदर्शनभाष्यमें महर्षि व्यासने इन उन्नतसे उन्नत लोकोंकी महदात्माओंके अधिकारका अच्छा चित्र खैंचा है।

इस प्रकारसे सात ऊर्द्ध्वलोकों और सात अधोलोकोंका मानचित्र है। इनमेंसे भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक, तीनोंका विस्तार अन्य लोकोंसे कुछ बड़ा है और इन तीनोंका विस्तार एक दूसरेके समान भी है, ये ही त्रिलोक कहाते हैं। इन तीनों लोकोंमेंसे भूर्लोकके साथ भारतवर्षरूपी अपने मृत्युलोकका अर्थात् इस दुनियाँका साक्षात् सम्बन्ध है। इस कारण भूर्लोकका मानचित्र अच्छी तरह समझने योग्य है। भूर्लोकमें सात द्वीप हैं उनके नाम ये हैं:—जम्बुद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाल्मलीद्वीप और पुष्कर-

द्वीप। प्याजके छिलकेके समान ये एकके ऊपर एक हैं; जैसा पहिले कहा गया है। ये द्वीप सात समुद्रोंसे घिरे हुए हैं और वे समुद्र एक दूसरेके बीच बीचमें हैं। उन सात समुद्रोंके नाम ये हैं:—लवण समुद्र, इक्षु समुद्र, सुरासमुद्र, घृतसमुद्र दधिसमुद्र, दुग्धसमुद्र और उदकसमुद्र। इस विज्ञानको समझनेके लिये यह अनुभव करना उचित है कि, हमारा भारतवर्ष जिस जम्बुद्वीपमें है, उसके चारों ओरके आकाशमें लवण समुद्र है। उसके चारों ओर प्लक्षद्वीप है। उसके चारों ओर इक्षु समुद्र है। इसी प्रकार सप्त अन्तरीक्षरूपी पृथक् पृथक् उपादानोंके पृथक् पृथक् समुद्रों द्वारा घिरा हुआ सप्तद्वीपमय भूर्लोक स्थित है। * शङ्कासमाधानकेलिये कहा जाता है कि,

---

* जम्बुद्वीपः प्लक्षद्वीपः शाल्मलीद्वीपसंज्ञकः।
कुशद्वीपः क्रौञ्चद्वीपः शाकद्वीपश्च पुष्करः॥
तेषाञ्च परिमाणं तु द्विगुणं चोत्तरोत्तरम्।
समन्ततश्चोपक्लृप्तं बहिर्भागक्रमेण च॥
क्षारोदेक्षुरसोदौ च सुरोदश्च घृतोदकः।
क्षीरोदो दधिमण्डोदः शुद्धोदश्चेति ते स्मृताः॥
—देवीभागवत, स्कं० ८ अ० ४

द्वीपात्तु द्विगुणो द्वीपो जम्बुप्लक्षोऽथ शाल्मलिः।
कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करद्वीप एव च॥
लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलाब्धिभिः।

ब्रह्माण्डके विराट् देहका सुमेरुपर्वत हमारे इस पृथ्वीके हिमालयपर्वत विन्ध्याचल आदिकी तरह स्थूल पर्वत नहीं है, वह दैवीपर्वत है। जैसे मनुष्यशरीरका मेरुदण्ड मनुष्य-शरीरको धारण किये रहता है, जैसे पृथ्वीके बड़े बड़े पर्वतसमूह पृथ्वीको दृढ़ बनाये रहते हैं, ठीक वैसे ही दैवीपर्वत सुमेरु अपनी सूक्ष्म अलौकिक दृढ़ शक्तिसे ब्रह्माण्डको धारण किया करता है। वह ब्रह्माण्डको दृढ़ रखता है और ब्रह्माण्डके स्थूल ग्रहसमूह उसकी शक्तिरज्जुमें बँधकर घूमा करते हैं। *

द्विगुणैर्द्विगुणैर्वृद्ध्या सर्वतः परिवेष्टिताः ॥

—मार्कण्डेयपुराण, अ० ५४

जम्बुप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो द्विज ।
कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः ॥
एते द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्तसप्तभिरावृताः ।
लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलैः समम् ॥

—विष्णुपुराण, अं० २ अ० २

* मेरुस्तु शुशुभे दिव्यो राजवत् स तु वेष्टितः ।
आदित्यतरुणाभासो विधूम इति पावकः ॥
विस्ताराद्द्विगुणश्चास्य परीणाहः समन्ततः ।
स पर्वतो महादिव्यो दिव्यौषधिसमन्वितः ॥
नानावर्णैः समः पार्श्वैः प्रजापतिगुणान्वितः ।
नाभीबन्धनसम्भूतो ब्रह्माण्डेऽव्यक्तजन्मनः ॥

इसी विचारके अनुसार यह सिद्ध है कि, इन सातों द्वीपोंके सात समुद्र जलमय नहीं हैं, वे वायुमय समुद्र हैं। वेदान्तके पञ्चीकरणका रहस्य जो कोई समझते हैं, वे जानते हैं कि, जिस लोकमें पृथ्वीतत्त्वकी प्रधानता है, जैसा कि, हमारा पृथ्वीलोक है, उसके वायु और जिस लोकमें अग्नितत्त्व प्रधान है, जैसे स्वर्गादिलोक, उनके वायुओंमें पड़ा ही अन्तर होगा। इसी प्रकार वायुके अनेक भेद हैं। हमारी पृथ्वीमें भी वायुयानसे जब मनुष्य आकाशमें चढ़ता रहता है, तब दस पाँच कोस ऊपर जानेपर ही वह वहाँका वायुमण्डल

पर्वतः श्वेतवर्णस्तु ब्राह्मण्यं तस्य तेन वै।
पीतश्च दक्षिणेनासौ तेन वैश्यत्वमिष्यते॥
भृङ्गिपत्रनिभश्चैव पश्चिमेन समन्वितः।
तेनास्य शूद्रता सिद्धा मेरोर्नामार्थकर्मतः॥
पार्श्वमुत्तरतस्तस्य रक्तवर्णः स्वभावतः।
तेनास्य क्षत्रभावः स्यादिति वर्णाः प्रकीर्तिताः॥

—मत्स्यपुराण, अ० ११३

मध्योर्ध्वाधः समुद्वृत्तशरावचतुरस्रकः।

'समुद्वृत्त' इति। सम्यगष्टाश्रतापत्तिपूर्वं ऊर्ध्ववृत्तः, तेनाधो ब्रह्मभागे चतुरस्रो मध्ये विष्णुभागेऽष्टास्रः रुद्रभागे च वृत्त ऊर्ध्वे मस्तके च शरावाकृतिरित्यर्थः।

तन्त्रालोकः, अष्टमाह्निकम्।

मनुष्यकी उपयोगितासे बाहरका पाता है। इसी प्रकार जब हमारे ही वातावरणमें इतना भेद है, तो नाना देवलोकोंके वातावरणमें बहुत अन्तर होगा, इसमें सन्देह ही क्या है? हमारे भारतवर्षके वायुमण्डलके साथ देवलोकके वायुमण्डलका भेद है ही, किन्तु उक्त सातों द्वीपोंके वायुमण्डलमें भी भेद है। उन अलग अलग वायुमण्डलरूपी समुद्रोंके अलग अलग उपादानको समाधिबुद्धिसे पूज्यपाद महर्षियोंने देखकर इन सात समुद्रोंके नामोंकी कल्पना की है और जैसे सुमेरु पर्वतको सोनेका पर्वत बताया है, वैसा ही इन सातों समुद्रोंका अलग अलग रूपसे नामकरण किया है।

भूर्लोकके सप्तद्वीपोंमेंसे जम्बुद्वीपमें नौ अलग अलग वर्ष हैं। उनके नाम ये हैं:—भारतवर्ष, किम्पुरुषवर्ष, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, हिरण्मयवर्ष, उत्तरकुरुवर्ष, इलावृतवर्ष, भद्राश्ववर्ष और केतुमालवर्ष। भारतवर्ष जम्बुद्वीपमें दक्षिणकी ओर स्थित है। इसी प्रकारसे मेरुको वेष्टन करके और वर्ष भी स्थित हैं। इलावृत बीचमें स्थित है, जिसमें मेरुपर्वत खड़ा है। भारतवर्षके पुनः नौ विभाग शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। उनके नाम इस समय एशिया, अफ्रिका, अमेरिका आदि कुछ भी हों, प्राचीन कालमें उस सब भूभागके विभागोंके नाम इस प्रकार थे:—इन्द्रद्वीप, कशेरुमान, ताम्रवर्ण, गभ-

स्तिमान, नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व, वारुण और आर्यावर्त; जिसको शास्त्रोंमें केवल 'यह भूमि' कहा है। क्योंकि इसी भूमिमें रहकर पूज्यपाद महर्षियोंने जगत्के पथप्रदर्शकका कार्य आरम्भ किया था। स्थानान्तरमें इसको भारतद्वीप भी कहा है। * इसमें शङ्का यह हो सकती है कि, शास्त्रोंमें यदि हमारी मृत्युलोकरूपी पृथ्वीको भारतवर्ष कहा है, तो पुनः हिन्दुस्थानको भारतवर्ष अथवा भारतद्वीप क्यों कहा है? इसका स्वतन्त्र नाम क्यों नहीं दिया? इस श्रेणीकी शङ्काओंका सरल समाधान यह है कि, जिस प्रकार चतुर्दश-भुवनोंमेंसे भूर्लोक एक भुवन है और भूर्लोकका भारतवर्ष एक-चौरासीवाँ हिस्सा है; तो भी शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर

* मेर्वधो लवणाब्ध्यन्तं जम्बुद्वीपः समन्ततः।
लक्षमात्रः स नवधा जातो मर्यादपर्वतैः॥
तत्रैव दक्षिणे मेरोर्हिमवान् यस्य दक्षिणे।
भारतं नवसाहस्रं चापवत्कर्मभोगभूः॥
भारते नवखण्डञ्च सामुद्रेणाम्भसात्र च।
स्थलं पञ्चशती तद्वज्जलं चेति विभज्यते॥

'सामुद्रेणाम्भसा' इति। अर्थादष्टधाप्रसूतेन, तथात्वेनैव नव-धात्वस्य सम्पत्तेः। यथा हि जम्बुद्वीपः पर्वतैरष्टाभि विभक्तो नवधा जातः तथैतदपि समुद्रैः, किन्तु एते पूर्वापरायता एव सर्वे इति।
तन्त्रालोकः, अष्टमाह्निकम्।

हमारी भारतवर्षरूपी पृथ्वीको भूलोक कहके अभिहित किया है। इसी प्रकार यद्यपि भारतवर्ष समग्र मृत्युलोकका ही नाम है, परन्तु मृत्युलोकका शिरोभाग होनेके कारण हिन्दुस्थानको ही भारतवर्ष कहते हैं और शास्त्रोंमें जहाँ मृत्युलोकके नौ खण्डोंके अलग अलग नाम गिनाये हैं, वहाँ आठ स्वतन्त्र स्वतन्त्र नाम कहे हैं, किन्तु नवमका कोई स्वतन्त्र नाम न देकर मूल नामसे ही उसकी महिमा स्थापन की है*।

चतुर्दशभुवनका मानचित्र चित्तके सम्मुख रखकर विचार करनेके लिये यही इंगित किया जा सकता है कि, समग्र चतुर्दश भुवनोंमेंसे एक छोटासा अंश भारतवर्ष अर्थात् हमारी पृथिवी है, जिसको मृत्युलोक कहते हैं और जिसमें मनुष्य वास करते हैं। बाकी सब भुवन, बाकी सब लोक और बाकी सब वर्ष देवलोक हैं और उनमें किसी न किसी प्रकारके देवशरीरधारी जीव वास करते हैं। मनुष्यशरीरमें और देवशरीरमें बहुत ही पृथकता है। मनुष्यशरीरका प्रधान उपादान पृथिवीतत्त्व है और देवशरीर अनेक प्रकारके होने-पर भी उनका उपादान तैजस है। इस कारण मनुष्यगण

* अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत्।
विष्णुभागवत, स्कं० ५ अ० १

अपनी साधारण दृष्टिसे देवशरीरोंका दर्शन,नहीं कर सकते। यदि भोग-विचारसे ब्रह्माण्डके जीवशरीरोंका विचार किया जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि, उन्नत जीवशरीरके चार भेद हैं। यथाः—दैवीशरीर, नारकीयशरीर, प्रेतशरीर और मनुष्यशरीर। नहीं तो, वस्तुतः पिण्ड तीन ही होते हैं। यथाः-देवपिण्ड, मानवपिण्ड और सहजपिण्ड।* सहज-पिण्ड चार प्रकारके हैं। यथाः—उद्भिज्जशरीर, स्वेदजशरीर, अण्डजशरीर और जरायुजशरीर। इन चतुर्विधभूतसंघोंकी स्थिति हमारे मृत्युलोकमें तो है ही, किन्तु देवलोकमें भी है। चतुर्विध भूतसंघ सहजपिण्डके अन्तर्गत हैं और प्रेत-पिण्ड, नारकीयपिण्ड तथा असुरपिण्ड,देवपिण्डके अन्तर्गत हैं। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि, मनुष्यशरीर कर्मभूमि भारत-वर्षमें ही,उत्पन्न होता है और मनुष्यशरीरमें ही कर्मभोगके साथ ही साथ सदसत्-प्रारब्ध संग्रह करनेका उत्तम अव-सर मिलता है। भारतवर्षके चारों ओर पृथिवीसे लेकर अन्तरिक्षमें कुछ दूरतक प्रेतलोकका स्थान है। प्रेतलोकमें कुछ दिनोंके लिये ऐसे जीवोंको स्थान मिलता है, जो मृत्यु-के अनन्तर वासनाजालमें बँधे हुए जकड़े रहते हैं। नरक-लोकका स्थान भारतवर्षके नीचे और लवण समुद्रके तीर-

*तीनों पिण्डोंका विषय दैवीमीमांसादर्शनके उत्पत्तिपादमें द्रष्टव्य है।

पर माना गया है। उसके पास ही भगवान् यम-धर्मराज-की राजधानी है, जिसको पितृलोक कहते हैं। भगवान् यमधर्मराज मृतात्माओंके सदसत्-कर्मोंके अनुसार उनको नाना लोकोंमें भोगके लिये भेजते हैं। नाना प्रकारके नरक-लोक भगवान् यमधर्मराजके अधीन कारागार हैं। जैसे राजधानियोंमें कारागार (जेल) रहते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्डमें नाना श्रेणीके नरकलोक, जो पितृलोकके पास ही भूर्लोकमें स्थित हैं, वे जीवोंके असत्-कर्मोंके भोग भोगानेके लोक हैं। विभिन्न नरकलोकोंके अलग अलग नाम भी शास्त्रोंमें निर्दिष्ट हैं। नरकलोकोंकी सीमापर ही लवण-समुद्र है, जो जम्बुद्वीपके चारों ओर है। यह लवणसमुद्र हमारी दुनियाँ-के चारों ओरका जलमय समुद्र नहीं है, जो पृथ्वी ग्रहका एक अंश है;यह लवणसमुद्र जम्बुद्वीपके चारों ओरका विशिष्ट वातावरणरूपी समुद्र है, जिससे जम्बुद्वीप घिरा हुआ है।

पदार्थविद्यासेवी सज्जनोंके विचारमें सहायता देनेके अर्थ ब्रह्माण्डके मानचित्रके दो चार विषय अनुशीलन करने योग्य हैं। शास्त्रोंमें जो मेरुपर्वतका वर्णन आया है, वह स्थूल-पर्वत नहीं है;वह सूक्ष्म शक्तिमय पर्वत है। जैसे, मनुष्यके शरीरका मेरुदण्ड मनुष्यशरीरको धारण करता है, वैसे ही स्थूलसूक्ष्मात्मक ब्रह्माण्डको दैवीपर्वत मेरु धारण किया

करता है। दूसरी ओर स्थूल ग्रह-उपग्रहसमूह सूक्ष्म दैवी-राज्यको कुछ वाधा नहीं दे सकते। वे अपने अपने आवर्त-पर घूमते हुए अपनी अपनी नियमित शक्तिसे कार्य करते रहते हैं। परन्तु शास्त्रोंका यह सिद्धान्त है कि, स्थूल ग्रह-उपग्रह आदिकी स्थिति प्रधानतः भूः और भुवः इन दोनों लोकोंमें ही है। केवल ध्रुवलोककी स्थिति भुवः और स्वर्लोक-की सन्धिमें है।* सब सूक्ष्म दैवी लोकोंतक इन स्थूल-लोकोंकी गति और स्थिति नहीं है। जिस प्रकार भारतवर्षके लोग अन्य दैवी वर्षोंमें नहीं जा सकते, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्डके अनेक अधिकारके अनेक लोक हैं; जिन सबमें सबकी गति नहीं हो सकती। सबसे ऊपरके तीन लोक तो इतने उन्नत हैं, जहाँ उन्नत श्रेणीके देवता भी नहीं पहुँच सकते। इस विशाल और अलौकिक दैवी ब्रह्माण्डके मान-चित्रको ज्ञाननेत्रके सम्मुख रखकर हमारे मृत्युलोकरूपी भारतवर्षका मानचित्र विचारने योग्य है और तदनन्तर इसका इतिहास मनन करने योग्य है।

—:*:—

* सर्वेषामुत्तरे मेरुः लोकालोकस्य दक्षिणे॥
त्रीन् लोकान् प्रति सामान्यात्सूर्यो यात्यविलम्बतः।
अचिरात्तु प्रकाशेन अवनात्तु रविः स्मृतः॥
—मत्स्यपुराण, अ० ११४-१२४

तीसरा अध्याय ।

जगद्गुरु भारतद्वीप ।

भारतवर्षरूपी मृत्युलोकके अन्तर्गत भारतद्वीपरूपी मोक्षभूमि (हिन्दुस्थान) में ही जिस प्रकार आदि मानव-

ANTIQUITY OF CIVILISATION.

"No nation on earth can vie with the Hindus in respect of the antiquity of their civilisation and the antiquity of their religion," says Count Bjornstjerna; to which H. R. Hall adds :

"India must have been one of the earliest centres of human civilisation."

"If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that Nature can bestow in some parts a very

गण आदि सृष्टिमें उत्पन्न हुए थे, उसी प्रकार भारतखण्डके अग्रजन्मा ब्राह्मणगण ही आदि-गुरुपदवाच्य हो सकते हैं और मानवसभ्यताका आदिगुरु भारतद्वीप ही है।

---

paradise on earth—I should point to India." says Max Muller. "If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life and found solutions on some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India. And if I were to ask myself from what literature we, here in Europe, who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of the Greeks and Romans and of one Semitic race—the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact, more truly humane, a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life.............. again I should point to India."

मनुष्योंकी आदिसृष्टि कल्पान्तरमें भारतद्वीपरूपी हिन्दुस्थानमें ही होती है और भारतद्वीपके अग्रजन्मा ब्राह्मणगण ही मनुष्यजातिके आदिपथप्रदर्शक जगद्गुरुरूप हैं।

"When Greece and Italy—those cradles of European civilisation nursed only the tenets of the wilderness, India was the seat of wealth and grandeur" says, Thorton, the famous writer of the "History of the British Empire in India."

CRADLE OF CIVILISATION.

"It is there (India) we must seek not only for the cradle of the Brahmin religion, but for the cradle of high civilisation of the Hindus, which gradually extended itself in the West to Ethiopia, to Egypt, to Phoenecia, in the East to Siam, to China, and to Japan, in the South to Ceylon, to Java, and to Sumatra, in the north to Persia, to caldæa and to Colchis, whence it came to Greece and to Rome and at length to the remote abode of the Hyperboreans" says, Count Bjornstjerna, in the "Theogony of the Hindus."

इसके बहुत कुछ प्रमाण सनातनधर्मियोंके धार्मिक साहित्यमें मिलते हैं, जिनका वर्णन पहिले आ चुका है। परन्तु यह

"They (Hindus) could not have entered from the West, because it is clear that the people who lived in that direction were descended from these very Aryans cf India. Nor could the Aryans have entered India from the North or North-West, because we have no proof from history or philosophy that there existed any civilized nation with a language and religion resembling theirs which could have issued from either of the quarters at an early period and created Indo-Aryan civilisation," observes Prof. Muir.

The German statesman Dr. Margaret Stigeman says: "We the people in the West have seen the fall of our civilisation in the Great War. There must be something wrong in a culture, which was unable to avoid the catastrophe. Our philosophy and culture and our so-called spiritual works have had their very foundations shattered and we find oursleves grasping on the edge of an abyss.

सिद्धान्त सर्ववादिसम्मत है; क्योंकि पृथ्वीभरके आधुनिक विद्वज्जन भी इस विषयमें एकमत हैं ।

आर्यजाति और आर्यसभ्यताका केन्द्र भारतवर्ष है ।

The sciences, the arts, and even philosophical speculations, in fact, all that our civilisation has been able to offer have failed to satisfy our wants. We need a new foundation. We turn our eyes to the East (India) where the Sun rises, longing for wisdom that would bring our various tendencies to the unification of right mental attitude and that would thus tune our discordant diversities into 'harmonious oneness."

INDIA : A SOURCE OF KNOWLEDGE.

"India is the source from which not only the rest of Asia, but the whole western world derive their knowledge and their religion," says Prof. Heeren in his Historical Researches; to which Sir John Woodroff adds : "The uniqueness of India consists in her religion of eternity. Indian doctrine is not onesided, but has a time-religion also. The glory of

इसको प्राचीन और नवीन इतिहासकोविद सब एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं। प्रोफेसर मैक्समूलर आदि युरोपीय विद्वानोंकी यह सम्मति है कि, सभ्यताके विचारसे हिन्दु-

India is that of a high spirituality, a unique genius for grasping and expounding the realities behind the phenomenal world and the innermost meanings of life."

HINDU CULTURE.

The eminent French scholar Cruzer says: "If there is a country on earth which can justly claim the honour of having been the cradle of the human race or at least the scene of a primitive civilisation, the successive developments of which carried into all parts of the ancient world and even beyond, the blessings of knowledge which is the second life of man—that country assuredly is India."

"Hindus have made a language, a literature and a religion of rare stateliness" says Dr. W. W. Hunter.

Dr. M. Mathenson adds: 'There is no intellectual truth in the West which has

स्थानका गौरव सर्वोपरि है । सर जान वुडरफ़, प्रोफेसर हीरेन आदि विद्वान् कहते हैं कि, धार्मिक तत्त्वके अनुसन्धानमें भारतवर्ष ही जगद्गुरु है । जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक स्लीगैल,

not its earliest discussion in the East and there is no modern solution of that problem, which will not be found anticipated in the East."

HINDU THEOLOGY.

The German Philosopher, Frederick Schlegel says: "Indians possessed a knowledge of the true God." Prof. Max Muller repeats: "The rest and peace which are required for deep thought or for accurate observation of the movements of the soul were more easily found in the silent forests of India than in the noisy streets of so-called centres of civilisation." The great German philosopher Schopenhaur charmed with the beautiies of Upanishads remarks: "In the whole world, there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads. It has been the solace of my life: it will be the solace of my death."

शोपेनहार आदिकी सम्मति यह है कि, ईश्वरतत्त्वके प्रचार करनेमें भारतवर्षके ग्रन्थ ही सर्वोपरि हैं। फ्रान्सके प्रोफेसर क्रूजर, प्रोफेसर हाल, डाक्टर हण्टर आदि विद्वान् एक-

To this Countess of Jerisay adds: "The doctrines of the Upanishads satisfy the utmost longings of the mind. The acute logic of the ancient Rishis has raised a net work of arguments to support the huge fabric of Hindu thought. The doctrine of Karma offers the simplest and most reasonable answer to the obvious inequalities and striking controls in this visible world, of happiness and suffering."

HINDU PHILOSOPHY.

The Indian philosophical systems are perfect, original and divided in seven schools. "All of them are based on unchallenged truths of their own," says Prof. Davis in his "Hindu Philosophy." "The Philosophy of Kapila" he observes, "Is the first recorded system of Philosophy in the world. In India philosophy is practical and inseparably connect-

वाक्य होकर घोषित करते हैं कि, भारतकी सभ्यता और शिक्षा जगद्गुरु पद्वीके योग्य है । प्रोफेसर डेविंस, प्रोफेसर मैक्समूलर, प्रोफेसर थार्नटन आदि भारतके दर्शनशास्त्रों-

---

ted with religion. In Europe, it is theoretical and speculative,"

GERM THEORY AND HINDUS.

The Germ theory of the modern science was well known to the sages of India. All of their scriptures as well as the Vedic philosophical systems deal with the "Swedaja" —kingdom of Creation, *i. e.*, the Germ-kingdom.

The great scientist employed by the Imperial Government of India, Mr. Hankins says: "I have discovered that the water of the Ganges is hostile to the growth of the cholera microbe, not only owing to the absence of food material, but owing to the actual presence of an antiseptic that has the power of destroying this microbe. How did the Hindu sages find out the waters' secret in those ancient ages? Had

को आदि और सर्वोपरि बताते हैं। डाक्टर हैंकिन कहते हैं कि, जर्मथियोरी (कृमिविज्ञान) भारतवासी पहिलेसे जानते थे। संस्कृतभाषाकी पूर्णता, संस्कृतव्याकरणकी

the germ-scientists existed then? We do not know. We know that they had a civilisation long before we emerged from savagery."

SANSKRIT LITERATURE.

Max Muller adds: "Whatever sphere of human mind you may select for your special study, whether it be language, or religion, or mythology, or philosophy, whether it be laws and customs, primitive arts and primitive sciences every where you have to go to India, whether you like it or not, because some of the valuable and most instructive materials in the history of man are treasured up in India only."

Sir William Jones further adds: "It (Sanskrit) is of a wonderful structure, more perfect than the Greek, more

पूर्णता, देवनागरी अक्षरोंकी पूर्णता, अंकशास्त्रका आविष्कार, रेखागणित, ज्यामिति, वीजगणित, फलितज्योतिष, चिकित्साशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि विद्याओंके प्रथम

---

copious than the Latin, and more exquisitely refined than either." While, Prof. Max-Muller declares it to be "the most wonderful language" and adds: "We find Sanskrit as a perfect literary language. That the whole of Sanskrit language and the whole of Sanskrit literature—mind, a literature extending over three thousand years and larger than the ancient literature of either Greece or Rome, is more, I believe, than the whole classical literature of Greece and Italy put together." Moreover, he says: "What then is it that gives to Sanskrit its claim on our attention, and its supreme importance in the eyes of the historian?" "First of all its antiquity,—for we know Sanskrit at an earlier period than the Greek. But, what is far more important than its mere chronological antiquity is

आविष्कर्ता भारतवासी हैं। इसको अनेक पश्चिमी विद्वा-
नोंने ऊर्द्ध्ववाहु होकर अपने अपने ग्रंथोंमें कहा है। जिसके
कुछ प्रमाण नीचे दिये गये हैं। दूसरी ओर शिल्पके आवि-

(the) antique state of (its) preservation" "Nor is that all; for even that Proto-Aryan language — — — is clearly the result of a long, long process of thought. This is what I call history in the true sense of the word, something really worth knowing."

THE VEDAS.

Besides, as to the real worth and historical value of the vast Vedic Literature, Max Muller states: "The Veda has a two-fold interest. It belongs to the history of the world and to the history of India. In the history of the world, the Veda fills a gap which no literary work in any other language could fill. It carries us back to times of which we have no records anywhere, and gives us the very words of a generation of men, of whom

ब्कारके विषयमें स्थापत्यशिल्प (इञ्जिनियरिंग), तन्तुवाय-शिल्प, कागज़निर्माणशिल्प, लोहा सोना आदि धातुओंके व्यवहारका शिल्प, युद्धके जहाज आदि निर्माणका शिल्प,

---

otherwise we could form but the vaguest estimate by means of conjectures and inferences. As long as man continues to take an interest in the history of his race, and as long as we collect in libraries and museums the relics of former ages, the first place in that long row of books which contains the records of the Aryan branch of mankind, will belong for ever to the Rig-veda."

And again he says, "Sanskrit Literature, if studied only in the right spirit, is full of human interests, full of lessons which even Greek could never teach us."

A Pictet observes that Sanskrit is "the most beautiful perhaps of all languages.—the language already perfected to a very high degree." Other erudite scholars also write as follows in respect of

वनस्पति आदि के व्यवहारका शिल्प, इन सबके आविष्कर्ता भारतवासी ही थे। इस विषयमें युरोप और अमेरिकाके

Sanskrit: Prof. H. H. Wilson says, "It is impossible to conceive a language so beautifully musical, or so magnificently grand, as that which contains many of the verses of Bhavabhuti and Kalidas."

Prof. Whitney observes: "Its (Sanskrit's) exceeding age, its remarkable conservation of primitive material and forms, its unequalled transparency of structure, give it an indisputable right to the first place among the tongues of the Indo-European family."

And as regards the vast extent of Sanskrit Literature, Max-Muller writes: "It is difficult to give an idea of the enormous extent and variety of that literature." While, Sir William Jones, says, "Wherever we direct our attention to Hindu Literature, the notion of infinity presents itself; and surely, the longest life would not suffice for a single

सब विद्वान् एकमत ही हैं। अतः भारतके आदिजगद्गुरु होनेमें प्राचीन और नवीन इतिहास एकवाक्य है।

perusal of works, that rise and swell protuberant like the Himalayas, above the bulkiest compositions of every land, beyond the confines of India."

In the same way, Sir. Monier Williams remarks : "An adequate idea of the luxuriance of Sanskrit Literature can with difficulty be conveyed to Occidental scholars. In India, Literature, like the whole face of Nature, is on a gigantic scale."

"There is in fact, an immensity of bulk about this (Sanskrit Poetry), as about every other department of Sanskrit Literature, which to a European mind, accustomed to a more limited horizon, is absolutely bewildering."

"The intellectual life" says Prof. Weber "was so stirring that even kings, queens and princes took active part in

पूज्यपाद महर्षियोंका यह सिद्धान्त है कि, प्रकृतिके वैभवोंकी नकल जिस विद्याके द्वारा की जाती है, उसको शिल्प (आर्ट) कहते हैं। जिस विद्याके द्वारा सूक्ष्म प्रकृति-

---

poetical composition, not to speak of other persons. This, accounts still further for the superiority maintained and exercised by the Brahmans over the rest of the people."

"Sanskrit is the greatest language in the world" says Prof. Max Muller. "Sanskrit is more perfect and copious than Greek and Latin," adds Prof. Bopp in the "Edinburgh Review." Sanskrit is the origin of modern languages of Europe," observes—M. Dubois. "In point of fact, Zend is derived from Sanskrit" writes Prof. Heeren, in his "Historical Researches." "Sanskrit was at one time the only language of the world" adds Prof. Bopp. "All languages of the Indo-European Family

का रहस्य प्रकाशित हो और जिस विद्याके प्रभावसे प्रकृतिके विशेष विशेष अंगोंको अपने अधीन लाकर उनसे काम लिया जाय उसको पदार्थविद्या (साइन्स) कहते हैं

---

are derived from Sanskrit" says Dr. Ballantyne.

"Justly it is called Sanskrit, *i.e.*, perfect or finished' concludes Schlegel in his "History of Literature."

SANSKRIT GRAMMAR.

"Panini is now universally admitted for his shortest and fullest Grammar in the world. It was in philosophy as well as in Grammar that the speculative Hindu mind attained the highest pitch of its marvellous fertility" Says Prof. Weber. "No nation but the Hindu" Prof. Wilson adds: "has been yet able to discover such a perfect system of phonetics." Prof. Tompson remarks: "The creation of consonants in Sanskrit is a unique example of human genius." Prof. Max Muller adds: "An entire language based on a few roots is a truth not known to

और जिस विद्याके द्वारा ज्ञानरूपी तीसरा नेत्र खुल जाता है और जो विद्या प्रकृतिराज्यके परपारतक पहुँचा देती है, उसको दर्शन (फिलासफी) कहते हैं। इन तीनों विद्याओंका

Europe before the 16th century (A. D.) In India the Brahmans knew it long, long ago." Prof. Macdonell says : "We (Europeans) are still behind in making even our alphabet a perfect one."

HINDU MATHEMATICS.

Dr. Morgan says: "Indian arithmetic is that which we now use." Dr. Von Schrader opines that Pythagoras learnt his Mathematics from India. Sir John Woodroff says: "Geometry was studied by the Hindus from the date of Sulva Sutras of Baudhayana. Pythagoras learnt his Geometry in India."

Prof. Cajori says: "The Indians were the real inventors of Algebra. From India, the science went to Arabia and thence to Europe.' To this Colebrooke adds: "Mahamad Ibu Musa first published Algebra among the Arabs. He had com-

भारतवर्षमें पूर्ण विकास हुआ था। इसको चिन्ताशील सब देशके विद्वान् स्वीकार करते हैं। वैदिकसाहित्य और पौराणिकसाहित्यका अनुशीलन करनेसे तुरन्त ही प्रमाणित

piled his work from the Indian Astronomical works during the rule of Al Mansur (749-776 A. D.) "Hindus are superior to the Greeks in the perfection of Algebra," says Elphinstone.

HINDU ASTRONOMY AND ASTROLOGY.

Bailly in his "History of Astronomy" says: "India attained great distinction in Geometry and Astronomy (3,000 B.C.)

Colebrooke notes the following in connection with the Hindu Astronomy :—

"In the first of their progress, all other nations were in still greater ignorance. It shows a knowledge of discoveries not made even in Europe until recently."

"Two extraordinary points of the astronomy are: (1) Procession of the equinoxes: in it they are more correct than Ptolemy; (2) Diurnal revolutions of the Earth on its axis." Prof. Playfair in his

हो जायगा कि, मनुष्यजीवनमें यथेष्ट सुखप्राप्ति और मनुष्य-समाजकी उच्च सभ्यताकी सुरक्षाके लिये जितने शिल्पकी आवश्यकता थी, वह सब प्राचीनकालमें भारतद्वीपमें अच्छी

'Memoir on the Hindu Trigonometry' says: "Hindus anticipated modern Trigonometry divising the sines and versed sines unknown to the Greeks." Wilkinson says in his translation of Bhaskara Gola-dhyaya : "Bhaskara (114 A. D.) had discovered 500 years before Newton, the principle of the differential calculus and its application to astronomical problems and computations."

Brahmagupta (628 A. D.) says : "All heavy things fall to the ground by the law of Nature. It is the nature of the earth to attract and keep things." To this Varahamihir adds : "The earth attracts that which is upon her." Arya-bhutta holds :—"The earth revolves, the heaven does not turn round as appears to our eyes."

"Hindus know the procession of the

तरह हुआ था। जब अङ्कशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र संगीतशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि पदार्थविद्या अर्थात् साइन्स-सम्बधी शास्त्रोंका आविष्कर्ता भारतद्वीप ही है, तब कौन

---

equinoxes and the heliacal rising of Canopus. It is round (Brahmanda) the mundane egg or ball. The rotundity of the earth appears from the circular shadow cast on the Moon.—Mahabharata. Bhaskaracharya compares the earth to a "Kadamba flower" says Bhaskara. "The Sun is the upholder of the earth" he adds : "The earth moves though it appears still."—Aryabhutta.

Bhaskara says : "When it is morning at Lanka, it is midnight at Rome."

"The moon is lighted by the Sun."—Rigveda.

HINDU MEDICAL SCIENCE.

As regards medicine, Dr. Wise says : "It is to the Hindus we owe the first system of medicine." Dr. Wilson says : "Hindu knowledge of medicine was very extensive. In fact, they gave early

नहीं स्वीकार करेगा कि, साइन्सके भी आविष्कर्ता आदि-
गुरु ब्राह्मण ही थे और अन्तर्जगत् सम्बन्धी दर्शनशास्त्रोंकी
पूर्णता तो भारतद्वीपमें ही हुई थी और अब भी विद्यमान

lessons to Europe." Dr. Royle shows after an exhaustive inquiry that much of the Materia Medica of Dioscoride (1st Century A. D.) was taken from the ancient (Hindu) Materia Medica. On Susruta's Surgery, he observes : "It will, no doubt, excite surprise to find among the operations of these eminent surgeons, those of lithotomy and the extraction of the *fœtus ex utera* and that no less than 127 surgical instruments are described in their works."

Concluding he adds : "Hindus knew Rasayana (Chemistry) and the preparation of Chemical compounds. Their chemical skill in fact is more striking and more unexpected. The Arabs borrowed those from India."

ART AND SCIENCE.

As regards Art, Dr. Fergusson says :

है। वैदिक सप्तदर्शनोंके सम्मुख अभीतक पृथिवीकी सब फिलासफियाँ हाथ जोड़कर नतशिर होकर शिक्षा प्राप्त किया करती हैं। भेद इतना ही है कि, पूज्यपाद महर्षियोंने

"Hindus attained great excellence in architecture, sculpture and painting. The art here (India) displayed is purely indigenous." He further observes: "Hindus first knew architecture. From India the knowledge found its way to other countries." "The Saracenic Architecture is of Hindu origion," says Tod.

"English decorative art, in our own days, has been borrowed largely from Indian forms and patterns," says Dr. Hunter.

In Kinetics, the Hindus analysed the concept of motion, gravity (ascribed to the attraction of the Earth), accelerations the law of motion and the accelerated motion of falling of bodies. Some of their (Hindus) investigations were solid achievements in positive knowledge, as in Materia Medica, Therapeutics, Ana-

उसी विद्याके आविष्कारमें ध्यान दिया था, जो रचनात्मक हो और सृष्टिकी रक्षाके काममें आवे। आजकल प्रायः ध्वंसा-

tomy, Embryology, Metallurgy, Chemistry, Physics and descriptive Zoology. Prof. E. B. Havell in his 'Indian Architecture' declares: "Indian architecture is extra-ordinary and is the product of original genius."

"Enough is known to justify the assertion that the art of Architecture was practised on a large scale with eminent success," observes V. A. Smith. Magasthenes says: "The Indians are well skilled in the arts." Elphistone adds: "The brilliancy and permanency of many of their dyes are not yet equalled in Europe."

INDIAN CLOTH AND MUSLIN.

English experts (travellers, Pyrard, Jourdan, Roe, Berner, Peter, Munday and Travenier) speak of the unrivalled beauty and delicacy of the Indian cloth as the finest the earth produces.

त्मक विचारोंके साथ दूसरी जातिका नाश करनेके अभि-
प्रायसे आर्ट और साइन्सकी उन्नति होती है। फिलासफ़ीकी

"In delicacy of texture, in purity and fastness of colour, in grace of design, Indian cloth still holds its own against the world."—Encyclopædia Britainica.

"Silk manufactures also are excellent and very ancient. Gold and silver brocade also were original manufactures of India. Hindu taste for minute ornaments fitted them to excel in goldsmiths' work," says Pliny.

IRON MANUFACTURE.

Dr. Fergusson says: "It opens our eyes to an unsuspected state of affairs to find the Hindus at that age capable of forging a bar of iron larger than any that has been forged even in Europe up to very late date and not frequently even uow."

Roscoe and Schorlemer say: "It is not an easy operation at the present day to forge such a mass with our largest

तो उन्नति इस नवीन समयमें बहुत थोड़ी हुई है। भारतके दर्शनशास्त्रोंका रहस्य इस समयके विद्वानोंको समझना ही दुर्लभ हो रहा है।

---

rolls and steam hammers. How this could be effected by the rude hand labour of the Hindus, we are at a loss to understand."

SHIP-BUILDING AND FLYING SHIPS.

"About 60 B. C., some bold Hindu navigators sailed in their ships to the Baltic Sea in Europe," observes Pliny. Dr. Sewall says: "The Indian vessels trading with Ceylon were so large as to be able to carry 3,000 amphorse." Magasthenes found ship-building as the distinct profession of a Hindu class.

Sir John Malcolm says: "Those ships fully served all the modern requirements. The European ship-builders have not improved much. Ship-building was exactly so even in ancient India." Strabo adds: "Hindus used ships in battles."

We find in the Rig Veda references to

दूसरा विचारने योग्य विषय यह है कि, पूज्यपाद महर्षियोंने मनुष्यकी सभ्यताकी सुव्यवस्था इस ढंगपर की थी कि, उसकी सारी श्रृङ्खला जहाँतक सम्भव हो, प्रकृतिके

---

steam or electric cars, ships, aeroplanes and balloons."

Vishwakarma was the inventor of ornaments of Vimana (aerial cars, like modern balloons, aeroplanes, etc.)

PAPER MAKING.

"This we know from Nearchus himself who ascribes to the Indians the art of making paper from cotton" says Max Muller.

HINDU MUSIC.

Sir W. W. Hunter says : "A regular system of notation was worked out before the age of Panini, and seven notes were designated by their initial letters. This notation passed from the Brahmans through the Persians to Arabia, and thence introduced into Europe by Guide D' Aresso at the beginning of the eleventh Century."

एक स्वरमें मिली रहे। मनुष्यसमाजमें प्रकृतिविरुद्ध अस्वाभाविकता उत्पन्न न होने पावे। मनुष्यमें दिन दिन वहिर्दृष्टि हटकर अन्तर्दृष्टि बढ़ती रहे। मनुष्य पाशविक वृत्तियोंको

Professor Weber says: "According to Von Bolhen and Benfey, this notation passed from the Hindus to the Persians, and from these again to the Arabs, and was introduced in Europe by Guide D' Aresso at the beginning of the eleventh Century." Strabo says: "Some of the Greeks attribute to that country (India) the invention of nearly all the science of music" to which Coleman adds: "Of the Hindu system of music the excellent writer whom I have before mentioned (Sir W. Jones) has expressed his belief that it has been formed on better principles than our own."

Sir W. Jones and Paterson observe:—"Hindu music is systematic and refined. Indian music, like Indian medicine, went from India to Europe." To

भूलकर दिन प्रतिदिन आत्मपरायण होता रहे। मनुष्यजाति उच्छृङ्खल न होकर दिन प्रतिदिन समाहित होती रहे। सभ्य मनुष्यसमाज अपने अभावोंको संकोच करता हुआ

---

this Colonel Tod adds: "An account of the state of musical science amongst the Hindus of early ages and a comparisen between it and that of Europe is yet a desidera Orientum in all literatures. From what we already know of the science, it appears to have attained a theoretical precision, yet unknown to Europe, and that at a period when even Greece was little removed from barbarism."

Anne C. Wilson further observes: "It must, therefore, be a secret source of pride to them to know that their system of music, as a written science, is the oldest in the world. Its principal features were given long ago in Vedic writings. Its principles were accepted by the Mahomedan portion of the population in the days of their pre-eminence, and are still in use in their

राक्षसभाव और असुरभावको घटाकर क्रमशः दैवीसम्पत्तिका अधिकारी बने। इन सब बातोंपर विचार करनेसे चिन्ताशील व्यक्तिमात्र समझ सकेंगे कि, त्रिकालदर्शी पूज्यपाद

original construction at the present day. "The people of India are essentially a musical race. To such an extent is music an accompaniment of existence in India, that every hour of the day and season of the year has its own melody."

Sir W. W. Hunter says: "Not content with the tones and semi-tones, the Indian musicians employed a minute sub-division together with a number of modifications which the Westerners neither recognise nor enjoy. Thus, they divide the octave into 22 sub-tones instead of semi-tones of the European scale. The Indian musician declines altogether to be judged by the few simple Hindu airs which the English ear can appreciate."

Arthur Whitney says: "But I have yet to observe that while our system of notation admits of no sound of less than

half a tone, the Hindus have quarter tones, thus rendering it most difficult of imitation of Europeans. The execution of their music 1 hold to be impossible to all except those who commence its practice from very early age."

Prof. Whitney further observes: "Few of the ancient Hindu airs are known to Europeans, and it has been found impossible to set them to music according to the modern system of notation, as we have neither staves nor musical character whereby the sounds may be accurately expressed."

"Of the magical effect prcluced by the singing of Gopal Naik and of the romantic termination to the career of this sage, it is said that he was commanded by the Emperor Akbar to sing the Raga Deepak, and he, obliged to obey, repaired to the river Jumna, in which plunged

कोई कोई यह शङ्का करते हैं कि, जब भाषाकी पूर्णता, साहित्यकी पूर्णता, लेखनप्रणालीकी पूर्णता, कवित्वशक्तिकी

up to his neck. As he warbed the wild and magical notes, flames burst from his body and consumed him to ashes,"

"It is recorded of Tansen that he was also commanded by the Emperor Akbar to sing Sri, or night Raga, at mid-day, and the power of the music was such that it instantly became night, and the darkness extended in a circle round the palace as far as his voice could be heard."

HINDU SOCIOLOGY.

About the eminence of the Hindu Sociology the great French Savant says :

"I consider the institution of castes amongst the Hindu nation as the happiest effort of their legislation, and I am well convinced that the people of India never sunk into a state of barbarism. When almost all Europe was plunged in that dreary gulf, India kept up her head—preserved and extended the sciences, the

पूर्णता, व्याकरणशास्त्रकी पूर्णता, अङ्कशास्त्रकी पूर्णता, दर्शन-शास्त्रकी पूर्णता आदि मनुष्यको सभ्य बनानेवाले सभी शास्त्रों-

arts and civilisation. It is wholly to the distinction of castes that she is indebted for that high celebrity."

"Their whole social system," observes W. C. Bennet, "postulates exceptional integrity." "The system of caste," says Sir Henry Cotton : "Far from being the source of all troubles which can be traced in Hindu Society, has rendered most important service in the past, and still continues to sustain order and solidarity."......

"There is simply no comparison between Englishmen and Hindus with respect to the place occupied by family interests and family affection in their minds. The family in the old sense of the word still exists in India. In England, it is a very different institution. The romance of Indian life is the romance not only of the individual, but of the family." says Dr. W. W. Hunter.

की पूर्णताके लक्षण भारतद्वीपके मानवों-ब्राह्मणोंमें पाये जाते हैं; यह भी देखा जाता है और इतिहाससे सिद्ध भी

Dr. Marie Carmichael Stopes is regarded in the West as an authority on sex problems and she writes as follows in her book, *Enduring Passion*:

"It is not intended by Nature for a man of full age to continue unmarried year after year. *Early marriage is the natural and still the right thing.* Almost every day that passes increases my conviction that the race runs innumerable dangers from the habit of delaying marriage which is becoming so common. Late marriage is the source of innumerable physical and social evils and incalculable unhappiness and discontent. Nature may have the revenge; and on his late marriage a man may find himself impotent or nearly so, or else so excited and over-wrought, by union that a true marriage is almost or quite impossible, because of premature ejaculations. *The*

है कि भारतद्वीपकी संस्कृतभाषा ही पृथिवीकी सव भाषाओंकी माता है और गणितशास्त्र, ज्यौतिष-शास्त्र, संगीतशास्त्र, वैद्यशास्त्र, कृषिशास्त्र, रसायनशास्त्र

---

best way to avoid such evils and to live normally is to marry young and to remain in love."

Again, Thomas Alva Edison, the greatest inventor of modern times, and well known all over the world on account of his Gramophone and his moving pictures, also deprecates late marriage. He observes:

"It is not good for a man or a woman either to live alone, I am sure. And one tendency of the times which I am inclined to think is the apparently increasing avoidance of marriage or its postponement until an age when the adaptation of one individual of the couple (involved) to the other is difficult because habits have become fixed so firmly that their adjustment is a difficult or at least, an annoying process. *Obviously, therefore,*

आदि मनुष्यको मनुष्य बनानेवाले सब शास्त्र भारतद्वीपसे ही निकले हैं; दूसरी ओर जब यह देखा जाता है कि, क्या ईश्वरतत्त्वनिरूपण करनेमें, क्या दार्शनिकतत्त्वनिरूपण करनेमें

---

it seems to me that early marriages should bo encouraged."

Havelock Ellis says: "It is evident to every thoughtful person that a real sexual morality is almost impossible without early marriage; for simply to refer the young to abstinence as the true solution of the problem, is, as we have already maintained a crime against the young and against the race, a crime which makes the primitive force of nature, the fire of life, into a destructive element." It is in accordance with these above mentioned principles that the Hindu sages have enjoined marriage before puberty and consummation immediately after menstruation.

In the turmoil of modern talk of social reform, of untouchability and interdining, we are often apt to lose sight of the

और क्या पदार्थविद्या और शिल्पके रहस्योद्घाटनमें भारत-द्वीपके आदि मानव ही जगत्के पथंप्रदर्शक हैं, तो उनमें इति-हास लिखनेकी श्रृङ्खलावद्ध शैली क्यों नहीं पायी जाती, जैसी

many truths underlying our ancient Sastras, forbidding physical contact between one and another. Even in the same family such contact is not sanctioned by Sastras except when unavoidably needed. Miss Helen M. Mathews of the University of British Columbia demonstrated that "bacili were readily transferred from one to another by even hand-shaking or shake-hand."

HINDU MARRIAGE : A SACRAMENT

Otto Ruthfield says : "In general it may be said that the Hindu rules of marriage are, in the ordinary sense of happiness, as conductive to the happiness of the spouses as the fact transforming system of modern Europe ; and their happiness is less self-centred and more altruistic. The worth of a nation's womanhood can best be estimated by the

आजकल सभ्य जगत्में प्रचलित है ? इस श्रेणीकी शंकाओं-का समाधान अति सुगम है। जब जगद्गुरु हिन्दुस्थान-वासियोंका यह दृढ़ सिद्धान्त है कि सृष्टिप्रवाह अनादि"

completeness with which they fulfil the inspirations of love and its devotion, and judged by this standard, the higher types in India need fear no comparison"

"Real marriage the consummation of their growth to man and woman, comes much later, after many years perhaps; then their parents at last give their consent to the grown up lads and the healthy maidens who help daily in the household tasks."

"The absence of self-choice in India obviates the fluttering uncertainty under which English girls live; it imparts to them a sense of destiny which has a beneficial effect on the after-life," says Frederic Pincott. A boy and a girl, in India, grow up to the knowledge that they are destined for each other; they know that their lives have to be passed

अनन्त है, काल अनन्त है, ब्रह्माण्डका विस्तार साधारण मनुष्यबुद्धिमें नहीं आ सकता और मनुष्यसृष्टि हर चतुर्युगी-में नयी बना करती है, प्रत्येक मन्वन्तरमें सृष्टिकी शृङ्खला

together; and from their earliest years they learn to adapt themselves to their future condition. It is universally admitted that compromise and concession form the solid basis of matrimonial happiness; and the sense of destiny imparted by early marriages powerfully promotes a spirit of compromise. We must also understand that the Hindu marriage contract is inviolable, and the course of life is inevitable; the minds of the parties are thus in the proper frame for making the best of things. These wise provisions have stood the test of centuries, and by their results continue to proclaim their excellence. All parties are united in the opinion that Hindu married life is an exceptionally happy state......................and that is the clearest proof of the excellence of the system,

एक वार ही वदल जाती है, कल्पकल्पान्तरमें सृष्टि वार वार उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती है, उसके पृथक् पृथक् कालोंका हिसाव आर्योंके नेत्रोंके सम्मुख रहता

and the severest condemnation of those who are seeking to unsettle it".

CHASTITY : A GREAT VIRTUE.

"Nothing makes a woman more esteemed by the opposite sex than chastity; whether it be that we always prize those most who are hardest to come at, or that nothing besides chastity with its collateral attendants, truth, fidelity and constancy, gives the man a property in the person he loves and consequently endears her to him above all things" says Addison.

"It is proper to leave abundance of chastity rather than gold to children. I do not deem that a dowry, which is called a dowry, but chastity, and subdued desire," observes Plato.

"Modesty is not only an ornament but also a guard to virtue" says Addison.

है और प्रत्येक आर्यमानव अपनी नित्य सन्ध्याके समयमें और नैमित्तिक यागके समयमें जम्बुद्वीपसे लेकर भारतद्वीपके खण्डोंतकका हिसाब और कल्पसे लेकर मास, तिथि, दिन

"Nothing can atone for the want of modesty, without which beauty is ungraceful, and detestable." adds Steele. "Modesty once extinguished knows not how to return," remarks Seneca. Chastity, once lost, cannot be regained; it goes only once."

Father Abbe Dubois writing on the social status of Indian women observes: "The person of a woman is sacred. She cannot be touched in public by a man even with the ends of the fingers. How abject whatsoever may be her condition, she is never addressed by anybody, not excepting the persons of the highest rank, but under the respectful name of mother. A dwelling in which only females are to be found, even the hut of the most helpless widow, is an inviolable asylum into which the most determined libertine

आदि कालका हिसाव अपने सङ्कल्पके साथ चित्त-पटलमें रखता है, तो वे कैसे हजार दो हजार वर्षकी मनुष्य-

would never dare to penetrate; or should he do it, his audacity would not remain unpunished. A woman can frequent the most crowded places without being exposed to the least insult. A male who would stop merely to gaze at a female, who is passing by, *as our loungers in Europe are accustomed to do*, would be considered by all as an insolent and uneducated person."

Prof. H. H. Wilson says : "In no nation of antiquity were women held in so much esteem as amongst the Hindus." Mrs. Flora Annie Stell adds : "The general position of woman in India is rather better than our own."

HINDUS : ADMIRERS OF TRUTH.

"No Hindu was ever known to tell an untruth," says Mc. Grindle.

"They (Brahmans) would not tell a lie for anything on earth," adds Marco Polo.

निर्मित कालगणना और थोड़े बहुत चरित्रोंका वर्णन करके तृप्त हो सकते हैं? यही कारण है कि, भारत-

"They (Hindus) are so honest as neither to require locks to their doors, nor writings to bind their agreements." remarks Strabo.

"I have had before me hundreds of cases, in which a man's (Hindu) property, liberty and life have depended upon his telling a lie, and he has refused to tell it." observes Sleeman.

"They (Hindus) are distinguished by straight-forwardness and honesty of their character. They never take anything unjustly," says Mc. Grindle.

"The Hindus are religious, cheerful, lovers of justice, able in business, admirers of truth, grateful and of unbounded fidelity." says Samuel Johnson.

"The Hindus are brave, courteous, intelligent, most eager for knowledge and improvement, sober, industrious, dutiful to parents, affectionate to their

खण्डकी चातुर्वर्ण्यकी प्रजा कभी भी नाशमान् लौकिक इतिहासके फेरमें नहीं पड़ी है। जगत्के आदिगुरु पूज्यपाद महर्षिगण लौकिक इतिहासको लिपिबद्ध करना अनावश्यक

---

childen, uniformly gentle and patient, and more easily affected by kindness and attention to their wants and feelings than any people I ever met with."

HIGHER LEVEL OF MORALITY.

"It is certainly the fact that the people of ancient India enjoyed a wide spread and enviable reputation for straight-forwardness and honesty." says V. A. Smith.

Sir Lapel Giriffin says: "Judged by any truthful standard, the people of India are on a far higher level of morality than an Englishman."

"The morality among the higher classes of the Hindus was of a high standard and among the middle and lower classes, remarkably so. There is less of immorality than you would see in many countries of Europe", observes Sir G. B. Clarke.

समझते थे। हां, वे अवश्य ही मनुष्यकी यथार्थशिक्षाके लिये जिन जिन चरित्रोंका वर्णन करना उचित समझते थे, उनको गाथारूपसे पुराणादि शास्त्रोंमें प्रकाशित कर गये हैं। लौकिक

"They (Brahmins) never told a lie for all the world and betrayed nobody's trust. They were known by their sacred thread and had each but one wife. They were versed in Astrology, practised great moderation and enjoyed long life."

"No set of people among the Hindus are so depraved as the dregs of our own great towns. The mass of crime is less in India than in England. The villagers are everywhere amiable, affectionate to their families, kind to their neighbours, and towards all honest and sincere." says Marco Polo.

"Their freedom from gross debauchery is the point in which they appear to most advantage; and their superiority in purity of manners is not flattering to our self-esteem", writes Elphinston.

मनुष्यगाथा वे रामायण-महाभारतादि इतिहासोंमें और दैवी-चरित्रोंको अधिक रूपसे मार्कण्डेय, भागवत आदि पुराणोंमें लोककल्याणार्थं सन्निवेशित कर गये हैं। जबतक संस्कृत-

A FAR SUPERIOR RACE.

1. Ktesias, the Royal Physician of Persia, wrote about 398 B. C. in his Indica :

"Their (Hindus') complexion was fair. They were free from headache, toothache opthalmia and from mouth-sores or ulcer in any part of their body. They generally attained the age of 120 years before death. There were people in the north who lived even 400 years."

Yuan Chawng (629-645 A. D.) in his work called "The Siyu-ki" (rendered into English by Jullien) gives details regarding the manners, and observances of castes (four castes). He also mentions numerous mixed castes. He is highly impressed with the truthfulness and honesty of the national character. He praises the administration of justice. Yuan Chwang found India prosperous.

साहित्य रहेगा, ये गाथाएँ मनुष्य-चरित्र-गठनमें सहायक बनी रहेंगी।

Megasthenes observes that the Hindus are all free and have no slaves of other nations. They (Hindus) are frugal and temperate in habits ; they do not like much crowd and are orderly, moderate and regardful of truth and virtue. Thefts are rare. They possess a strong sense of justice ; they never lie, never quarrel. They have perfect mutual trust. They never go to law, never complain about their pledges and deposits, require neither witnesses nor seals ; they generally have their houses unlocked, unguarded. The Hindus are frank, frugal and happy.

चौथा अध्याय ।

——❀❀——

सृष्टिप्रकरण और कालचक्र ।

——❀❀——

ब्रह्माण्डके मानचित्रका अनुशीलन करनेपर विचारशील व्यक्तियोंके अन्तःकरणमें सृष्टिके विषयमें जिज्ञासा स्वतः ही उत्पन्न होती है। वेद और शास्त्रोंमें तथा वेदसम्मत दर्शनोंके सिद्धान्तके अनुसार सृष्टिके चार स्तर बताये गये हैं। उन चार स्तरोंके नाम ये हैंः—प्रथम प्राकृतिकसृष्टि, दूसरी ब्राह्मीसृष्टि, तीसरी प्राजापत्य अर्थात् मानसीसृष्टि और चौथी वैजीसृष्टि अथवा मैथुनीसृष्टि।❀ पूज्यपाद महर्षियोंने

❀ आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥
प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवाऽसृजत् प्रभुः ।
तथैव देवानृषयः तपसा प्रतिपेदिरे ॥ —महाभारत ।

भगवतो ब्रह्मणः प्रादुर्भावेन सहैव महतः सृष्टिरारभ्यते तदानीमेव विराट्ब्रह्मणोऽन्तःकरणमुत्पद्यते, यद्धि एकस्य ब्रह्माण्डस्य

अपने ज्ञाननेत्रोंसे देखा है कि, सृष्टिका प्रवाह देश और कालकी अनादि और अनन्तताके अनुरूप अनादि और अनन्त है। इसी कारण ब्रह्माण्डसमूह भी अनन्त हैं। जैसे इस मृत्युलोकमें एक मनुष्यका मानवपिण्ड जब नष्ट हो जाता है अर्थात् मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है, उस समय पृथ्वीके अनन्त मानवपिण्ड जीवित रहते हैं; ठीक उसी प्रकार एक ब्रह्माण्डके कालके कवलमें पहुँच जानेपर अनन्त ब्रह्माण्डसमूह ज्योंके त्यों बने रहते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें सृष्टि-स्थितिलय यथाक्रम होते रहनेपर भी अनन्तकोटिब्रह्माण्डका सृष्टिप्रवाह यथाक्रम प्रवाहित होता रहता है। दूसरी ओर जैसे एक मनुष्यका पिण्ड नष्ट होनेपर अर्थात् उसकी मृत्यु होनेपर उसका अन्नमयकोष, जो मिट्टीके उपादानसे बना

समष्टिरूपमन्तःकरणमुच्यते। तस्य च महत्तत्त्वमुपादानं भवति। ब्रह्मा च तस्याधिदैवत्वेन प्रख्याप्यते। ततश्च सनकसनन्दनप्रभृतीनां पूर्णावयवानां देवानां सृष्टिर्जायते। ततश्च प्रजापतिनाम्नां देवानां सृष्टिरुद्भवति। तदनन्तरं तैरेव मानस्याः सृष्टेर्विस्तारो विधीयते। ततश्च दम्पतिसंयोगजन्याया मैथुनसृष्टेरुद्गमो भवति, या हि बैजीसृष्टिरित्यपि संज्ञायते। इत्थमेव सृष्टिविस्तारो विजृम्भते। —पुराणरहस्यम्

चतुर्विध सृष्टिका विस्तृत विवरण 'दैवीमीमांसादर्शन' और 'पुराणरहस्यम्' नामक ग्रन्थमें द्रष्टव्य है।

है, वह पुनः मिट्टीमें मिल जाता है और पुनः जब उसका जन्म होता है, तब पिताके वीर्य और माताके रजसे उसको कर्मके भोगके उपयोगी पुनः पार्थिवशरीर मिल जाता है। ठीक इसी उदाहरणसे समझने योग्य है कि, एक ब्रह्माण्ड जब प्रलयके गर्भमें विलीन हो जाता है, तो कालान्तरमें उस ब्रह्माण्डके समष्टिकर्मसंस्कारके अनुसार पुनः ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है। वही ब्रह्माण्डकी सृष्टिकी अवस्था है। नहीं तो धारारूपसे सृष्टिप्रवाह अनादि अनन्त ही है। यह विज्ञान दार्शनिक युक्तिसे सर्वथा सिद्ध है।*

---

* अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति। चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्तमुखाष्टमुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशैः रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराख्यैर्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसङ्घवत् भ्रमन्ति।

—नारायणोपनिषद्।

संख्याचेद्रजसामस्ति विश्वेषां न कदाचन।

—देवीभागवत।

कोटिकोट्ययुतानीशे चाण्डानि सहितानि वै।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रब्रह्माणो हरयो भवाः॥

—देवीभागवत।

जब कोई ब्रह्माण्ड प्रथम उत्पन्न होता है, तब उस ब्रह्माण्ड के परमाणुपुञ्ज प्रकृतिमाताकी आकर्षणशक्तिके अनुसार एकत्रित होकर जीववासोपयोगी स्थूल या सूक्ष्मलोकोंको उत्पन्न करते हैं। उस समय एक ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिवका आविर्भाव नहीं रहता है। उस समय चाहे देवलोकसमूह हों

ससर्वाभरणा एते महत्यन्तर्विवर्जिते ।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्डूको यथा ॥
शुद्धबोधमये तस्मिन् परमालोकवारिधौ ।
अजस्रमेत्य गच्छन्ति ब्रह्माण्डाख्यास्तरङ्गकाः ॥
केषाञ्चिदन्तः कल्पान्तः प्रवृत्तो घर्घराखः ।
न श्रुतोऽन्यैर्न च ज्ञातः स्वभावेन रसाकुलैः ॥
अन्येषां प्रथमारम्भे शुद्धभूषु विजृम्भते ।
सर्गः संसिक्तबीजानां कोपेङ्कुरकला यथा ॥
महाप्रलयसम्पत्तौ सूर्यार्चिर्विद्युतोऽद्रयः ।
प्रवृत्ता गलितुं केचित्तापे हिमकणा इव ॥
केचिद्विचित्रसर्गेशाः केचित्तिर्यङ्मयान्तराः ।
केचिदेकार्णवापूर्णा इतरे जनिवर्जिताः ॥
भीमान्धकारगहने सुमहत्यरण्ये ।
नृत्यन्त्यदर्शितपरस्परमेव मत्ताः ।
यक्षा यथा प्रवितते परमाम्बरेऽन्त-
रेवं स्फुरन्ति सुबहूनि महाजगन्ति ॥ —योगवासिष्ठ ।

अथवा हमारा मृत्युलोक हो, इन सबका केवल गोलक बनता है। इसी दशाको प्राकृतिकसृष्टि कहते हैं। क्योंकि ये सब ब्रह्मप्रकृति त्रिगुणमयी जगदम्बाके स्वाभाविक नियमके अनुसार ब्रह्माण्डगोलक बन जाते हैं। उस समय उनमें जीवोंका वास नहीं रहता। इस विषयमें पूज्यपाद प्राचीन ऋषिगण और आजकलके पदार्थविद्या-(साइन्स) के विद्वज्जन दोनों एकमत हैं। पदार्थविद्यासेवी (साइण्टिस्ट) भी साधारणतः यही कहते हैं कि, हमारी पृथ्वी पहिले जीव-वासोपयोगी नहीं थी। इसी जीववासोपयोगी बननेसे पहिले-की अवस्थाका नाम प्राकृतिक सृष्टि है। उसके अनन्तर सर्वशक्तिमान् भगवान्की इच्छासे जब ब्रह्मा-विष्णु-महेश-रूपी त्रिमूर्तिका आविर्भाव होता है और भगवान् ब्रह्मा अपनी इच्छाशक्तिसे जीवसृष्टिका प्रारम्भ करते हैं और देवसृष्टि प्रारम्भ हो जाती है, उसीको ब्राह्मीसृष्टि कहते हैं। उसके अनन्तर जब प्रजापतिगण उत्पन्न होकर विस्तृत सृष्टिको केवल अपनी मानसशक्तिसे उत्पन्न करते हैं, वही मानससृष्टि कहाती है। यह सृष्टि भी देवताओंकी ओरसे ही होती है। उसके अनन्तर स्त्री-पुरुषके संयोगसे जो सृष्टि होती है, वह बैजीसृष्टि है। यही चार प्रकारका सृष्टिप्रकरण है, जो प्राचीन वेद और शास्त्रोंमें पाया जाता है।

सृष्टिके साथ जो कालका सम्बन्ध है, उसके विषयमें जैसा सुन्दर, विस्तृत और अलौकिक हिसाब वेद और शास्त्रोंमें पाया जाता है, वैसा और कहीं देखने अथवा सुननेमें नहीं आता। हमारे इस मृत्युलोक-भारतवर्षकी आयुके निर्णय करनेमें अनेक पदार्थविद्यासेवी (साइण्टिस्ट) विद्वानोंने अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ की हैं। सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें, मनुष्यसृष्टिके विषयमें, वेदके आविर्भावके विषयमें और इसी प्रकारसे नाना देश और नाना पर्वत आदिकी सृष्टिके स्तरोंके विषयमें नाना कल्पनाएँ भी की हैं। किसीने इसकी दो चार हजार वर्षोंकी ही गणना की थी। अब वह गणना कुछ आगे अवश्य बढ़ी है, किन्तु जिसके साथ भारतवर्षके प्राचीनसिद्धांतोंको मिलानेपर एक कौतुक सा मालूम होता है। सनातनधर्मके प्राचीन ग्रन्थोंमें एक ब्रह्माण्डकी आयुका निर्णय करनेमें इस प्रकारकी गणना पायी जाती है कि, १०० त्रुटिका एक पर, ३० परका एक निमेष, १८ निमेषकी एक काष्ठा, २० काष्ठाकी एक कला, ३० कलाकी एक घटिका, दो घटिकाका एक क्षण, ३० क्षणका एक अहोरात्र अर्थात् मनुष्यका पूरा दिनरात होता है। इसी संख्यासे मानववर्षगणना की जाती है।* इस हिसाबसे १७२८००० मानववर्षोंका सत्ययुग,

*इस कोष्ठकका प्रमाण गणित-ज्योतिष ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य है।

१२९६००० मानववर्षोंका त्रेतायुग, ८६४००० वर्षोंका द्वापरयुग और ४३२००० वर्षोंका कलियुग है और ४३२०००० मानववर्षोंका महायुग होता है । ७१ महायुगोंका अर्थात् ३०६७२०००० वर्षोंका एक मन्वन्तर होता है और ८६४००००००० वर्षोंका ब्रह्माका एक दिनरात अर्थात् एक कल्प होता है । ३११०४०००००००००० मानववर्षोंमें एक ब्रह्मापदधारी बदल जाते हैं । १८६६२४०००००००००००००० मानववर्षोंमें एक विष्णुपदधारी बदल जाते हैं। ४८३७२९४०८०००००००००००००००००००००० मानववर्षोंकी भगवान् शिवकी आयु समझी जाती है; जो ब्रह्माण्डका प्रलय करके ब्रह्ममें लय हो जाते हैं । अनन्तकोटिब्रह्माण्डभाण्डोदरी ब्रह्मशक्ति जगदम्बाकी एक त्रुटिमें दश करोड़ महेशोंकी आयु निमेष होते हैं । इससे ब्रह्माण्डके लय होनेका समय निर्धारित किया जा सकता है । इससे यह तात्पर्य है कि, जगदम्बाकी एक त्रुटिमें एक ब्रह्माण्डका सम्पूर्ण प्रलय हो जाता है । जैसे ब्रह्माविष्णुमहेशरूपी भगवान् त्रिमूर्तिके प्रकट होनेसे पहिले प्राकृतिकसृष्टि होती है और उसमें ब्रह्माण्डके उपादानरूपी परमाणुपुञ्जोंको एकत्र करनेमें समय लगता है, उसीप्रकार भगवान् शिव जीवोंका प्रलय करके ब्रह्मीभूत हो जाते हैं । उसके बाद भी परमाणुपुञ्जोंके विख-

रनेमें समय लगता है । सृष्टि और प्रलयके सब कार्य जिस समयमें हों, उस समयको ब्रह्माण्डकी आयु कह सकते हैं और वह ब्रह्माण्डोंकी आयुका काल श्रीजगदम्बाकी एक त्रुटि समझी जा सकती है ।*

श्रीमार्कण्डेय आदि पुराणोंमें १४ मन्वन्तरोंका संक्षिप्त वर्णन है और यह भी स्पष्ट वर्णन है कि, ७१ महायुगोंमें एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें देवराज इन्द्र-पदधारी देवता भी कालराज मनुके साथ ही बदल जाते हैं। उस समय भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक, तीनोंके बड़े बड़े पदधारी सब देवता बदल जाते हैं। कर्मके चालक देवता, ज्ञानके चालक ऋषि और स्थूलशरीर आदिके सञ्चालक पितृगण, जो तीनों ही तीन श्रेणीके देवता हैं, इनके

---

* चतुर्युगसहस्राणि दिनं पैतामहं भवेत् ।
पितामहसहस्राणि विष्णोश्च घटिका मता ॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्धं रौद्रमुच्यते ।
दैवीमीमांसा भाष्य, उत्पत्तिपाद, सूत्र ४

(२) चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।
पितामहसहस्राणि विष्णोरेका घटी मता ॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि निमेषार्धं महेशितुः ।
दशकोट्यो महेशानां श्रीमातुस्त्रुटिरूपकाः ॥
—शक्तिरहस्य ।

जितने बड़े बड़े पदधारी हैं, वे सब प्रत्येक मन्वन्तरमें बदल जाया करते हैं।* इस कारण भूः, भुवः, स्वः, इन तीनों लोकोंकी शृंखला और सभ्यता आदिमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें जो परिवर्तन होता है, वह भूः भुवः स्वःरूपी त्रिलोकमें होता है। मन्वन्तरमें कभी पूरा प्रलय नहीं होता, खण्डप्रलय होता है और देवपदधारी तो अवश्य ही बदल जाते हैं। ये सब बातें प्राचीन आर्योंके वेद और शास्त्रोंसे भलीभाँति प्रमाणित हैं। इन सब कालके विभागोंकी संख्याके देखनेपर दैवीजगत्‌के माननेवाले विद्वान् तो आनन्दित होते ही हैं, किन्तु जो दैवीजगत्‌पर आस्था न भी रखते हों, वे विद्वान् भी प्राचीन आर्योंके कालके सम्बन्धके इन हिसा-बोंको देखकर चकित हुए विना न रहेंगे।

---

* ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् ! मनवश्च चतुर्दश।
भवन्ति परिमाणञ्च तेषां कालकृतं शृणु॥
सप्तर्षयः सुराः शक्रो मनुस्तत्सूनवो नृपाः।
एककाले हि सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत्॥
विष्णुपुराण।

चौदहों मनुओंके ऋषि, देवता, इन्द्र आदिका विस्तृत वर्णन मार्कण्डेयपुराणमें अध्याय ५३ से १०० तक किया गया है; वह देखने योग्य है।

दूसरी ओर वेद और शास्त्र यह सिद्ध करता है कि, विद्यारूपी नदीका प्रवाह पाँच धाराओंमें होकर प्रवाहित होता है। इस कारण सनातनधर्मियोंके शास्त्रोंमें पांच प्रकार की पुस्तकोंके नाम हैं। यथाः—(१) ब्रह्माण्डपुस्तक, (२) पिण्डपुस्तक, (३) नादपुस्तक, (४) बिन्दुपुस्तक और (५) अक्षरमयीपुस्तक।* जो ब्रह्माण्डके अधीश्वर ब्रह्मा विष्णु महेश अथवा जगदम्बाकी प्रेरणासे प्रकाशित हों और जिनकी स्थिति ऊपरके सबसे ऊँचे तीन लोकोंमें नित्य रहे, ऐसी ज्ञानमयी पुस्तकोंका नाम ब्रह्माण्डपुस्तक है। जो पुस्तकें भूर्लोकके दैवी राज्यके ऋषियों द्वारा प्रेरित होकर प्रकाशित हों अथवा आसुरी

---

* पञ्चनद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सा देशेऽभवत्सरित्॥
शुक्लयजुः अ० ३४ मं० ११

पुस्तकमन्तःकरणं गुरुः शिष्यस्तथैव च।
गुणग्रहीताख्याता च पञ्चस्रोता सरस्वती॥
ब्रह्माण्डपिण्डनादाश्च बिन्दुरक्षरमेव च।
पञ्चैव पुस्तकान्याहुर्योगशास्त्रविशारदाः॥
प्रजापति द्वापरे च त्रेतायां सूर्य एव च।
कृते युगे पिनाकी च कलौ लिप्यक्षरे हरिः॥
—बृहद् तन्त्रसार।

शक्ति द्वारा प्रेरित होकर प्रकाशित हों, वे सब पिण्ड नामक पुस्तकोंके अन्तर्गत मानी जायँगी। इन पुस्तकोंका मसाला नीचेके असुरलोक और भूलोंकसे प्रेरित होता है। वेदको स्मरणपूर्वक ऋषियोंके अवतार जो ज्ञानराशि प्रकाशित करते हैं, वे विन्दु नामसे अभिहित होती हैं। उनको स्मृतिशास्त्र भी कहते हैं। जो सृष्टिके आदिकालमें ऋषियों-के अन्तःकरणोंमें ज्योंकी त्यों मन्त्ररूपसे सुनायी देती हों, वे नादमयी पुस्तकें हैं। वे ही वेद हैं। ये चारों अलौकिक पुस्तकें हैं और ये चारों अलौकिक पुस्तकें और लौकिक बुद्धिसे प्रकाशित साधारण पुस्तकें जब अक्षरमें लिखी जायँ, तब वे अक्षमरमयी पुस्तकें कहाती हैं। आस्तिक प्राचीन आर्यगण पूर्व चारों पुस्तकोंको नित्य और अक्षरमयी पुस्तकों-को अनित्य माना करते हैं।

वेदकी महिमा सर्वोपरि इस कारण है कि, वैदिक दर्शनशास्त्र और पुराणादि अन्यान्य शास्त्रोंके मतसे वेद किसी मनुष्यद्वारा रचित नहीं हैं। अन्य पुस्तकें भावरूपसे मनुष्यके चित्तमें उदित होती हैं, परन्तु अपौ-रुषेय वेदका आविर्भाव ऐसा नहीं होता। चाहे मन्व-न्तर-मन्वन्तरान्तर हो, चाहे कल्प-कल्पान्तर हो, अन्य चार पुस्तकोंकी तरह वेदोंका ज्ञान तो नित्य बना ही रहता है,

किन्तु वे शब्द भी नित्य बने रहते हैं। केवल युग-युगान्तरमें, विशेषतः प्रत्येक सत्ययुगके आदिमें, वेदोंका पूर्ण आविर्भाव इस मृत्युलोकमें बना रहता है। अतः जब कालका परिमाण प्राचीन भारतवर्षमें पूर्वलिखित प्रकारसे माना गया है और पुस्तकोंकी नित्यता तथा वेदके शब्दोंतककी नित्यता ऊपर लिखित प्रकारसे वैदिक दर्शनों और पुराणादि शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है, तो विचारशील व्यक्तिके सम्मुख आजकलके नामधारी संशोधकों और अनुसन्धान करनेवालोंकी वैदिक युग, पौराणिक युग आदिकी कल्पना हास्यास्पद क्यों नहीं समझी जायगी?

आजकलके ऐतिहासिकगण मनुष्यसृष्टिका हिसाब दस पाँच हजार वर्षसे लगाते हैं। परन्तु वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंसे सिद्ध होता है कि, एक महायुगमें जब कलिका अन्त होता है, तो मृत्युलोकका पूरा कूड़ा करकट एकबार साफ कर दिया जाता है और कई प्रकारसे सफाई होती है। केवल सत्ययुगके उपयोगी मसाला रखकर बाकी सब साफ कर दिया जाता है। एक मन्वन्तरकी सृष्टिके समय खण्डप्रलय होता है। उसका कारण जलप्लावन आदि होता है। उसके बाद सृष्टिमें नवीनता अवश्य आती है, परन्तु बीज पुराना ही होता है। कल्पान्तरसृष्टि, जो ब्रह्माजीके एक अहो-

रात्रके बाद होती है, उसके कालका परिमाण भी ऊपर लिखा गया है। उसमें यहाँकी सृष्टिका प्रलय हो जाता है और नवीन सृष्टि होती है। उसी समयसे हम मनुष्यजातिका आदित्व स्वीकार करते हैं। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने समाधिबुद्धिद्वारा सृष्टि और प्रलयके अतिगंभीर और बुद्धिसे अतीत अचिन्तनीय स्तरोंका बहुत अच्छी तरह अन्वेषण किया था। उनकी गवेषणाका यह सिद्धांत है कि, भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक इन्हीं तीनों लोकोंमें बार बार परिवर्तन हुआ करता है। जैसे मनुष्यशरीरके मध्य अंशमें यकृत्-यन्त्र, हृदययन्त्र आदि बारबार नियमपूर्वक अपने आप क्रिया करते रहते हैं, वैसे ब्रह्माण्डके त्रिलोकमें ही सृष्टि-स्थिति-प्रलयकी क्रिया नानारूपसे सदा हुआ करती है। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि इन चारों युगोंका प्रभाव भी इन्हीं तीनों लोकोंमें अधिक पड़ा करता है। मन्वन्तरका भी अधिक प्रभाव इन्हीं तीनों लोकोंमें पड़ता है। वेद और शास्त्रोंका आविर्भाव और तिरोभाव जो इस मृत्युलोकमें होता है, उसका भी सम्बन्ध इसी ब्रह्माण्डके मध्यस्थानसे है। क्योंकि वेद अपने पूर्वस्वरूपमें मृत्युलोकमें प्रत्येक सत्ययुगमें प्रकट होते हैं। फिर उनका तिरोभाव होता

हैं और सत्ययुग आनेपर फिर प्राकट्य होता है। प्रत्येक कल्पमें जो प्रलय होता है, उसके मुख्यतः स्थान त्रिलोक, नीचेके सात लोक और प्राजापत्य, स्वर्ग (महर्लोक) हैं। क्योंकि सबसे ऊपरके तीन लोक उस समय भी ज्योंके त्यों रहते हैं। उस समय भगवान् ब्रह्मा ब्राह्मस्वर्ग अर्थात् सबसे ऊपरके तीन लोकोंमें रहते हैं और ऊपरके वे तीन लोक ही ब्राह्मस्वर्ग कहाते हैं। त्रिलोककी विशेषता ब्रह्माण्डभरमें सर्वशास्त्रसम्मत है। क्योंकि इन्हीं तीनों लोकोंमें बड़े बड़े पदधारी देवताओंकी राजधानियाँ हैं। सृष्टिकी सामञ्जस्यरक्षा इन्हीं सब राजधानियोंसे होती है। जीवकी मृत्युके अनन्तर उसको प्रेतलोक अथवा नरकलोकमें भेजकर शुद्ध करना भगवान् यमधर्मराजका कार्य है। जीवकी जीवित अवस्थामें उसको महामारी, भूमिकम्प आदिसे ठीक रास्तेपर चलाना और कालका नियम बाँधना भगवान् मनुका कार्य है। नाना पदधारी देवताओंको ठीक नियमसे चलाना भगवान् इन्द्रका कार्य है। इन तीनोंकी राजधानियाँ त्रिलोकमें ही हैं। त्रिलोककी छीननेके लिये असुरगण भी प्रयत्न करते हैं। कालका प्रत्यक्ष प्रभाव त्रिलोकमें ही अधिक पड़ता है। इन सब कारणोंसे त्रिलोककी ही महिमा अधिक है।

पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने किस प्रकार विशद, युक्तियुक्त और ज्योतिष तथा गणित आदि शास्त्रोंसे सिद्ध विभिन्न कालकी गणना की है, उसका वर्णन ऊपर आ चुका है। इस समय श्वेतवाराहकल्पके वैवस्वत मन्वन्तरका अट्ठाइसवां महायुग है। अतः वेद और शास्त्र माननेवाले आर्यगण इस विक्रमीय संवत् १९९० के अन्ततक १९७१९६१६०९ वर्ष, ५ मास, ४ दिन, १७ घड़ी और ८९ पल बीत गये हैं, ऐसा मानते हैं। कल्पके आरम्भसे कल्पान्ततकके ४३२०००००० वर्ष होते हैं। इनमेंसे उक्त वर्षादि वाद करनेसे कल्पान्त होनेमें २३४८०३८३९३ वर्ष ६ मास, २५ दिन, ४२ घड़ी और ५१ पल रह जाते हैं। इस गणनासे विदित होगा कि, मानवसृष्टि आरम्भ हुए बहुत दिन बीत गये हैं।

पाँचवाँ अध्याय।

मनुष्यसृष्टिका आदिस्थानऔर वर्णाश्रमबन्ध।

यह तो सर्वतन्त्रसिद्धान्त है कि, वेद जो कुछ इस समय उपलब्ध होता है, वह पृथ्वीकी सबसे पुरानी पुस्तक है। इस कारण वेद और वेदके भाष्यग्रन्थरूपी भगवान् वेदव्यासकृत पुराणोंमें जो विषय मिलेगा, उसको सबसे अधिक प्रामाणिक समझना उचित है। वेद और शास्त्रोंमें जहाँ जहाँ सृष्टि प्रारम्भ होती है, तो पूर्णावयव जीव-समूह उत्पन्न होते हैं और सबसे पूर्णावयव आत्माएँ सबसे पहिले उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार सबसे उन्नत स्थानमें सृष्टि पहिले प्रकट होती है। जगत्सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्माने ब्रह्माण्डसृष्टिकी प्रथम अवस्थामें जब जीवसृष्टिका प्रारम्भ किया, तो वह ब्राह्मस्वर्गमें किया। क्योंकि ब्राह्मस्वर्ग

ब्रह्माण्डका सबसे उत्तम स्थान है। चतुर्दशभुवनोंमें सबसे ऊपरके जन, तप और सत्यलोक ब्राह्मस्वर्ग कहाते हैं। उस समय सबसे प्रथम सनक-सनन्दनादि चार महापुरुष ब्राह्मस्वर्गमें ही प्रकट हुए। वे सब प्रकारसे पूर्णावयव थे। उनकी अवस्था परमहंसकी अवस्था थी। जीवन्मुक्त परम-हंस महदात्माओंमें वासनाका लेशमात्र नहीं रहता। इस कारण वे महात्मा कहलाते हैं। यही परमहंसकी अवस्था मनुष्य-जीवनकी सर्वोत्तम अवस्था है और यही मनुष्यका अन्तिम लक्ष्य है। महात्माओंका अन्तःकरण हर समय ब्रह्म-में लीन रहता है; इस कारण वे ब्रह्मरूपी ही हैं। सुतरां ऐसे महात्माओंके द्वारा भगवान् ब्रह्माका सृष्टिकार्य कुछ भी अग्रसर नहीं हो सका। क्योंकि सृष्टिकार्यमें वासनाकी आवश्यकता होती है। इस कारण वे वासनारहित महात्मा ब्राह्मस्वर्गमें ही रहे। अनन्तर भगवान् ब्रह्माने प्राजापत्य स्वर्ग, जो ऊपरका चतुर्थ अर्थात् महर्लोक है, उसमें सृष्टि आरम्भ की और भगवान्की इच्छामात्रसे यथापूर्व दस प्रजापतियों-की उत्पत्ति हुई।* ये प्रजापतिगण उच्चश्रेणीके देवता थे।

---

*सनकश्च सनन्दश्च सनातनमथात्मभूः।
सनत्कुमारश्च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः॥
तान्वभाषे स्वभूः पुत्रान्प्रजाः सृजत पुत्रकाः।

उन्होंने अपनी इच्छाशक्तिके द्वारा भगवान् ब्रह्माको उनके सृष्टिकार्यमें पूरी सहायता दी और ब्रह्माण्डके चौदह लोकोंमें यथायोग्य स्थानोंमें ऋषि, देवता, पितर, किन्नर, गन्धर्व, असुर, मनुष्य और स्वेदज, अण्डजादि चतुर्विध भूतसंघकी सृष्टि हो गयी।* यह सब सृष्टि भी पूर्णावयव हुई। जैसे

ते नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥
अथाऽभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यो पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तु च नारदः ॥

—विष्णुभागवत, स्कन्ध ३

* एवं मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥
यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।
नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥
किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान्।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥
कृमिकीटपतङ्गांश्च यूका मक्षिकमत्कुणम्।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥
अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥
उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।

आजकलके पदार्थविद्यासेवी विद्वान् मानते हैं कि, वन्दरसे मनुष्यसृष्टि हुई, किन्तु वास्तवमें ऐसी नहीं हुई। जो सृष्टि हुई, वह पूर्णावयव हुई। दूसरी ओर चाहे देवता, चाहे मनुष्य, चाहे उद्भिज्ज, स्वेदज, जरायुज, गो, महिष, हाथी आदिकी जो कुछ सृष्टि हुई, वह बच्चेके रूपमें नहीं हुई। पूर्णावयव हुई और स्त्री-पुरुष पूर्णावयव उत्पन्न हुए। उसके बाद मैथुनीसृष्टि होनेपर गर्भ और बच्चेका सिलसिला चला। यह सिद्धान्त वेदसम्मत और शास्त्रसम्मत ही नहीं, दार्शनिक विज्ञानसम्मत भी है। उस समय इस मनुष्यलोकमें जो मनुष्यसृष्टि हुई, वह भी पूर्णावयव हुई, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। जब भगवान् सर्वशक्तिमान् और पूर्ण हैं और भगवान् ब्रह्मा उनके ही रजोगुणके अधिष्ठाता हैं, तो उनकी की हुई सृष्टि पूर्ण ही होगी। मनुष्यकी सृष्टिमें अपूर्णता

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोद्गमाः ॥
यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम्।
यथायुगं यथादेशं यथावृत्ति यथाक्रमम् ॥
एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः।
यथाकर्मं तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥
येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥
मनुः, अ—१ १ ॥

रहती है; इस कारण मनुष्यकी सृष्टिमें शक्तिका क्रमविकास होता है। परन्तु ब्राह्मीसृष्टिमें पूर्णशक्तिसम्पन्न जीव उत्पन्न होते हैं। यह दार्शनिक युक्तिसे भी सिद्ध है। शास्त्रोंमें लिखा है कि, सबसे पहिले जो मनुष्यसृष्टि हुई, उसमें सब ब्राह्मण ही उत्पन्न हुए। क्योंकि ब्राह्मणोंके जो लक्षण कहे गये हैं, वे पूर्णावयव मनुष्यमें ही हो सकते हैं। वेद और शास्त्रोंके अनुसार ब्राह्मणोंका शरीर, मन और बुद्धि तीनों सत्त्वगुणप्रधान अर्थात् पूर्णावयव होते हैं। इसी कारण पहिली सृष्टिमें जो मनुष्य उत्पन्न हुए, वे पूर्णावयवदेहधारी ब्राह्मण हुए। विरुद्धमतावलम्बिगण यह शंका कर सकते हैं कि, प्रथम जब सब ब्राह्मण हुए, तब न ब्राह्मणोंका अनादित्व सिद्ध होता है, न वर्णाश्रमका ही। इस श्रेणीकी शङ्काका समाधान सुगम है। प्रत्येक कल्पमें वेदोंका प्राकट्य होता रहता है, तौ भी जैसे वेद अनादि हैं और "यथापूर्वमकल्पयत्" अर्थात् सृष्टि पहिले थी उसीके अनुसार कल्पकल्पान्तरमें फिर फिर होती रहती है, इस सिद्धान्तसे जैसी वह अनादि है, वैसीही ब्राह्मणसृष्टि भी अनादि है। उसके मलिन हो जानेपर उसका अधिक पतन न हो और मनुष्यजाति बर्बर न हो, इसलिये वर्णाश्रमव्यवस्था भगवान् मनुके द्वारा बाँधी जाती है। प्रत्येक सृष्टिके प्रारम्भमें ऐसा ही हुआ करता है।

इस कारण वर्णाश्रमशृंखला भी अनादि है और इसी विचार परम्परासे मनुष्यसृष्टिके आदिस्थान भारतद्वीपको ही हम सर्वादि चैतन्यभूमि करके मान सकते हैं।

यह तो सर्वतन्त्रसिद्धान्त है कि, चतुर्दशभुवनोंमेंसे भूर्लोकके अन्तर्गत जम्बुद्वीपके एक विशेष विभागमें भारतवर्षरूपी लोकमें केवल मनुष्योंका आवास है और यहीं वे जन्म सकते हैं। शेष ब्रह्माण्डका जितना अंश है; वहाँ मनुष्य नहीं जन्मते। क्योंकि वह सब भूमि या तो देवभूमि है, या असुरभूमि है। मनुष्यसृष्टि भारतवर्षमें ही हुई है, जिसको इस समय 'वर्ल्ड' अथवा दुनियाँ कहते हैं। इस भारतवर्षके नवखण्डोंके नाम भी पहिले आचुके हैं। वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंके अनुसार यह सिद्धान्त किया जा सकता है कि, भारतवर्षके नवखण्डोंमेंसे भारतद्वीप नामक खण्ड, जिसको आर्यावर्त, हिमवर्ष, मोक्षभूमि आदि भी कहते हैं, उसीमें सृष्टिकी प्रथम अवस्थामें मनुष्यसृष्टि प्रथम हुई। वह भी पूर्णावयव होनेसे उस समय सब ब्राह्मण ही उत्पन्न हुए। भारतद्वीपके किस स्थानविशेषमें पहिले मनुष्यसृष्टि हुई, इसका उल्लेख श्रीमहाभारत नामक पंचम वेदमें इस प्रकार पाया जाता है कि, पञ्जाब प्रान्तकी उत्तरी सीमामें वितस्ता (जेलम) की शाखानदी देविका नामक नदीके

तटपर सप्तचरु तीर्थके पास मनुष्यकी प्रथमसृष्टि ब्राह्मण-शरीरोंमें हुई।* यह मनुष्यसृष्टि क्रमशः आर्यावर्तव्यापी

* श्रीकुण्डञ्च समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत्॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थमुत्तमम्।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः॥
वितस्ताञ्च समासाद्य सन्तर्प्य पितृदेवताः।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत॥
काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च।
वितस्ताख्यमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम्॥
ततो गच्छेत वड़वां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम्।
पश्चिमायान्तु सन्ध्यायामुपस्पृश्य यथाविधि॥
चरुं सप्तार्चिषे राजन् यथाशक्ति निवेदयेत्।
पितृणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
गुह्यकाः किन्नरा यक्षाः सिद्धा विद्याधरा नराः॥
राक्षसा दितिजा रुद्रा ब्रह्मा च मनुजाधिप।
नियतं परमां दीक्षामास्थायाब्दसहस्रिकीम्॥
विष्णोः प्रसादनं कुर्वंश्चरुञ्च श्रपयँस्तथा।
सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवम्॥
ददावष्टगुणैश्वर्यं तेषां तुष्टश्च केशवः।
यथाभिलषितानन्यान्कामान् दत्वा महीपते॥
तत्रैवान्तर्दधे देवो विद्युदभ्रेषु वै यथा।

और तदनन्तर भारतद्वीपव्यापी हुई। उस सृष्टिकी प्रथम अवस्थामें मनुष्यसृष्टि अति सदाचारी थी और सब ब्राह्मणधर्मके पालन करनेवाले थे। तदनन्तर मनुष्यसृष्टि अनार्य होकर

नाम्ना सप्तचरुं तेन ख्यातं लोकेषु भारत ॥
ततो निवृत्तो राजेन्द्र रौद्रं पदमथाविशेत् ।
अभिगम्य महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ॥
अथ गच्छेत् राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम् ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥
त्रिशूलपाणेः स्थानञ्च यत्र लोकेषु विश्रुतम् ।
देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यर्च्य महेश्वरम् ॥
यथाशक्ति चरुं तत्र निवेद्य भरतर्षभ ।
सर्वकीयसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥
अर्धयोजनविस्तारा पञ्चयोजनमायता ।
एतावती देविका तु पुण्या देवर्षिसेविता ॥
ततो गच्छेत् राजेन्द्र दीर्घसत्रं यथाक्रमम् ।
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती ॥
सरस्वत्यां महाभाग अनुसंवत्सरं चरेत् ।
ततो गच्छेत् राजेन्द्र सङ्गमं लोकविश्रुतम् ॥
सरस्वत्या महापुण्यं केशवं समुपासते ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥
ततो गच्छेत् राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम् ।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात् सर्वजन्तवः ॥

—महाभारत, तीर्थयात्रापर्व, अ० ८२

सारे भारतवर्षभरमें अर्थात् सारी पृथ्वीमें फैल गयी और अब भी फैली हुई है। वह अब भी सभ्य-असभ्य जातियोंके रूपसे पृथ्वीमें विद्यमान है। इसके प्रमाण भी शास्त्रोंमें स्पष्टरूपसे मिलते हैं।*

---

* प्रजापतिरकामयत्त प्रजायेयेति स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत—ब्राह्मणो मनुष्याणां अजः पशूनां, यस्मात्ते मुख्याः; बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत तमिन्द्रो देवता अन्वसृज्यत—राजन्यो मनुष्याणां अविः पशूनां तस्मात्ते वीर्यवन्तः; मध्यत: सप्तदशं निरमिमीत तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त—वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां, सोऽन्येभ्यो भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त—शूद्रो मनुष्याणां अश्व: पशूनाम् ।

—तैत्तिरीयसंहिता ।

लोकानान्तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च निरवर्तयत् ॥

—मनुः, अ० १, श्लो० ३१

भूरादीनां लोकानां वाहुल्यार्थं मुखबाहूरुपादेभ्यो ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्रान्यथाक्रमं निर्मितवान् । दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणम् । ब्राह्मणो न विशङ्कनीयः श्रुतिसिद्धत्वात् । तथा च श्रुतिः "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्यादि ।

— कुल्लूकभट्टः ।

असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन् ।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान् ॥
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत् ।

आधुनिक ऐतिहासिकगण कल्पनादेवीकी सहायतासे मनुष्यसृष्टिके आदिस्थानका निर्णय करनेमें कई तरहकी कल्पनाएँ किया करते हैं। यथाः—हिमाचलके उत्तर तिब्बतमें कोई कोई आदिसृष्टिस्थानकी कल्पना करते हैं। कोई इसको मध्यएशिया बताते हैं। कोई एशियामाइनर बताते हैं और कोई उत्तरध्रुवस्थान अर्थात् ग्रीनलैण्ड और नार्वेके उत्तरभागको बताते हैं। इन चारों मतोंकी पुष्टिके लिये किसी प्राचीन पुस्तकका सहारा इन चारोंमेंसे कोई नहीं लेता। प्रधानतः कल्पनाका ही सहारा चारों मतवाले लेते

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णताङ्गतम् ॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥
महाभारत, शान्तिपर्व।

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रू द्रविड़ा काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः ताताराः दरदाः खशाः ॥ —मनुः।

हैं । इनमेंसे एक मतवाले केवल ज्योतिषशास्त्रका सहारा लेते हैं और वे यह प्रमाण देते हैं कि, अमुक नक्षत्र अमुक समय भारतवर्षमें नहीं था और अमुक स्थानमें दिखायी देता था। वेदमें इसका प्रमाण मिलता है । जो दल इस प्रकारके माननेवाले हैं, उन्होंने इस विषयका अनुशीलन नहीं किया है कि, हमारी पृथ्वीका नाम भारतवर्ष और जिसको हम भारतवर्ष समझे हुए हैं, वह भारतद्वीप है। सुतरां ज्योतिषशास्त्रकी सहायता लेनेवालोंकी यह युक्ति बहुत सुगमतासे खण्डित हो जाती है । दूसरी युक्ति दूसरा दल यह देता है कि, एशियामाइनरके बहुतसे स्थानों और नदियोंके प्राचीन नाम भारतद्वीपके स्थानों और नदियोंसे मिलते जुलते पाये जाते हैं; इस कारण एशियामाइनर अपना प्राचीन देश है। बुद्धिमान्‌के निकट उनकी यह युक्ति ही उनके सिद्धान्तका खण्डन करती है। भारतद्वीपरूपी आर्योंकी आदिनिवासभूमिसे जब आर्यगण किसी विशेषकारणसे एशियामाइनरमें जा बसे, तो वहाँके स्थान, नदी, पवत आदिके नामकरणमें उन्होंने अपनी आदिजन्मभूमि भारतद्वीपकी ही स्मृति जागृत रक्खी थी। यदि यह युक्ति मानी जाय, तो उनकी पूर्वयुक्ति आप ही निर्बल हो जाती है । अन्य मतावलम्बियोंके निकट सिवाय कल्पनाके इस प्रकारकी कोई न ज्योतिष

आदिकी युक्ति है और न नामादिका ही कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है। कोई शास्त्रीय युक्ति किसीके समर्थनमें नहीं पायी जाती। अतः एक ओर केवल कल्पनाप्रसूत बालूका बाँध है और दूसरी ओर समाधिसम्भूत पूज्यपाद महर्षियोंके कालज्ञान और वेद-शास्त्रोंके प्रत्यक्षप्रमाणरूपी प्रचण्ड पर्वतोंके बन्ध दृढ़तासे स्थित हैं। जो निष्पक्ष होकर विचार करेंगे, उनके निकट उक्त पार्वत्यबन्ध स्थिर रहेंगे और बालूके बन्ध बह जायँगे।

प्रथम तो मनुष्यसभ्यताका पुरानेसे पुराना पता भारतद्वीपरूपी हिन्दुस्थानमें जैसा लगता है, वैसा भारतवर्षरूपी पृथ्वीके और किसी देशमें नहीं लगता। यदि मनुष्यसृष्टि आदिकालमें पूर्णावयव हुई, यह स्वीकार किया जाय, तो जिस देशमें मनुष्यसभ्यताकी प्राचीनताका, दर्शनोंका, शिल्पादिका और वेद जैसे प्राचीन ग्रन्थोंका आविर्भाव हुआ है, वही देश मनुष्यकी आदिनिवासभूमि हो सकता है। जहाँ उत्पन्न हुए मनुष्य जगत्की सभ्यताके पथप्रदर्शक और नाना विद्याओंके आदि आविष्कर्ता बने, उसी भूमिमें आदिमनुष्यसृष्टि हुई, यह स्वतःसिद्ध है। द्वितीयतः, जब साधारण विचारसे यह देखनेमें आता है कि, भारतद्वीपकी प्रकृति पृथ्वीभरके सब देशोंकी प्रकृतिसे पूर्ण

है और उसका महत्त्व प्राचीनकालसे ही देखनेमें आता है, तो पूर्णावयव मनुष्य आदिसृष्टिमें यहीं जन्म ले सकते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। भारतद्वीपका पर्वतराज हिमालय पृथ्वीके सब पर्वतोंसे सर्वोन्नत, सब ऐश्वर्योंसे पूर्ण और अतिसुन्दर है । भारतद्वीपमें ही गङ्गा जैसी नदी प्रवाहित होती है, जिसके जलकी आजकलके साइण्टिस्टोंने परीक्षा करके सिद्ध किया है कि, वह जल सर्वरोगहारी है। भारतद्वीपके विभिन्न प्रान्तोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र चारों जातिकी भूमियाँ विद्यमान हैं। भारतद्वीपकी भूमिमें सब प्रकारके अन्न और सब प्रकारके फल उत्पन्न होते और हो सकते हैं। यह भारतद्वीपका ही सौभाग्य है कि, यहाँ नाना प्रकारके रसाल (आम) होते हैं, जो पृथ्वीमें और कहीं नहीं होते। सब देशोंके फल, पुष्प, औषध आदि यहाँ उत्पन्न होते हैं। छहों ऋतुओंका यहीं विकास यथासमय होता है और भारतद्वीप ही ऐसा देश है कि, जहाँ एक कालमें छहों ऋतु कहीं न कहीं विद्यमान रहते ही हैं। इससे भारतद्वीपकी भूमिकी पूर्णता स्वतःसिद्ध होती है और इन सब कारणोंसे भारतद्वीपकी भूमि ही आदिकालमें पूर्णावयव मनुष्यसृष्टिको उत्पन्न करनेकी शक्ति रखती है, यह सुगमतासे सिद्ध हो सकता है।

वैदिक दर्शकोंका यह दृढ़ सिद्धान्त है कि, मनुष्यके अतिरिक्त उद्भिज्ज, स्वदेज, अण्डज और जरायुजरूपी चतुर्विध भूतसंघ प्रकृतिमाताके आज्ञाधीन होकर चलते हैं। उनकी आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिकी क्रियाएँ, उनकी जीवनयात्रा सब प्रकृतिमाताके इंगितके अनुसार ही होती रहती है। चतुर्विध भूतसंघोंमें जिस जीवका जो स्वभाव है, उसका विरुद्धाचरण वह कर नहीं सकता। गौको यदि मांस खिलाया जाय अथवा सिंहको घास खिलाया जाय, तो वह नहीं खायगा और मर जायगा। असमयमें उन सब चतुर्विध-भूतसंघोंके जीवोंमें सृष्टि उत्पन्न करनेकी क्रिया हो ही नहीं सकती। उनमें जब यह क्रिया होती है, तो योग्य-कालमें ही हुआ करती है। उन सब जीवोंकी चेष्टाएँ प्रकृतिमाताके सम्पूर्ण अधीन रहती हैं, इसको बुद्धि-मानमात्र ही स्वीकार करेंगे। यही कारण है कि, उनमें धर्म और अधर्म, पाप और पुण्यकी न जिम्मेवरी है और न यह उनका अधिकार ही माना गया है। मनुष्यजीवमें इसके विरुद्ध अधिकार स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य पूर्णावयव-जीव होनेके कारण उसमें स्वाधीनता आजाती है और वह आहार, निद्रा, भय, मैथुनादिकी क्रियाएँ अपनी इच्छासे कर सकता है। वह प्रकृतिके नियमोंका उल्लङ्घन करके स्वेच्छा-

चारी भी बन सकता है। यही कारण है कि, मनुष्यजाति उन्नतसे उन्नत रूपको प्राप्त करके भी नीचेकी ओर गिरा करती है और यही कारण है कि, मनुष्यमें अधर्म चेष्टाको रोककर धर्मचेष्टाके बढ़ानेका प्रयत्न सब धर्मों और सब देशोंमें यथासम्भव किया जाता है। पृथ्वीके इतिहासके पाठ करनेसे यह ज्ञात होगा कि, सब देशोंके इतिहास हाथ उठाकर साक्षी दे रहे हैं कि, जिस मानवजातिमें वर्णाश्रमशृंखला नहीं थी, वे सब मनुष्यजातियाँ कालान्तरमें कालके कवलमें पहुँच गयी हैं। जहाँ तक कि, प्रबलपराक्रान्त जगद्विजयिनी ग्रीकजातिका केवल नाम रह गया है और असल ग्रीकजाति पृथ्वीसे उठ गयी है। इसी तरह जगद्विजयिनी और वर्तमान पाश्चात्य सभ्यताकी गुरु रोमनजातिका तो नाम तक लुप्त हो गया है और उसकी जगह एक वर्तमान इटालियनजाति उस देशपर आधिपत्य कर रही है।

प्रकृतिका प्रवाह निम्नगामी हुआ करता है। प्रकृतिके इसी स्वाभाविक नियमके अनुसार सृष्टिके आदिकालमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंमें मैथुनीसृष्टिके आगे बढ़नेपर क्रमशः उनमेंके नरनारीगण नीचेकी ओर गिरने लगे। उनमें कर्मसंकरता आने लगी और वे ब्राह्मणोंके उन्नत अधि-

कारसे च्युत होने लगे। शास्त्रोंमें प्रमाण है कि, सृष्टिकी इस दशामें सृष्टिकर्त्ता भगवान् ब्रह्माजीने कालके राजा मनु नामक एक देवताको उत्पन्न किया और देवलोकके कालराज राजा मनुने इस भारतद्वीपमें आकर उस कर्मसंकर मनुष्यजातिके चार विभाग कर दिये। वे ही चार विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहाते हैं। शास्त्रोंमें भी यह प्रमाण मिलता है कि, अन्य सब लोकोंकी सृष्टि ठीक चलती रही। उच्च लोकोंमें देवगण और अधोलोकोंमें असुरगण, जो सब भोगलोक हैं,—ब्रह्माण्डके पूर्वसंस्कारोंके अनुसार अपने अपने संस्कारोंको लेकर जन्मे हुए भोगशरीरप्राप्त नाना देवयोनियोंके देवपिण्डधारी जीवगण मर्यादासे चलते रहे। परन्तु हमारी यह पृथ्वी मृत्युलोक होनेसे और कर्म करनेमें यहाँ पूर्ण स्वाधीनता रहनेसे प्रथमसृष्टिमें उत्पन्न ब्राह्मणोंके कर्मोंमें फेर पड़ने लगा। उनमेंसे बहुत लोग अपने उच्च आदर्शसे वैसे वैसे गिरते जाने लगे, जैसी जैसी बैजीसृष्टि आगे बढ़ने लगी। फिर मनुष्योंके ब्राह्मणादि विभाग इस प्रकारसे किये गये कि, वे चारों बन्ध बन गये। इन्हीं चारों बन्धोंने मनुष्यजातिकी गिरती हुई धाराको रोका है और अभीतक वे चारों बन्ध मानवसृष्टिकी आदिभूमि भारतद्वीपमें टूटी-फूटी दशामें सबको दिखायी पड़ते हैं।

यह वर्णाश्रमबन्ध प्रत्येक कल्पमें सृष्टिकी आदि-अवस्थामें बाँधे जानेसे इसे सादि कहते हैं और कल्पान्तरमें होते रहनेसे अनादि भी कह सकते हैं। इस कारण वेदोंकी तरह इसका आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। तत्त्वतः वर्णाश्रम अनादि ही है। इस सिद्धान्तको वेद और सब शास्त्रोंने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है। दूसरी ओर वर्णाश्रम सत्यसिद्धान्तसे युक्त होनेके कारण चाहे वर्णाश्रम-बन्ध कैसी ही टूटी फूटी अवस्थामें हो जाय, किन्तु इसका नाश नहीं हो सकता। क्योंकि आध्यात्मिकता सत्य होनेके कारण आध्यात्मिक उन्नतिशील मनुष्यजातिका एक बार ही पृथ्वीसे लोप नहीं हो सकता।

इस बन्धके सम्बन्धमें एक अलौकिक औपनिषदिक दृश्य शास्त्रोंमें खींचा गया है। जिसके पाठ करनेसे इस लोकोत्तर सामाजिक शृंखला (सोशियालाजी) की अपूर्वता, असाधारणता और मधुरता बुद्धिमानोंके ध्यानमें आवेगी। भगवान् शम्भु नित्यपितृगण, जो एक श्रेणीके देवता हैं, उनसे कहते हैं:—"देखो! मेरी श्यामा प्रकृतिके दो रूप हैं। वही जड़रूपा है और वही जीवभूता चेतनमयी है। वह अज्ञानपूर्ण जड़रूप धारण करके सदा सृष्टिको प्रकट करती है और चेतनमयी स्रोतस्विनी

होकर मेरे स्वस्वरूपपारावारमें प्रवेश करती है। वह चिन्मयी नदी जड़मय महापर्वतसे निकलकर प्रथम उद्भिज्ज, तदनन्तर स्वेदज, तदनन्तर अण्डज, तदनन्तर जरायुज नामधारी खादमें सरलतासे बहती हुई मनुष्यलोकरूपी अधित्यकामें पहुँचती है। उस अधित्यकाके नीचे महती उपत्यकाएँ और गह्वर आदि विद्यमान हैं; जिनमें उस पवित्र तरङ्गिणीका जल स्थान स्थानपर स्वतः ही वह जाया करता है। हे पितृगण! उस स्रोतको अव्याहत, नीरन्ध्र और अविच्छिन्न रखकर नदीकी धाराको धरातलपर सरल रखनेके लिये वर्णाश्रमके आठ वन्ध वाँधे गये हैं। इसी कारण वह अलौकिक त्रिलोकपावनी नदी सरल पथको अवलम्बन करके मुझमें परमानन्दप्राप्तिके हेतु प्रवेश करती है। हे पितृगण! इसमें आपलोग विस्मित न हों। देवतागण उस नदीमें आनन्दपूर्वक अवगाहन करके अभ्युदयको प्राप्त होते हैं और ऋषिगण उस नदीके दोनों तटोंपर समासीन तथा ब्रह्मध्यानमें मग्नहोकर निःश्रेयसपदको प्राप्त करते हैं। आपलोग निरन्तर उन बन्धोंको सुदृढ़ रखनेके लिये उनके पास रहकर उनकी रक्षा करनेमें प्रवृत्त हों। आपके इस जगन्मङ्गलकर शुभ कार्यमें सदाचारी ब्राह्मणगण और सती नारियाँ सदा सहायक रहेंगी।*

इस प्रकारसे आध्यात्मिक उन्नतिशील मनुष्यजातिको चिरजीवी बनानेके लिये इसबन्धनकी महिमा वेद और शास्त्रोंमें

---

* अत्रैकोपनिषद्रहस्यमन्तिके वः स्वधाभुजः ।
गुह्यं प्रकाशयेऽत्यन्तमद्भुतं तत्प्रपश्यत ॥
श्यामायाः प्रकृतेर्मे स्तो द्वे रूपे परमाद्भुते ।
यतः सैव जडा जीवभूता चैतन्यमय्यपि ॥
अज्ञानपूर्णरूपेण जडरूपं धरत्यसौ ।
सृष्टिं प्रकाशयेच्छश्वन्नात्र कश्चन संशयः ॥
असौ चैतन्यपूर्णा च भूत्वा स्रोतस्विनी मम ।
स्वस्वरूपात्मके नित्यं पारावारे विशत्यहो ॥
सरिन्निर्गत्य चिद्रूपा सा महाद्रेर्जडात्मकात् ।
उद्भिज्जे स्वेदजे चैवमण्डजे च जरायुजे ॥
सलीलं खातरूपेऽलं प्रवहन्ती स्वधाभुजः ।
मर्त्यलोकाधित्यकायां निर्बाधं व्रजति स्वयम् ॥
तस्या अधित्यकाया हि निम्नस्थाश्चैकपार्श्वतः ।
उपत्यका महत्यश्च विद्यन्ते गह्वरादयः ॥
यत्र तस्याः पवित्रायास्तरङ्गिण्या जलं स्वतः ।
स्थाने स्थाने वहन्नित्यं निर्गच्छति स्वभावतः ॥
अव्याहतञ्च नीरन्ध्रमविच्छिन्नं निरापदम् ।
स्रोतस्तन्नितरां कृत्वा नदीधारां धरातले ॥
विधातुं सरलां सौम्यामष्टबन्धाः स्वधाभुजः ।
धर्मा वर्णाश्रमा एव निर्मिता नात्र संशयः ।
त्रिलोकपावनी दिव्या सा नदी सुगमं हितम् ।

बहुत कुछ गायी गयी है; जो अभीतक मनुष्यकी आदिजन्म भूमि भारतद्वीपमें देखने और सुननेमें आती है। इससे निरपेक्ष होकर सृष्टिविज्ञानको हृदयङ्गम करनेवाले, भारतद्वीपकी प्रकृति और ऐश्वर्यके महत्त्वको रागद्वेषशून्य होकर समझनेवाले और वर्णाश्रमधर्मरूपी लोकोत्तर समाजविज्ञान (सोशियालाजी) की दूरदर्शिताका अनुभव करनेवाले बुद्धिमान् विद्वज्जन यह समझकर आनन्द प्राप्त कर सकेंगे कि, भारतद्वीप ही आदिसृष्टिकी प्राकट्यभूमि है और भारतवर्षका वर्णाश्रमरूपी आदि मनुष्यसमाजविज्ञान संसारमें अलौकिक है।

पन्थानमवलम्ब्यैव परमानन्दलब्धये ॥
मयि नित्यं प्रकुर्वाणा प्रवेशं राजतेतराम् ।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः ॥
निर्जरा निखिलास्तस्यां नद्यामानन्दपूर्वकम् ।
सर्वदैवावगाहन्ते लभन्तेऽभ्युदयञ्च ते ॥
उभयोस्तटयोस्तस्याः समासीना महर्षयः
ब्रह्मध्याने सदा मग्ना यान्ति निःश्रेयसं पदम् ॥
यूयं दार्ढ्याय बन्धनां तेषाञ्चैव निरन्तरम् ।
रक्षितुं तान् प्रवर्तन्ते पार्श्वमेषामुपस्थिताः ॥
भवतामत्र कार्ये च विश्वमङ्गलकारके ।
सदाचारिद्विजाः सन्ति सत्यो नार्यः सहायिकाः ॥
—शम्भुगीता, अध्याय ४

छठा अध्याय ।

—:※:—

भारतद्वीपका सामाजिक संघटन ।

—:※:—

जैसा वृक्षका वनके साथ सम्बन्ध है, वैसा ही मनुष्यका मनुष्यसमाजके साथ सम्बन्ध है। जिस प्रकार दावानलसे वन-की रक्षा करनेके लिये जंगलोंमें पृथक् पृथक् खण्ड (Eire line) बना दिये जाते हैं, जिससे एक खण्डकी अग्नि दूसरे खण्ड-में जाकर समस्तवनको भस्म न कर डाले, उसी प्रकार चारों वर्णोंके चार अलग अलग खण्ड बनाकर उनके द्वारा वर्णाश्रम-वन्धकी दृढ़तासे आध्यात्मिक उन्नतिशील मनुष्य-समाजकी बड़ी सुकौशलपूर्ण रीतिसे भारतद्वीपमें रक्षा की गयी है। भारतद्वीपका समाजविज्ञान वर्तमान जगत्के समाजविज्ञान (सोशियालाजी) से कुछ विचित्र और विलक्षण है। वर्तमान सभ्य जगत्की सोशियालाजी एक तो केवल लौकिक परीक्षाके ऊपर निर्भर करके बनायी गयी है। दूसरी बात

यह है कि, वर्तमान सभ्यजगत्के चिन्ताशील नेताओंने जिस सुखके अन्वेषणके लिये सोशियालाजीका अनुशीलन किया है, उस सुखका यथार्थ स्वरूप क्या है, उसका पता वे अभी तक नहीं लगा सके हैं। तीसरी बात यह है कि, जिस मनुष्यसमाजका स्त्रीजाति एक बहुत ही आवश्यकीय और प्रधान अङ्ग है, उस स्त्रीजातिके धर्म और पुरुष-जातिके धर्म और दोनोंके अलग अलग अधिकारोंपर उनकी दृष्टि ही आकृष्ट नहीं हुई है। और चौथी बात यह है कि, पदार्थविद्याका अनुशीलन करनेवाला वर्तमान सभ्य जगत् न तो स्थूल मनुष्यशरीरके भीतरके दो अङ्गों—सूक्ष्म-शरीर और कारणशरीर-के अस्तित्वपर दृष्टि डालता है और न यही विश्वास करता है कि, इस स्थूल मृत्युलोकके पीछे उसका चालक एक बड़ा प्रतापशाली दैवलोक है। इन सब त्रुटियोंके कारण वर्तमान सभ्यजगत्की सोशियालाजी अर्थात् समाजसंघटनप्रणाली प्राचीन भारतद्वीपवासी वर्णा-श्रमशृंखलासेवी आर्योंकी समाजसंघटनप्रणालीसे बहुत ही दुर्बल है, इसमें सन्देह नहीं है।*

---

* It may with safely be assumed that, when millions of intelligent people practice certain customs for thousands of

इस दुर्बलताका एक प्रधान कारण यह भी है कि, वर्तमान सभ्यजगत्की सोशियालाजी अदूरदर्शी मनुष्यबुद्धिसम्भूत है और प्राचीन भारतद्वीपकी सोशियालाजी दूरदर्शी

years, there must be something in these customs to redeem them from the charge of folly or criminality. This should be frankly admitted in the case of the Hindus, who have been not inappropriately called by prof. Max Muller, 'a nation of philosophers'. It is certain that the whole religious and social system of the Hindus is the outcome of centuries of profound thought and carefully recorded experience. Whatever we English people may be able to teach them in Mechanical Arts and in experimental science we have very little to teach them in matters of social philosophy. Everything tending to peace and well-being of society has been long since reduced by the Hindus to well-ordered rules deduced from the unchanging facts of nature. Any introduction among them

देवलोकके नेतृवृन्दोंके द्वारा संस्थापित हुई है। सृष्टिके आदि-कालमें जब श्रीभगवान् ब्रह्माजीने देखा कि, मनुष्यसमाज, जो सारे ब्रह्माण्डका केन्द्रीभूत शक्तिरूप है, वही भारत-वर्षीय मनुष्य-समाज नीचेकी ओर गिरता जा रहा है। जिस समय उन्होंने ऐसा अनुभव किया, उसीसमय वर्णाश्रमके प्रवल बन्धके द्वारा भारतीय मनुष्यसमाजकी नीचेकी ओर गिरती हुई दशाको कालचक्रके राजा मनुको भेजकर रोक दिया; जैसा कि, पहिले एक औपनिषदिक दृश्य बताकर सिद्ध किया गया है। देवबुद्धिसे सृष्टिकी आदि अवस्थामें जो सोशियालाजी बनी और उसके जो सिद्धान्त निश्चित किये गये, वे सब गंभीर विज्ञानकी भित्तिपर स्थित हैं।

प्राचीन आर्योंके समाजविज्ञान-(सोशियालाजी) को सफल बनानेके लिये, उसकी सामाजिक शृंखलाको सुदृढ़

---

of our crude ideas can only result in mischief and tend to bring the Hindus to the same chaotic scramble of antagonistic interest which is the characteristic of our own disgraceful social muddle.

—Frederic Pincott.

बनानेके लिये और साथ ही साथ आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजातिको कालके तपनसे दग्ध न होने देनेके लिये जो आठ (अग्निरक्षक रेखाएँ fire lines) बनायी गयी हैं और उसकी दृढ़ताके लिये जो बन्ध बाँधे गये हैं, वे ही चातुर्वर्ण्य-के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्ररूपी चार वर्ण हैं और चतुराश्रमके ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासरूपी चार आश्रम हैं। चार वर्ण तो प्रधानतः ऐहलौकिक अभ्यु-दयके हेतु और चार आश्रम प्रधानतः पारलौकिक अभ्युदयके हेतु हैं और निःश्रेयसप्राप्तिके लिये आठों ही परम सहायक हैं। वेदके मीमांसादर्शनमें स्पष्टरूपसे प्रमाणित किया गया है कि, यथार्थ सुखरूपी परमानन्दकी उपलब्धि करानेके लिये ही चार आश्रमोंकी व्यवस्था बाँधी गयी है। विषयोंमे जो सुखकी प्राप्ति होती है, उसकी पर्यालोचना करनेसे यही सिद्ध होता है कि, विषयोंमें आनन्द नहीं है, किन्तु आनन्द परमात्माका स्वरूप है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, मिष्टान्नमें आनन्द नहीं है; यदि ऐसा होता, तो यकृत्के रोगके रोगीको भी मिष्टान्न सेवनसे आनन्द आता। विषयके संसर्गसे इन्द्रियाँ मनको एकाग्र करके अपने आप ही समाधिस्थ करा देती हैं। योगका सिद्धान्त यह है कि, समाधिस्थ अन्तःकरणमें परमानन्दस्वरूप आत्माका

स्वतः ही विकाश हो जाता है। उसीकी झलकसे विषय-सुखमें जीवको आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। *

यथार्थ सुख क्या है? यथार्थ आनन्द क्या है? विषयानन्दमें और यथार्थ आनन्दमें भेदप्रतीति कैसे हो सकती है? आनन्दकी उपलब्धि क्रमशः कैसे बढ़ती और कहाँ उसकी समाप्ति होती है? इन सब गभीर आध्यात्मिक रहस्योंका पता वर्णाश्रमधर्मी प्राचीन आर्यजातिके ब्राह्मणोंने ही लगाया था। वर्तमान सभ्यजगत्‌को उसका रहस्य स्वप्नमें भी अनुभूत नहीं हो सकता। अग्रजन्मा ब्राह्मणोंकी तपस्या, विद्या और शक्ति सब वर्णोंकी अपेक्षा अधिक होनेपर भी वे तपस्या, त्याग और अध्यात्मचिन्तनको ही मुख्य मानकर, क्षत्रियोंपर राजानुशासनका भार देकर, स्वयं वनमें जाकर वास किया करते थे। एकाधारमें सब ऐश्वर्योंके अधिकारी होनेपर भी धनको हेय समझकर तपस्या और स्वाध्यायको वे उपादेय समझते थे। ऐश्वर्यशाली नगरोंको त्याग करके वनमें जाकर एकान्तसेवी होकर वैदिक कर्म, ब्रह्मोपासना और आत्मानात्म-विचारमें तृप्त रहते थे। उनका यह सिद्धान्त निश्चित था कि, वैषयिक सुखमें सुख नहीं है। उनका यह निश्चय

* योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
—योगदर्शन।

था कि, सातों असुरलोकरूपी बिलस्वर्गसे लेकर भूः भुवः स्वः रूपी त्रिलोकके सब सुख वैषयिक सुख हैं। इस कारण वे त्रिलोकके सुखोंके त्यागका सङ्कल्प कर तब संन्यासाश्रम ग्रहण करते थे। वर्णाश्रमकी यावत् शृंखलाकी मौलिक भित्ति यथार्थ सुखका अन्वेषण है और उसके सब साधनका फल उत्तरोत्तर यथार्थ सुखकी प्राप्ति है। उन्होंने यहाँतक पता लगाया था कि, यथार्थ सुखकी प्राप्ति उत्तरोत्तर कैसे हो सकती है। वेद और शास्त्रका यही सार-सिद्धान्त है कि, आनन्द आत्माका स्वरूप है। आत्मा सत् है, चित् है और आनन्दस्वरूप है, यह सर्वसिद्ध सिद्धान्त है। उस आत्माके स्वरूपको इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्रकृति आच्छन्न किये रहती है। जब उत्तरोत्तर इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्रकृतिके इस आवरणभावको दूर कर सकनेपर यथार्थ आनन्द उदय स्वतः ही होता है। जब तत्त्वदर्शी महापुरुष वैषयिक सुखसे मुँह फेर लेता है, तो पहिले वह अपने इन्द्रियोंपर आधिपत्य स्थापन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है। उस समय उस महात्माको जो सुखकी प्राप्ति होती है, वह यथार्थ सुखकी पहिली अवस्था है। ऐसे महापुरुषको उसके स्थूलशरीरके अन्त होनेपर प्राजापत्य-स्वर्गकी प्राप्ति होती है। यह ऊपर-का चौथा लोक है। जो महापुरुष ऐसे संयमी हो जाते हैं कि,

इन्द्रिय और मन दोनोंपर जिनका पूर्ण आधिपत्य हो जाता है, उनके अन्तःकरणमें जिस सुखका उदय होता है, वह यथार्थ सुखकी दूसरी अवस्था है। ऐसे महात्माओंके स्थूलशरीर-का अन्त होनेपर उनको प्रथम-ब्राह्मस्वर्ग अर्थात् जनलोककी प्राप्ति होती है। जो योगिराज महापुरुष महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धितत्त्वपर पूर्ण आधिपत्य कर लेते हैं और जब चाहें, ब्रह्ममें युक्तबुद्धिमें समाहित हो सकते हैं, उनको जिस आनन्दकी प्राप्ति होती है, वह यथार्थ सुखकी तीसरी अवस्था है और ऐसे योगिराज महात्माओंके स्थूलशरीरका अन्त होनेपर वे ब्राह्मस्वर्गके द्वितीय लोक अर्थात् तपोलोकको प्राप्त करते हैं। और जो महात्मा कृतकृत्य होकर प्रधान अर्थात् प्रकृतिपर अधिकार कर लेते हैं, उनके अन्तःकरणमें जो आनन्दका विकाश होता है, वह सुखकी तुरीयावस्था है। उनको स्थूलदेहके छोड़नेपर सत्यलोककी प्राप्ति होती है, जो ब्राह्मस्वर्ग और चतुर्दश भुवनोंका सर्वोन्नत लोक है। इस प्रकारसे इन्द्रियसुखको हेय मानकर ब्रह्मानन्दप्राप्तिकी पौढ़ियोंको भली प्रकारसे देखकर ब्रह्मानन्दपारावारमें निमग्न होते हुए जगद्गुरु ब्राह्मणोंने यथार्थ सुखप्राप्तिका मार्ग मनुष्यजातिको बताया है। जिसकी कल्पना भी आजकलके सभ्यजगत्में नहीं हो सकती। सब प्रपञ्चोंसे अतीत, सब

निरानन्दोंसे रहित, अद्वैतभावापन्न और एकाधारमें अस्ति, भाति और आनन्दका जो अद्वैत स्वानुभव है, वही भगवान्‌का स्वरूप है और वही परमानन्दपारावार है। जिसको पूज्यपाद महर्षियोंने ही सबसे पहिले इस मृत्युलोकमें अनुभव किया था।

यह सिद्धान्त सब वैदिक दर्शनोंका सार है। उसी परमानन्दका स्वानुभव प्राप्त करनेके लिये चार आश्रमोंकी सृष्टि हुई है। ब्रह्मचर्य आश्रममें प्रवृत्तिके उपाय सिखाये जाते हैं, गृहस्थाश्रममें वेद और शास्त्रविहित प्रवृत्ति करायी जाती है और मनुष्यको निवृत्तिमार्गमें चलनेके लिये तैयार कराया जाता है। वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखायी जाती है और संन्यासाश्रममें निवृत्तिका पूर्ण अधिकार प्राप्त कराते हुए मनुष्यको आत्माकी उपलब्धि कराके परमानन्दपारावारमें उन्मज्जन-निमज्जन कराया जाता है। यही प्राचीन आर्योंके चतुराश्रमका मौलिक विज्ञान है।*

* प्रवृत्ते रोधको ज्ञेयो वर्णधर्मो महामुने।
आश्रमस्य च धर्मो हि निवृत्तेः पोषकः स्मृतः॥
प्रवृत्तिं शास्त्रविहितां ब्रह्मचर्ये तु शिक्षते।
समाचरति गार्हस्थ्ये तां प्रवृत्तिं पुमान् भुवि॥
वानप्रस्थे निवृत्तेस्तु शिक्षा पुंसु प्रजायते।
निवृत्तिः पूर्णतां याति संन्यासाश्रममेत्य वै॥

जिन जातियोंमें वर्णाश्रमव्यवस्था नहीं है अथवा जो वर्णाश्रमव्यवस्थाको नहीं समझते हैं, वे कई तरहकी निर्मूल शङ्काएँ किया करते हैं। यथाः—पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें जैसी रजोवीर्यकी शुद्धि नहीं है, वैसी ही वर्णाश्रमी हिन्दुओंमें भी नहीं है। यद्यपि रजोवीर्यका सम्मिश्रण सब जातियोंमें ही हो सकता है और नाना कारणोंसे वृद्ध हिन्दु-जातिमें भी इस प्रकारका सम्मिश्रण हो जाना सम्भव है; परन्तु इस प्रकारके सम्मिश्रणके न होनेका संबसे बड़ा प्रमाण गोत्र है। ऋषिगोत्र जिन जिन जातियोंमें प्रचलित हैं, उन उन जातियोंमें रजोवीर्यकी शुद्धि बराबर चली आयी है, ऐसा माना जा सकता है। दूसरी ओर वर्तमान समयमें हिन्दु-जातिके चातुर्वर्ण्यमें और उसके अन्तर्विभागोंमें वैवाहिक सम्बन्धके जो अलग अलग गोल बाँध दिये गये हैं, वे रजो-वीर्यशुद्धिके विचारसे दूषण नहीं, भूषण ही हैं।

आश्रमाणां चतुर्णां वै प्रधानो धर्म उच्यते।
संयमस्तु गृहस्थानां नियमो ब्रह्मचारिणाम्।
वानप्रस्थाश्रमस्थानां तपस्त्यागस्तु न्यासिनाम्॥
संन्यासगीता, अ० ६।

प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्मः॥ १४५॥
निवृत्तिपोषकस्त्वपरः॥ १४६॥
कर्ममीमांसा, धर्मपाद।

मनुष्यसमाजके दो प्रधान अङ्ग हैं। एक स्त्री और दूसरा पुरुष। स्त्री क्षेत्ररूपा है और पुरुष वीजरूप है। जिस प्रकार वीजके भूमिमें बोनेतक ही वीजकी सुरक्षा करनेकी आवश्यकता है। उसके बाद वीजका ठीक ऊगना, वृक्ष-शाखाओंका बढ़ना और फलका ठीक फलना, सब भूमिकी योग्यतापर निर्भर है। ठीक उसी प्रकार सृष्टिकार्यमें नारीकी प्रधानता है। सृष्टिक्रियामें स्त्री मुख्य और पुरुष गौण है; क्योंकि पुरुषका कार्य केवल कुछ मिन्टोंका है और स्त्रीकी जिम्मेवरी नौ दस महीने और उससे भी अधिक है। तीसरी विचारकी वात यह है कि, पुरुषके व्यभिचारका परिणाम केवल उसके अपने शरीरतक ही रहता है, परन्तु स्त्रीका व्यभिचार कुल, जाति और मनुष्यसमाजको नष्ट कर देता है। इस प्रकारसे जितना ही विचार किया जायगा, सृष्टिक्रियामें स्त्रीकी प्रधानता और समाजके संघटनमें पुरुषकी प्रधानताका अनुभव होगा। इसी अलङ्घनीय और अपरिवर्तनीय सिद्धान्तोंको लक्ष्यमें रखकर भारतद्वीपके प्राचीन आर्योंने अपनी सोशियालाजीकी भित्ति स्थापना की थी। ❀

❀ द्वे धारे स्वतन्त्ररूपत्वात् ॥ ५५ ॥

—कर्ममीमांसा धर्मपाद ।

इसी बीज और भूमिके अधिकारोंको अपने विचारके सम्मुख रखकर और स्त्रीजातिकी जिम्मेवरीके अनुसार उसके महत्त्वको सम्मुख रखकर नारीजातिकी पवित्रता-रक्षाके लिये महर्षियोंने अपनी वर्णाश्रमरूपी सोशियालाजीके दृढ़ सिद्धान्तोंमें नारीजातिके त्रिलोकपवित्रताकारी धर्मोंका समावेश किया है। नारीजातिको जगज्जननी भगवतीका स्वरूप समझना, कुमारी अवस्थामें मूर्तिमती दुर्गारूपसे उसकी पूजा करना, विवाहके अनन्तर सौभाग्यवती अवस्था-में महालक्ष्मीरूपसे उसका आदर करना, विधवा अवस्थामें

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥—मनुः।

विधवोद्वाहो व्योमकुसुमवदतः॥ ११४॥
—कर्ममीमांसा, धर्मपाद।

तदादर्शौ दुर्गा गौरी महामाया च॥ १२०॥
—कर्ममीमांसा, धर्मपाद।

सपिण्डा सगोत्रा वयोज्येष्ठा च कन्या परिवर्जनीया॥ ६७॥
—कर्ममीमांसा, संस्कारपाद।

असपिण्डा च मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥—मनुः।

सर्गे नार्याः प्राधान्यम् कौषेयकीटवत्॥११६॥
तच्छुद्धिरक्षणम् क्षेत्रवत्॥११७॥
—कर्ममीमांसा, धर्मपाद।

संन्यासिनी और महामायारूपसे उसका सम्मान करना, यह वर्णाश्रमका सुप्रसिद्ध शिष्टाचार है। कन्यामें यौवनका लक्षणरूप रजोधर्म होनेसे पूर्व उसका विवाह करनेकी आज्ञा सब महर्षियोंने एकवाक्य होकर इस कारणसे दी है कि, उसका अन्तःकरण पतिदुर्गके द्वारा सुरक्षित हो जाय और किसी प्रकार कलङ्कित न हो सके। आर्यमहिलाको सर्वप्रकारसे सुरक्षित रखनेकेलिये ही उसको निरंकुश और स्वाधीन न बनाकर सर्वदा वर्णाश्रमश्रृंखलामें परतन्त्र बनाया है। नारीजातिकी यह तपस्या उसकी महत्ववृद्धि और मनुष्यसमाजकी सुरक्षाके लिये है। इसीप्रकार सतीत्वधर्मका आदर्श चिरस्थायी रखनेके लिये पूज्यपाद महर्षियोंने विधवाविवाहका निषेध करके विधवा आर्यमहिलाको आजीवन ब्रह्मचर्यपालनकी आज्ञा दी है। प्राचीन भारतद्वीपकी सोशियालाजीमें एक ओर नारीजातिकी पूजाद्वारा पुरुषकी तपस्या बढ़ायी गयी है और दूसरी ओर नारीजातिकी तपस्या बढ़ाकर वर्णाश्रम माननेवाली मनुष्यजातिके महत्वको अक्षुण्ण रक्खा गया है। यही कारण है कि, प्राचीन भारतद्वीपकी सामाजिक श्रृंखला (सोशियालाजी) में पूज्यपाद महर्षियोंने अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानकर नाना प्रकारसे आर्यमहिलाओंकी

पवित्रतारक्षा करनेके लिये अतिदृढ़ नियम बनाये हैं। वर्तमान जगत्की सभ्यताके प्रेमीजन उन सब दृढ़ आचारोंके महत्त्वको न समझकर नाना प्रकारकी अलीक जल्पना-कल्पना भले ही करें, परन्तु आर्यमहिलाओंकी पवित्रतारक्षा करना, यही वर्णाश्रमरक्षाका प्रथम दुर्ग है।

असवर्णविवाहको रोककर रज और वीर्यकी शुद्धि-रक्षा करना, यह वर्णाश्रमधर्मकी रक्षाका दूसरा सुदृढ़ दुर्ग है। वर्तमान समयकी पदार्थविद्या (साइन्स) ने यह प्रत्यक्ष दिखाकर सिद्ध कर दिया है कि, कोई पशु जब शिक्षित किया जाता है, तो उसके मातापिता यदि पूर्वसे वैसे ही शिक्षित हों; तो उनके बच्चोंकी शिक्षा बहुत ही थोड़े दिनोंमें सफल हो जाती है। एक सफेद चूहेको यदि पानी भरना सिखाया जाय, तो उसको कमसे कम तीन सौ बार यथायोग्य शिक्षा देनी पड़ती है। परन्तु यदि ऐसे चूहेके बच्चेको शिक्षा दी जाय, जिसके मातापिता इसी क्रियाकी शिक्षा पाये हों, तो उस चूहेके बच्चेको केवल तीस बार शिक्षा देनेसे ही उसमें पानी भरनेका पूर्ण कौशल आ जाता है। पूज्यपाद महर्षिगण इस वंशपरम्पराके विज्ञानसे अच्छी तरहसे परिचित थे। इसके मर्मको अच्छी तरह समझ कर उन्होंने दर्शनशास्त्रमें स्पष्टरूपसे प्रमाणित कर दिया है कि,

गुण और भाव दोनों ही रज और वीर्यके द्वारा आकृष्ट होकर पितामाताके द्वारा वंशपरम्परारूपसे पुत्रमें खिंच आते हैं। प्राचीन भारतद्वीपवासियोंका यह स्थिर सिद्धान्त है कि, सत्व-रज-तमरूपी तीन गुण और अध्यात्म-अधिदैव-अधिभूतरूपी तीन भावोंका आकर्षण वंशपरम्परारूपसे रजोवीर्यके द्वारा साधारणरूपसे अवश्य हुआ करता है। इसीकारण प्राचीन भारतद्वीपकी सोशियालाजीमें जन्मसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियोंका होना निश्चित किया गया है। और यही कारण है कि, असवर्णविवाहका वर्णाश्रमधर्ममें निषेध किया गया है। क्योंकि असवर्ण विवाहके द्वारा रजोवीर्यकी अपवित्रता हो जाती है और जिस त्रिगुणके विचारसे चातुर्वर्ण्यकी शृंखला बांधी गयी है, उस त्रिगुणका आधार शरीर होनेसे और शरीरके उपादान रजोवीर्यके अपवित्र हो जानेसे वर्णधर्मकी व्यवस्था रह ही नहीं सकती। वर्तमान समयकी पदार्थविद्या (साइन्स) भी आगे बढ़ती हुई यह मानने लगी है कि, मनुष्यप्रकृति चार प्रकारकी होती है और मनुष्यश्रेणीका रक्त भी चार प्रकारका होता है। ये चारों श्रेणीके रक्त यदि परस्परमें मिला दिये जाँय, तो मनुष्य मर जाता है और न मरे, तो उसकी आगेकी सृष्टि

नष्ट हो जाती है। पूज्यपाद महर्षियोंका यह प्राचीन सिद्धान्त है कि, जिस मनुष्यजातिमें वर्णाश्रमशृंखला नहीं है, वह मनुष्यजाति चिरजीवी नहीं हो सकती। इसी सिद्धान्तपर स्थिर रहकर पूज्यपाद महर्षियोंने आर्य और अनार्योंके लक्षण किये हैं कि, जो जाति वर्णाश्रम माने, वह आर्य जाति और जो न माने वह अनार्य है।*

---

*रजोवीर्याभ्यामुभयाकृष्टिः ॥ ९४ ॥

—कर्ममीमांसा, संस्कारपाद।

आर्यजातिरुभयोपेता ॥ ११४ ॥

—कर्ममीमांसा, संस्कारपाद।

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ॥
यैवंसदाचार–वर्णाश्रम–धर्मानुगामिनी।
सर्वस्वं मनुते वेदं सार्यजातिरिति स्मृतिः ॥

—स्मृतिशास्त्रे।

यतो वर्णाश्रमैर्धर्मैर्विहीना सर्वथा ननु।
असौ सृष्टिमानवानां कालिकायाः प्रभावतः ॥
प्रकृतेर्मे लयं याति कुत्रचित् समये स्वतः।
धत्ते रूपान्तरं वासौ नात्र कार्या विचारणा ॥

—कालिका पुराण।

गरीयस्त्वमियमार्यजातेः शुद्धित्रैविध्यात् ॥ ११८ ॥

—कर्ममीमांसा, संस्कारपाद।

वर्णाश्रमरक्षाका तीसरा दुर्ग प्राचीन भारतद्वीपकी विवाहपद्धति है। सगोत्रा कन्याके साथ विवाह न करना, वयोज्येष्ठा (अपनी उम्रसे अधिक उम्रकी कन्या) के

An eminent doctor by name Leon Normet a Director of the French Colonial Laboratory at Hue has been making elaborate experiments on human blood for the purpose of discovering serum which may be manufactured to replace the transfusion of blood from one human body to another in case of need.

He found four different types of blood grouped as four separate varieties- He stated that it was fatal to mix them wrongly in transfusion and that in selecting the donors of blood for transfusion care must be taken that their groups should be ascertained beforehand. He definitely states that if blood is transfused to a patient from a donor of a wrong group, the two fluids, instead of blending, would clot and death would be instantaneous.

साथ विवाह न करना और सात्विक रीतिसे विवाहसंस्कार-को सुसम्पन्न करना, यह विवाहके तीन मौलिक सिद्धान्त हैं। वेदके कर्ममीमांसाशास्त्रमें स्पष्टरूपसे दिखलाया गया है कि,

Elaborate arrangements are made in some Hospitals in the continents where the donors of each type are listed and grouped separately to make adequate selections when cases arise, some instances have come in our view in this country also where such transfusion of wrong bloods has caused in some cases perpetual ailments if not immediate death.

प्रकृतेः सर्वशक्तिमत्वात् ॥ ७५ ॥ प्रकृतिमूलो जातिधर्मः ॥ ७६ ॥ तस्माद्वर्णधर्मस्तथा ॥ ७७ ॥ सङ्करोऽश्वतरवत् ॥ ७८ ॥ तदुन्नतिर्विशिष्टसंयोगिवृक्षवत् ॥ ७९ ॥

—कर्ममीमांसा, धर्मपाद।

अधिभूतशुद्धिनाशकोऽसवर्णोद्वाहः ॥ ५० ॥ गुणपरिपन्थी च ॥ ५१ ॥

—कर्ममीमांसा, क्रियापाद।

यत्र त्वेते परिध्वंशा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥

—मनुः, अ० १०

एक ही गोत्रके रज और एक ही गोत्रके वीर्यका सम्मिश्रण करनेसे आगेकी सृष्टि दुर्बल हो जाती है और आगे चलकर कुलका नाश हो जाता है। पदार्थविद्याद्वारा भी यह सिद्ध हो चुका है कि, घोड़ों, गायों और भैंसोंकी नस्लोंमें एक ही पुं-पशुके द्वारा उसीकी वंशपरम्पराके स्त्री-पशुमें यदि नियमित सृष्टि चलायी जाय, तो आगेकी सृष्टि दुर्बल हो जाती है। भारतवर्षकी गोजातिकी हीनता इसी कारणसे हुई है। इसी सिद्धान्तको पशुशास्त्रवेत्ता विद्वज्जन स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार वरसे यदि कन्याकी अवस्था अधिक हो, तो ऐसी वयोज्येष्ठा कन्याके साथ विवाह करना भी वर्णाश्रम शृंखलासे विरुद्ध है। मीमांसादर्शन यह सिद्ध करता है कि, वयोधिका कन्याके साथ विवाह करनेसे शक्तिका नाश होता है। शक्तिके नष्ट होनेसे वंशमें पुरुष-सन्ततिका ह्रास हो जाता है और पुरुषसृष्टिमें क्रमशः शारीरिक शक्तिके साथ ही साथ मानसिक शक्ति और बौद्धिक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। परन्तु ये सब कुफल समयान्तरमें वंशपरम्परारूपसे प्रत्यक्षमें आते हैं। इस कारण प्राचीन भारतद्वीपकी सोशियालाजीमें आर्यजातिकी सुरक्षाके निमित्त ऐसे ऐसे दूरदर्शितापूर्ण वैज्ञानिक नियम बाँधे गये हैं। प्राचीन आर्योंकी विवाहनीति तो बड़े ही

सारगर्भ और दार्शनिक विज्ञानसे विजड़ित है। आजकलके सभ्य जगत्में जिस प्रकार विवाहरीतिको एक सामाजिक सुखप्राप्तिका अवलम्बन करके माना गया है और उसमें धार्मिक और पारमार्थिक विशेषता कुछ भी नहीं समझी गयी है, ऐसे सिद्धान्तसमूह प्राचीन भारतद्वीपके समाज-विज्ञानसे हेय समझे गये हैं। वर्णाश्रमी आर्यजातिमें विवाह एक सर्वमान्य धार्मिक संस्कार माना जाता है। विवाहसंस्कारके द्वारा संस्कृत पुरुष और स्त्री दोनों पूर्णताको प्राप्त होते हैं। जैसे वैद्युतिक जगत् (इलेक्ट्रिसिटी) के रहस्यमें 'पाजिटिव इलेक्ट्रिसिटी' और 'निगेटिव इलेक्ट्रिसिटी' दोनों तड़िन्प्रवाह जब तक एक केन्द्रमें सुसंस्कृत होकर यन्त्र-द्वारा सम्मिलित नहीं होते, तब तक कोई वैद्युतिक क्रिया सम्पन्न नहीं होती। ठीक उसी प्रकार प्राचीन आर्योंका यह स्थिर सिद्धान्त है कि, जबतक विवाहसंस्कारके द्वारा संस्कृत होकर वर्णाश्रममर्यादाके अनुसार स्त्री और पुरुष-का युग्म नहीं बनता, तबतक वे धर्मसाधनका पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते। धर्मसंस्कारसे संस्कृत दम्पति गँठ-बन्धन कर याग, यज्ञ तथा दानादि धर्मानुष्ठान करनेके अधिकारी होते हैं और दोनों जब शुद्धाचारसे युक्त रहते हैं, तभी उनमें दैवीपीठका आविर्भाव होता है। उस पीठके

साथ देवलोकका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। प्राचीन आर्योंका विवाहसंस्कार केवल इस लोकके लिये नहीं है, उसका सम्बन्ध जन्मान्तररूपी आवागमनचक्रके साथ बराबर बना रहता है और आर्यदम्पति केवल इसी लोकमें परस्परको सहायता नहीं देते, किन्तु जन्मजन्मान्तरमें भी एक दूसरेको सहायता देते हुए अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करते हैं। प्राचीन भारतद्वीपके पूज्यपाद महर्षियोंका यह दृढ़ सिद्धान्त है और यही वर्णाश्रमरक्षाका तृतीय दुर्ग है।*

---

*प्रकृतित्वान्नार्या अर्चनमभ्युदयाय ॥ ६० ॥

—कर्ममीमांसा, धर्मपाद ।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥
पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

—मनुः ।

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः ।

भारतद्वीपकी वर्णाश्रमरूपी सोशियालाजीकी सुरक्षाका चतुर्थ दुर्ग शुद्धाशुद्धविवेक है। मनुष्य पूर्णावयव जीव है, क्योंकि उसमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और

स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ॥

—मार्कण्डेय पुराण।

या याश्च ग्रामदेव्यः स्युस्ताः सर्वाः प्रकृतेः कलाः।
कलांशांशसमुद्भूताः प्रतिविश्वेषु योषितः॥

—देवी भागवत।

तपःप्रधानो नार्याः कैवल्यानुपयोगित्वात् ॥ ५२ ॥
ततः स्त्रीपारतन्त्र्यम् ॥ ५३ ॥
नारीधर्मः पारतन्त्र्यप्रधानः ॥ १११ ॥

—कर्ममीमांसा, धर्मपाद।

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्याश्चात्मनो वशे॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ —मनुः।
त्रिविधशुद्धिहन्ता रजस्वलाया ॥ ५५ ॥
प्रातिभाव्यात्सुरक्षादेशः ॥ ५६ ॥
कुलोच्छेदी स्वगोत्रायाः ॥ ५२ ॥
शक्तिक्षयो वयोऽधिकायाः ॥ ५४ ॥

—कर्ममीमांसा, क्रियापाद।

आनन्दमय इन पाँचों कोषोंकी पूर्णता हो जाती है। आर्य-मानवपिण्ड भारतद्वीपकी सोशियालाजीमें वही समझा जाता है, जिस मानवपिण्डमें इन पाँचों कोषोंकी शुद्धताकी सामग्री विद्यमान हो। साधारणरूपसे मनुष्यमें इन पाँचों कोषोंमें जो अलग अलग अपवित्रता आया करती है, वैदिक दर्शन-शास्त्रोंमें उनके अलग अलग नाम गिनाये हैं और लक्षण भी कहे हैं। अन्नमयकोषकी अपवित्रताको मल कहते हैं।

सधवाविधवादीनां स्त्रीणां भेदस्य दर्शनात्।
प्रत्येकं भिद्यते धर्मस्तथा पुंस्वपि सर्वथा ॥
मूर्खपण्डितसंन्यस्तगृहस्थादिविभेदतः।
सर्वेषामेव प्रत्येकं धर्माः प्रोक्ताः पृथक् पृथक् ॥
सर्वत्र व्यापकादस्मात् सर्वजीवहितैषिणः।
धर्मात्सनातनादेव सर्वे धर्माः समुत्थिताः ॥
सनातने ह्यार्यधर्मे वैदिकाचारपालना।
सदाचाररता धर्माध्यात्मतत्त्वविचारणा ॥
वर्णाश्रमाधीनकर्मविभागश्चाऽत्र विद्यते।
अस्मादन्योऽनार्यधर्म इत्यस्मच्छास्त्रनिश्चयः ॥
यैवं सदाचारवर्णाश्रमधर्मानुगामिनी ॥
सर्वेस्वं मनुते वेदं सार्यजातिरिति स्मृतिः ॥
एतद्भिन्नाऽनार्यजातिः सदाचारादिवर्जिता।
अन्यदप्येवमेवोह्यं नोच्यते विस्तृतेर्भयात् ॥

—संन्यासगीता, अ० २

यह मल साधारण मलिनता (गन्दगी) को नहीं कहते। अन्नमयकोषमें जिससे जड़ता उत्पन्न होती है, उसीको कहते हैं। इसी प्रकार प्राणमयकोषकी नियमित क्रियामें और उसकी पवित्रतामें जो बाधक हो, उसको विकार कहते हैं। इसी तरह मनोमयकोषमें जिससे चञ्चलता बढ़ जाती है, ऐसी हानिकारक शक्तिका नाम विक्षेप है। विज्ञानमयकोषमें बुद्धिको जो आवृत करती है, उस शक्तिको आवरण कहते हैं और योगबुद्धिसे समझने योग्य जो आनन्दमयकोष है, उसमें तमोगुणके प्रभावको बढ़ानेवाली जो शक्ति है, उसको अस्मिता कहते हैं। भारतद्वीपकी सोशियालाजीमें जो शुद्धाशुद्धविवेक और स्पर्शास्पर्शविवेकका बड़ा और विस्तृत अधिकार पाया जाता है, उसका उद्देश्य यही है कि, मानवपिण्डमें मल, विकार, विक्षेप, आवरण और अस्मिताकी वृद्धि न होने पावे। कितनी गम्भीर दार्शनिक भित्तिपर प्राचीन आर्योंका शुद्धाशुद्धिविवेक जमाया गया है, वह इस विवेचनसे समझमें आ सकता है। इन पाँचों प्रकारके बुरे प्रभावके उदाहरण दिये जाते हैं। अपवित्र पदार्थोंके सम्बन्धसे अन्नमयकोषके मलके बढ़नेका उदाहरण शास्त्रोंमें दिया गया है। शवका स्पर्श होनेसे प्राणमयकोषपर बुरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि शवमेंसे प्राणमयकोष अन्य-

कोषोंको लेकर निकल जाता है। सूर्य-चन्द्र-ग्रहणके समय जो अशौच माना जाता है, उसका प्रथम सम्बन्ध मनोमय कोषसे होता है। क्योंकि सूर्य और चन्द्रग्रहकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिमें ग्रहणके समय बाधा हो जाती है। उसका बुरा प्रभाव मनोमयकोषसे आरम्भ होता है। कुसंसर्गसे विज्ञानमयकोषपर मलिनता आ जाती है और कुप्रभाव विज्ञानमयकोषसे प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार सदसद् विचाररहित होनेसे आनन्दमयकोष मलिन होकर उसका प्रभाव अन्य कोषोंतक पहुँचता है। यह सब विषय वेदके कर्ममीमांसाशास्त्रमें भलीभाँति सिद्ध कर दिखाया गया है और यह भी सिद्ध करके दिखाया है कि, ये पाँचों प्रभाव एक दूसरेसे मिलेजुले भी रहते हैं। इस कारण इन पाँचों कुप्रभावोंसे सुसंस्कृत आर्यपिण्डको निरन्तर बचाये रखनेके लिये वेद और स्मृतिशास्त्रमें शुद्धाशुद्धविवेका इतना विस्तृत विचार किया गया है।*यह चौथा दुर्ग स्थूलराज्यसे

*आर्यपिण्डविशेषत्वं तद्वत् ॥५७॥ आदितः सुसंस्कृतत्वात् ॥५८॥ तस्मात्सुसंस्कारकेन्द्रम् ॥ ५९ ॥ त्रिविधाकाशसम्बन्धश्च ॥ ६० ॥ शुद्धाशुद्धस्पर्शास्पर्शाधिकारि ॥ ६१ ॥ विष्ठादिभिः प्रथमः ॥ ६२ ॥ शवार्द्रभिर्द्वितीयः ॥ ६३ ॥ अशौचादिभिस्तृतीयः ॥ ६४ ॥ संसर्गादिभिश्चतुर्थः ॥ ६५ ॥ सदसद्भिः पञ्चमः ॥ ६६ ॥ अन्योन्यसम्बन्धाच्च ॥ ६७ ॥—कर्ममीमांसा, क्रियापाद ।

सूक्ष्मराज्यतक विस्तृत होनेके कारण इसके पालनका वरताव वर्णाश्रमी आर्यजातिमें सर्वत्र दिखायी देता है।

इस अलौकिक तथा विशुद्ध दार्शनिक भित्तिपर स्थित धर्ममूलक समाजविज्ञानका मूल अन्तर्जगत्‌रूपी देवलोकमें दृढ़तापूर्वक स्थित है। उसकी शाखा प्रशाखाएँ भूः भुवः स्वः रूपी त्रिलोकमें परिव्याप्त हैं। क्योंकि त्रिलोकके संम्वर्द्धनके साथ इसका दृढ़ सम्बन्ध है। इस कल्पद्रुमका फल और पुष्प आर्यधर्मपालक मानवपिण्डमें सदा उदित रहता है। इस धर्मका पालन करनसे विना प्रयास वर्णाश्रमी आर्य-प्रजा अपने आप अभ्युदयको प्राप्त करती है और जन्म-जन्मान्तरमें इसके भाग्यवान् जीवसमूह आवागमनचक्रमें आते जाते हुए आध्यात्मिक पथमें निरन्तर अग्रसर होते रहते हैं तथा अन्तमें पूर्ण उन्नतिलाभ करके ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करते हैं। उनके अभ्युदय और निःश्रेयसकेलिये विशेष प्रयासकी आवश्यकता नहीं रहती। यही पूज्यपाद महर्षियोंका निश्चित सिद्धान्त है।

मीमांसाशास्त्रमें भारतद्वीपकी वर्णाश्रमरूपी सोशियालाजी-की दार्शनिक भित्ति समझानेके लिये एक बड़ा सुन्दर अलङ्कार दिखाया गया है।* दर्शनशास्त्रमें इस औपनिषदिक दृश्यका

*सर्तात्वमूलं तत् ॥ ४४ ॥ शुद्धः स्कन्धः ॥ ४५ ॥

ऐसा वर्णन है कि, वर्णाश्रमका मूल आर्यमहिलाओंका सतीत्व है। उसका स्कन्ध शुद्धाशुद्धविवेक है। उस वर्णाश्रमरूपी वृक्षकी शाखाएँ वर्णाश्रमधर्मकी शृंखलाएँ (आर्गेनिजेशन) हैं। उस वृक्षके पत्र वर्णाश्रमके सदाचार हैं। उस महाशक्तिशाली और त्रिलोकको पवित्र रखनेवाले वृक्षका पुष्प जीवका अभ्युदय है। क्योंकि वर्णाश्रमकी शृंखला ऐसी बाँधी गयी है कि, जिससे चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके आचार यथाधिकार पालन करते रहनेपर, चाहे नर हो चाहे नारी और चाहे किसी वर्णका व्यक्ति हो, अपने आप ही आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ अभ्युदयको प्राप्त करता रहेगा और उसके पतनकी सम्भावना नहीं रहेगी। उस वर्णाश्रमरूपी महाद्रुमका फल मोक्ष है। जो धर्म-साधन और परमानन्दप्राप्तिका अन्तिम लक्ष्य है। इस प्रकारके अतिगभीर और अतिपवित्र सिद्धान्तोंको लक्ष्यमें रख कर पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने वर्णाश्रमरूपी भारत-द्वीपकी सोशियालाजीकी सुदृढ़ व्यवस्था बाँधी है। इसकी कल्पना भी पृथ्वीकी अन्य किसी सभ्यजातिको नहीं हुई है।

———

शृंखला शाखा ।। ४६ ।। सदाचारः पत्रम् ।। ४७ ।। पुष्पमभ्युदयः ।। ४८ ।। कैवल्यं फलम् ।। ४९ ।।—कर्ममीमांसा, क्रियापाद।

सातवाँ अध्याय।

वेद और शास्त्रका अनादित्व।

प्राचीन भारतवर्षकी सबसे प्राचीन पुस्तक वेद है। इस सिद्धान्तके विषयमें किसीका भी मतभेद नहीं है। प्राचीन आर्यजाति जिस प्रकार पाँच प्रकारकी पुस्तकें मानती हैं, उसका वर्णन पहिले आचुका है। उन पाँच प्रकारकी पुस्तकोंमेंसे नादपुस्तकरूप वेदको अपौरुषेय माना गया है। क्योंकि वेदके मन्त्र ज्योंके त्यों ऋषियोंके अन्तःकरणोंमें सृष्टिके आरम्भमें सुनायी दिया करते हैं। वे शब्द मनुष्यप्रणीत नहीं होते। * इस प्रकारका शब्द सुनना सम्भव है,

---

* अनादि-निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी विद्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
— व्यासः

अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।
—शतपथ ब्राह्मण।

इसको वर्तमान पदार्थविद्या (साइन्स) ने अब सिद्ध कर दिया है। साइकिक रिसर्च सोसाइटियोंने, यह सिद्ध करके दिखाया है कि, प्रेतलोकके जीवोंके शव्द किस प्रकारसे अन्य

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः
सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः।
—वाजसनेयि ब्राह्मणोपनिषदि।
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।
—श्वेताश्वतरोपनिषद्।
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। —उपनिषदिः।
प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः।
—कुल्लूकभट्टः।
नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि।
—मेधातिथिः
ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः।
—स्मृतिशास्त्रे।
युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥
—स्मृतिशास्त्रे।
अग्निर्वायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ —मनुः।
प्रत्यक्षेणाऽनुमित्या वा यस्तूपायां न बुद्ध्यते।
एनं वदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥
—स्मृतिशास्त्रे।

साइकिक व्यक्तियोंको (जिनके हृदयोंके साथ प्रेतलोकका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है) स्वाभाविकरूपसे सुनायी देते हैं। पदार्थविद्यारूपी साइन्सने यह भी सिद्ध कर दिखाया है कि, रेडियो यन्त्रद्वारा सैंकड़ों कोसोंके शब्द उसी क्षण हर-एक व्यक्तिके घरमें सुनायी देने लगते हैं। पदार्थविद्याकी इस उन्नतिके समयमें आदिसृष्टिमें ऋषियोंके अन्तःकरणोंमें वेदका सुनायी देना असम्भव नहीं प्रतीत होगा। सृष्टिके आदिमें ऋषियोंके अन्तःकरण ब्राह्मस्वर्गके साथ एकस्वरमें मिले होते हैं,इस कारण वेदकी ऋचाएँ ज्यों-की-त्यों उनके हृदयोंमें आविर्भूत हो जाती हैं। यही भारतवर्षके प्राचीन आर्योंका निश्चित सिद्धान्त है। दूसरे प्रकारकी नित्य पुस्तकोंका नाम स्मृति है। पुराण, धर्मशास्त्र,दर्शनआदि सब स्मृतिशास्त्रके अन्तर्गत हैं। सनातनधर्मियोंके शास्त्रोंका यह सिद्धान्त है कि, वेदकी तरह स्मृतिशास्त्रके भी शब्द ज्यों-के-त्यों ऋषियोंके अन्तःकरणोंमें सुनायी तो नहीं देते, जिससे उन शब्दोंकी नित्यता मानी जाय; परन्तु वे सब शब्द दैवीजगत्की सहायतासे भावरूपसे आविर्भूत होते हैं* भावरूपसे स्मृतियाँ नित्य हैं। इस कारण शब्दरूपसे वेद और भावरूपसे

* गुणभावमयत्वाद्भगवद्वाक्यं वेदः। —दैवीमीमांसा।
वेदार्थस्मरणं स्मृतिः। —श्रुतौ।

स्मृतियाँ प्रत्येक सत्ययुगमें आविर्भूत होती रहती हैं। जो लोग चतुर्दशभुवनमय ब्रह्माण्डके अस्तित्वको मानते हैं, जो जगत्की आदिगुरु प्रजा दैवीजगत्की सहायतासे वेद और स्मृतिग्रन्थोंका सृष्टिके विशेष विशेष समयमें प्रकाशित होना स्वीकार करती है, जो मनुष्यजातिकी प्रथम ज्ञानपथप्रदर्शक मनुष्यश्रेणी कल्पान्तरसृष्टि मन्वन्तरसृष्टि और युगान्तर-सृष्टिका नयापन स्वीकार करती है, उसके निकट वेदोंके काल और पुराणोंके, दर्शनोंके और अन्यान्य स्मृतिशास्त्रोंके कालके निर्णय करनेका उद्योग बच्चोंके खेलके समान ही प्रतीत होगा। इस विषयमें विद्वज्जनके सम्मुख अधिक युक्ति देना निष्प्रयोजन है।

यह पहिले ही सिद्ध हो चुका है कि, एक ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका काल क्या है। यह भी पहिले सिद्ध हो चुका है कि, चारों युगोंकी सृष्टि अलग अलग ढङ्गकी बन जाती है और उनके कालका भी परिमाण अलग अलग होता है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि, प्रत्येक मन्व-न्तरमें हमारे इस मृत्युलोकरूपी भारतवर्षकी सृष्टि एकबार ही बदल जाती है और मनुष्यकी सभ्यता और शक्तिमेंभी हेर फेर हो जाता है, और यहभी सिद्ध हो चुका है कि, प्रत्येक कल्पमें नयी सृष्टि हो जाती है और पुरानी सृष्टिका

लेशमात्र नहीं रह जाता। दूसरी ओर पहिले यह सिद्ध हो चुका है कि, वेदों और पुराणोंमें जो गाथाएँ आती हैं, वे लौकिक इतिहास नहीं हैं, कल्पकल्पान्तरकी सृष्टिके समयके अलौकिक इतिहास अथवा लोकातीत चरित्र हैं और यह भी सिद्ध हो चुका है कि, वेद और शास्त्र नित्य हैं। क्योंकि चार प्रकारकी पुस्तकें नित्य मानी गयी हैं। युगयुगान्तरमें उन पुस्तकोंका आविर्भाव-तिरोभाव हमारे मृत्युलोकमें होता रहता है और देवलोकमें उनकी नित्यता विद्यमान रहती है। वैदिक धर्मशास्त्रोंसे यह सिद्ध है कि, प्रति कल्पमें जब प्रथम सृष्टि होती है और उसमें पूर्णावयव मनुष्य उत्पन्न होते हैं, तब वेदके रूपमें जितनी ज्ञानराशि प्रकट होती है, वह उस कल्पके अन्ततक बनी रहती है। केवल युगयुगान्तरमें उसका आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है। उदाहरण यह है कि, इस कल्पमें एक हजार एक सौ अस्सी संहिताएँ, एक हजार एक सौ अस्सी ब्राह्मण और एक हजार एक सौ अस्सी उपनिषद् उपलब्ध हुए थे। उनका बहुत अधिक अंश इस कलियुगमें लुप्त हो गया है। इसके बाद जब पुनः सत्ययुग आवेगा, तब वे पुनः ज्यों-के-त्यों उपलब्ध हो जायँगे और प्रत्येक चौकड़ी युगके अनन्तर द्वापरयुगमें भगवान् व्यास नामक ऋषि, जो देवपिण्डधारी हैं, और व्यासका एक स्थायी

पद है, वे ही पुनः अवतीर्ण होकर वेदका विभाग करते हैं। इसी प्रकार चौकड़ी युगोंमें यथासमय जो जो अवतार होते आये हैं, वे भी यथासमय होते रहेंगे। इसी कारण जो आधुनिक शिक्षाके प्रभावसे नवीन ढङ्गके अनुसन्धानसे कालनिर्णयमें प्रवृत्त होते हैं, रामकृष्णादिकी उपासनाके प्रारम्भकालकी खोज करने लगते हैं, भगवान् व्यासकी पुराण-रचनाका कालनिर्णय करने लगते हैं, वेदाविर्भावके कालका निर्णय करनेका यत्न कर उपहासास्पद होते हैं, वेद और पुराणोंकी गाथाओंसे लौकिक इतिहास-तत्त्वके निकालनेका प्रयास करते हैं, वे सब भ्रममें पतित होकर विपथगामी होते हैं।

जो नवीन आविष्कारके जालमें फंसकर औरोंको भी फँसाना चाहते हैं और ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्डके तत्त्वोंका अनुसन्धान न करके केवल उनके कालका अनुसन्धान करनेमें प्रवृत्त होते हैं, वे भी दयाके पात्र हैं। वेदका ज्ञानकाण्ड, वेदका उपासनाकाण्ड और वेदका कर्मकाण्ड नित्यसिद्धसिद्धान्तसे युक्त है। वेदकी दार्शनिक ज्ञानभूमियाँ सात ही हैं और सात ज्ञानभूमियां और सात अज्ञानभूमियाँ भी नित्य वस्तु हैं। सात ज्ञानभूमियोंके अनुसार जो सात दर्शन हैं, वह भी नित्य वस्तु है। सात ज्ञानभूमियों

और सात अज्ञानभूमियोंका विस्तृत वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है, जिसमें बुद्धिमान्मात्रका मतभेद हो नहीं सकता। ❀

❀ सप्तानां ज्ञानभूमीनां प्रथमा ज्ञानदा भवेत्।
संन्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत् ॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी स्यात्पञ्चमी सत्पदा स्मृता।
षष्ठयानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा ॥
यावज्जीवैरतिक्रान्ता न सप्ताऽज्ञानभूमयः।
तावन्न प्रथमा भूमिर्ज्ञानस्य ज्ञानदाऽऽप्यते ॥
उद्भिज्जानां चिदाकाशे प्रथमाऽज्ञानभूमिका।
स्वेदजानां चिदाकाशे सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
तृतीयाऽण्डजजातेश्चाऽज्ञानभूमिश्चिदाश्रिता।
जरायुजपशूनाञ्च चिदाकाशे चतुर्थ्यसौ ॥
पञ्चकोपप्रपूर्णत्वाधिकारिष्वेव वै नृषु।
सन्ति शेषा अधिकृतास्तिस्रस्त्वज्ञानभूमयः ॥
तिस्रस्ता एव कथ्यन्त उत्तमाधममध्यमाः।
विशदं तां प्रचक्षेऽहं श्रूयतां विप्रपुङ्गवाः ॥
एता अज्ञानभूमीर्हि तिस्र एव समूलतः।
मूर्तिमन्तः स्वयं वेदा निराकर्तुं समुद्यताः ॥
अधमाऽज्ञानभूमी हि यावन्मर्त्यैः प्रसज्जते।
कृतेऽपराधे दण्डः स्यात्तिर्यग्योनौ तदुद्भवः ॥
मध्यमाऽज्ञानभूमेश्च मानवैरधिकारिभिः।
पितृलोकास्तथा विप्राः! नारकाश्च पुनः पुनः ॥
प्राप्यन्ते मृत्युलोकश्च सुखदुःखादिपूरितः।

उनका समय समयपर आविर्भाव-तिरोभाव अवश्य होता है, परन्तु लौकिक ग्रन्थोंके कालनिर्णयकी तरह वेदान्त, सांख्य-आदि शास्त्रोंके आदिकालके निर्णयमें प्रवृत्त होना हंसीकी ही बात है। दूसरी ओर जो विद्वान्‌गण उपासना और योगके औपपत्तिक अंश और क्रियासिद्धांशका पता रखते हों, वे थोड़े ही विचारसे जान सकेंगे कि, उपासनाकाण्डका प्राण भक्ति है और उसका अङ्ग योग है। उस योगशास्त्रकी चार प्रकारकी क्रियाओंके मार्ग हैं। उनमेंसे मंत्रयोगमें स्थूलध्यान और मूर्तिपूजाआदि विहित है और केवल विहित ही नहीं है,

---

ददात्यूर्ध्वञ्च स्वर्लोकमुत्तमाऽज्ञानभूमिका ॥
अधमाऽज्ञानभूमिञ्च प्राप्ता मर्त्या भवन्त्यहो।
देहात्मवादिनोऽनार्या नास्तिकाः शौचवर्जिताः ॥
मध्यमाऽज्ञानभूमेस्तु मानवा अधिकारिणः।
आस्तिकत्वेन भो विप्राः! सद्विचारपरायणाः ॥
देहात्मनो हि पार्थक्यं विश्वसन्तोऽपि सर्वथा।
इन्द्रियाणां सुखे मग्ना नितरामैहलौकिके ॥
विस्मरन्ति महामूढाः सुखं ते पारलौकिकम्।
उत्तमाऽज्ञानभूमेर्वै पुण्यवन्तोऽधिकारिणः ॥
आत्माऽतिरिक्तं मे शक्तेर्मत्वाऽस्तित्वं द्विजर्षभाः।
स्वर्गीयस्य सुखस्यैव जायन्ते तेऽधिकारिणः ॥

—धीशगीता, अ० ३।

विना स्थूलध्यान किये और मूर्तिपूजा किये मन्त्रयोगकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। इसी प्रकार हठयोगमें ज्योतिर्ध्यान, लययोगमें बिन्दुध्यान और राजयोगमें निर्गुण ब्रह्मध्यानके साधन करनेकी विधि है। रूप और नामकी सहायतासे जो साधन किया जाय, वह मन्त्रयोग है। स्थूलशरीरकी सहायतासे चित्तवृत्तिनिरोधका जो प्रयास किया जाय, वह हठयोग है। मनकी सूक्ष्म शक्तिकी सहायतासे जो योग किया जाय, वह लययोग है और बुद्धितत्त्वकी सहायतासे जो साधन किया जाय, वह राजयोग है। जब इन चारों योगोंके क्रियासिद्धांशोंके साथ इन चारों प्रकारके ध्यानोंका नित्य सम्बन्ध विद्यमान है और सृष्टिके आरम्भकालसे ही योगसाधन-प्रणाली चली आयी है, तो ऐसी दशामें मूर्तिपूजाके आदि-कालके निर्णय करनेका प्रयत्न वृथा ही है, इसमें सन्देह नहीं। केवल सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगके खास खास अन्त-र्भागोंमें इन सिद्धान्तोंका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड, और वेदमूलक तान्त्रिक कर्मकाण्ड या मिश्र कर्मकाण्ड, सभी वैदिक विज्ञानमूलक होनेसे, इनका आविर्भाव और तिरोभाव समय समय-पर होते रहनेसे और युग-युगान्तरमें मनुष्यकी शक्तिमें तार-तम्य हो जानेसे कल्प, मन्वन्तर और युग आदि कालविभा-

गोंको अपने सन्ध्या, पूजा आदि कर्मकाण्डके नित्यसङ्कल्पमें रखनेवाली आर्यप्रजा इन सब विषयोंके कालनिर्णय करनेके प्रयासको वृथा ही समझेंगी ।

यदि यह शङ्का हो कि, मन्वन्तरमें जब सभ्यता और दैवीशृङ्खला बदल जाती है और कल्पान्तरमें सृष्टि बदल जाती है, तो वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंकी नित्यता कैसे सम्भव है ? इसका समाधान हमारे शास्त्रोंमें बहुत अच्छी तरहसे पाया जाता है कि, प्रत्येक कल्पमें ऊपरके सात लोकोंमें-से कुछ लोक बचे रहते हैं, सब नष्ट नहीं होते । इसका विज्ञान और हिसाब शास्त्रमें इतना विस्तृत पाया जाता है कि, जिसके देखनेसे बुद्धि चकित हो जाती है। पहिले जो प्रमाण दिये गये हैं, उनसे यह सिद्ध है कि, भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिवकीआयु अलग अलग है । ब्रह्माकी रात्रिमें चतुर्दश भुवनोंमेंसे ग्यारह भुवनोंका प्रलय हो जाता है और ऊपरके तीन ब्राह्मस्वर्ग ज्यों-के-त्यों रहते हैं । * इसी

---

* तदा हि दह्यते सर्वं त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् ।
जनं प्रयान्ति तापार्ता महर्लोकनिवासिनः ॥
एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नाराणात्मकः ।
भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः ॥

कारण वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंकी स्थिति उनमें बनी रहती है। श्रुति और स्मृति इन दोनोंमेंसे पहिलीकी शब्दरूपसे

जनस्थैर्योगिभिर्देवश्चिन्त्यमानोऽजसम्भवः।
तं प्रमाणं हि तां रात्रिं तदन्ते सृज्यते पुनः॥
—विष्णुपुराण, प्रथमांश, अ० ३।

ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूत्वा सर्वहरो हरिः।
शेषनिःश्वाससम्भूतः पातालानि दहत्यधः॥
पातालानि समस्तानि स दग्ध्वा ज्वलनो महान्।
भूमिमभ्येत्य सकलं बभस्ति वसुधातलम्॥
भुवर्लोकं ततः सर्वं स्वर्लोकञ्च सुदारुणः।
ज्वालामालामहावर्तस्तत्रैव परिवर्तते॥
अम्बरीषमिवाभाति त्रैलोक्यमखिलं तदा।
ज्वालावर्तपरीवारमुपक्षीणं चराचरम्॥
ततस्तापपरीतास्तु लोकद्वयनिवासिनः।
कृताधिकारा गच्छन्ति महर्लोकं महामुने॥
तस्मादपि महातापतप्ता लोकास्ततःपरम्।
गच्छन्ति जनलोकं ते दशावृत्त्या परैषिणः॥
एकार्णवे ततस्तस्मिन् शेषशय्यास्थितः प्रभुः।
ब्रह्मरूपधरः शेते भगवानादिकृद्धरिः॥
जनलोकगतैः सिद्धैः सनकाद्यैरभिष्टुतः।
ब्रह्मलोकगतैश्चैव चिन्त्यमानो मुमुक्षुभिः॥
आत्ममायामयीं दिव्यां योगनिद्रां समास्थितः।
आत्मानं वासुदेवाख्यं चिन्तयन् परमेश्वरः॥

नित्यता और दूसरीकी भावरूपसे नित्यता दार्शनिक युक्तिसे सिद्ध होनेके कारण उनके आविर्भाव और तिरोभावमें समयका तारतम्य हो सकता है। परन्तु उनकी उत्पत्तिका कालनिर्णय करनेमें प्रवृत्त होना प्राचीन आर्यगण बाल-चापल्य ही समझेंगे। उदाहरणरूपसे कहा जा सकता है कि, वर्त्तमान कल्पमें एक हजार एक सौ अस्सी वेद-संहिताओंके भाग, एक हजार एक सौ अस्सी ब्राह्मण-भाग और एक हजार एक सौ अस्सी उपनिषद्भागमें वेदका विस्तार माना गया है। जिनमेंसे इस समय छः सात संहिताएँ, वीस पचीस ब्राह्मण और सौ सवासौ उपनिषद् उपलब्ध होते हैं।*इस कल्पके आरम्भमें वेदका विस्तार

यदा जागर्ति विश्वात्मा स तदा चेष्टते जगत्।
निमीलते तदखिलं योगशय्याशयेऽच्युते ॥
—विष्णुपुराण, षष्ठांश, अ० ३-४।

* अनन्ता वै वेदाः। —श्रुतौ।
चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः।
एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः।
एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधा आथर्वणो वेदः।
—महाभाष्ये।
अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात्।
उत्सन्नान्भगवान्वेदानुज्जहार हरिः स्वयम् ॥

३५४० खण्डोंमें पाया गया था। प्राचीन आर्योंके सिद्धान्तानुसार वह ज्यों-का-त्यों प्रत्येक सत्ययुगमें प्राप्त होता है

ऋचः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेदं कृतवान्प्रभुः।
यजूंषि निगदाच्चैव तथा सामानि सामतः॥
चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः।
शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा॥
कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये।
चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा॥

—स्कन्दपुराण॥

ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज॥
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप!।
अथर्वस्य तु शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे!॥

—मुक्तिकोपनिषद्।

स पुनर्देवदेवस्य प्रसादादम्बिकापतेः।
संक्षिप्य सकलान्वेदाँश्चतुर्धा कृतवान्द्विजाः॥
ऋग्वेदः प्रथमः प्रोक्तो यजुर्वेदस्ततः परः।
तृतीयः सामवेदाख्यश्चतुर्थोऽथर्व उच्यते॥
एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदः भेदितोऽमुना।
यजुर्वेदो द्विजा एकशतभेदेन भेदितः॥
नवधा भेदितोऽथर्ववेदः साम सहस्रधा।
व्यस्तवेदतया व्यास इति लोके श्रुतो मुनिः॥

—सूतसंहिता!

और कलियुगके अन्ततक उसका बहुतसा अंश लुप्त भी हो जाता है। पुनः सत्ययुग आनेपर जब मनुष्यजातिकी पूर्णता होती है, तब उसका पुनः आविर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार सात ज्ञानभूमियों और सात अज्ञान भूमियोंकी नित्यता होनेसे सात वैदिक दर्शनोंकी नित्यता प्राचीन आर्यगण

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।

—आपस्तम्भः ।

तच्चोदकेषु मन्त्राख्याः, शेषे ब्राह्मणशब्दः ।

—पूर्वमीमांसा ।

याज्ञिकानां समाख्यातं लक्षणं दोषवर्जितम् ।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥

—स्मृतिशास्त्रे

एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता ।

—मुक्तिकोपनिषद् ।

विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः ।

—पारस्कर गृह्यसूत्र ।

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ।

—मुण्डकोपनिषद् ।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मतम् ॥

—वेदाङ्गे ।

मानते आये हैं।*उन्हीं सातों ज्ञानभूमियोंके अनुसार पदार्थ-वादके दो भेदके दो दर्शन,—जिनका चिह्न न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन अभी विद्यमान हैं,—सांख्यप्रवचनके दो सिद्धान्तोंके दो दर्शन,–जिनके चिह्न वर्त्तमान योगदर्शन और सांख्यदर्शन पाये जाते हैं,—और वेदके तीनों काण्डोंके अनुसार तीन मीमांसादर्शन, यथा—कर्ममीमांसादर्शन, दैवीमीमांसादर्शन और ब्रह्ममीमांसादर्शन, (वेदान्त),—जो अब भी उपलब्ध हैं,—ये सातों दर्शनसिद्धान्त प्राचीन आर्योंके विचारानुसार नित्य हैं। सात ज्ञानभूमियों और सात अज्ञान-भूमियोंका हिसाब ऐसा स्पष्टरूपसे अब भी स्मृतिशास्त्रमें पाया जाता है कि, जिसके अनुसार पृथ्वीके सब अवैदिक दर्शनशास्त्र इन सात ज्ञानभूमियों और सात अज्ञानभूमियोंसे पृथक् हो ही नहीं सकते। इस कारण प्राचीन आर्योंकी यह दार्शनिक प्रणाली सबको स्वीकार करनी ही पड़ती है।

आजकलकी ईश्वर-ज्ञान-विहीन नास्तिक शिक्षा-प्रणालीकी भूल-भुलैयामें पड़े हुए कोई अहम्मन्य व्यक्ति

---

* सप्तानां ज्ञानभूमिनां साधकस्याखिलस्य च।
भेदाद्विरोध इत्येवं दर्शनेषु प्रतीयते॥
—व्यासः।

यह कहने लगते हैं कि, हिन्दूजातिका दर्शनशास्त्र तो कपोलकल्पना और मनगढ़न्त मात्र है। ऐसे व्यक्तियोंका मस्तिष्क इतना दुर्बल हो गया है कि, उसको देखकर दया आती है। यह पहिले ही कहा गया है और यह सर्वसिद्धान्त है कि, प्रकृतिराज्यकी नकल करना शिल्प (Art) है। स्थूल प्रकृतिपर आधिपत्य करनेकी विद्याको पदार्थविद्या (Scienee) कहते हैं और सूक्ष्मप्रकृतिके स्वरूपको बुद्धितत्त्वके द्वारा समझकर प्रकृतिराज्यका जहाँ विलय होता है, उस आत्मस्वरूपतक पहुँचनेमें जिस विद्याकेद्वारा सफलता होती है, उसे दर्शनशास्त्र (Philosophy) कहते हैं। इस दार्शनिक विद्याकी पराकाष्ठा प्राचीन कालमें भारतद्वीपमें हुई थी। इस सिद्धान्तको युरोपीय विद्वज्जन एकवाक्य होकर कैसे मानते हैं, इसके प्रमाण हम पहिले दे चुके हैं। ऐसा होनेपर और दर्शनशास्त्रका दरजा सबसे ऊँचा माना जानेपरभी जब नास्तिक, अहम्मन्य, भ्रममें पतित आर्यगण इस प्रकारसे वैदिक दर्शनोंकी निन्दा करते हैं, तो उनकी मस्तिष्ककी अधोगतिपर दया आ ही जाती है।

पूज्यपाद महर्षियोंका यह सिद्धान्त है कि, वेदकी पूर्णता जिस प्रकार सत्ययुगके प्रारम्भमें हो जाती है, अनेक

ऋषियोंकेद्वारा वह नित्य वेद इस मृत्युलोकमें प्रकाशित हो जाता है और फिर उसका लोप होते होते कलियुगमें अधिकांश वेद लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार जब व्यासपद-धारी देवता द्वापरयुगमें बदलते हैं, तब वेदके भाष्यरूपी पुराण ग्रन्थ भी प्रकाशित होजाते हैं।* इस द्वापरयुगमें दो

* स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् तमितिहासश्च, पुराणश्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानाञ्च नाराशंसीनाञ्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।

—अथर्ववेद।

महापुराणानि यथाः—

अष्टादशपुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते।
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा॥
तथान्यं नारदीयञ्च मार्कण्डेयञ्च सप्तमम्।
आग्नेयमष्टमञ्चैव भविष्यं नवमं स्मृतम्॥
दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम्।
वाराहं द्वादशञ्चैव स्कान्दं चैव त्रयोदशम्॥
चतुर्दशं वामनञ्च कौर्म्मं पञ्चदशं स्मृतम्।
मात्स्यं च गारुडञ्चैव ब्रह्माण्डञ्च ततः परम्॥

—व्यासः

पुराणानि यथाः—

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथाऽपरम्।
तृतीयं वायवीयं च कुमारेणाऽनुभाषितम्॥

इतिहासग्रन्थ, अठारह महापुराण, अठारह पुराण अठारह उपपुराण और अठारह औपपुराण उपलब्ध हुए थे। इसी प्रकार इस वर्तमान चौकड़ी युगमें ४९ हज़ार तन्त्रग्रन्थ, जिनको आगमशास्त्र कहते हैं और जिनमें सब श्रेणीकी विद्याओंका समावेश है, प्रकाशित हुए थे।* उनका थोड़ासा अंश भी इस समय उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार ऋषिप्रणीत अनेक सूत्रग्रन्थ, यथा—गृह्यसूत्र, कल्पसूत्र, शिक्षासूत्र, संगीतसूत्र, स्मार्तसूत्र (धर्मशास्त्र) इत्यादि अनेक सूत्रग्रन्थ, और ज्योतिषशास्त्रकी अनेक संहिताएँ, आयुर्वेदकी अनेक संहिताएँ गन्धर्ववेदकी अनेक संहिताएँ, स्थापत्यवेदकी अनेक संहिताएँ, धर्मशास्त्रकी अनेक

चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् ।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतःपरम् ॥
नन्दिकेश्वरयुग्मञ्च तथैवोशनसेरितम् ।
कापिलं वारुणं साम्बं कालिकाह्वयमेव च ॥
माहेश्वरं तथा देवि ! दैवं सर्वार्थसाधकम् ।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम् ॥
—व्यासः ।

* सप्तसप्तसहस्राणि संख्यातानि मनीषिभिः ॥
----तन्त्रसारे ।

संहिताएँ,* मन्त्रयोगकी संहिताएँ, हठयोगकी संहिताएँ, लय-योगकी संहिताएँ, राजयोगकी संहिताएँ तथा इसी तरहकी अन्यान्य अनेक संहिताएँ, उपलब्ध थीं। † उनका सहस्रांश

* मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनाऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वशिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥
—व्यासः।

† योगो हि बहुधा ब्रह्मन्! भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः॥
—योगतत्त्वोपनिषद्।

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक् प्रकृतिवैभवात्॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चाऽनुसृत्य वै।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात्॥
यो योगः साध्यते सोऽयं मन्त्रयोगः प्रकीर्तितः।

× × ×

प्राणाऽपाननादबिन्दुजीवात्मपरमात्मनाम्।
मेलनाद्धटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते॥

भी इस समय उपलब्ध नहीं होता। अतः वेद और वेद-सम्मत शास्त्रोंके आविर्भावका कालनिर्णय करनेमें जो प्रवृत्त होते हैं, वे स्वतः ही हास्यास्पद होते हैं।

आमकुम्भमिवाम्भस्थं जीर्यमाणं सदा घटम्।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्॥
हठयोगेन प्रथमं जीर्यमाणमिमां तनुम्।
द्रढयन्सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद्योगयुजं पुनः॥
स्थूलः सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यतः।
कादिवर्णान् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम्॥
यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनैः।
योगेन मनसो योगो हठयोगः प्रकीर्तितः॥

× × ×

ब्रह्माण्डपिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात्।
समष्टिव्यष्टिसम्बन्धादेकसम्बन्धगुम्फिते॥
ऋषिदेवौ च पितरौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ।
तिष्ठन्ति पिण्डे ब्रह्माण्डे ग्रहनक्षत्रराशयः॥
पिण्डज्ञानेन ब्रह्माण्डज्ञानं भवति निश्चितम्।
गुरूपदेशतः पिण्डज्ञानमाप्य यथायथम्॥
ततो निपुणया युक्त्या पुरुषे प्रकृतेर्लयः।
लययोगाभिधेयः स्यात् प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः॥
आधारपद्मे प्रकृतिः सुप्ता कुण्डलिनी स्थिता।
सहस्रारे स्थितो नित्यं पुरुषश्चोपगीयते॥

प्राचीन भारतद्वीपका सर्वतन्त्रसिद्धान्त यह है कि, वेद अक्षरशः शब्दरूपसे और वेदसम्मत अन्यशास्त्र भावरूपसे अनादि हैं। कालप्रभावसे विभिन्न कालमें उनका केवल

प्रसुप्तायां कुण्डलिन्यां बाह्यसृष्टिः प्रजायते।
योगोस्तां प्रबोध्यैव यदा तस्मिन्विलोपयेत्॥
कृतकृत्यो भवत्येव तदा योगपरो नरः।
पुराविदो वदन्तीमं लययोगं सुखावहम्॥

× × × ×

राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।
अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥
सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्साहाय्यात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
अन्तःकरणभेदास्तु मनोबुद्धिरहङ्कृतिः।
चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥
दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः॥
वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
तेनोपलब्धिसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तिः प्रकथ्यते॥
उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा।
महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्बतः॥

आविर्भाव और तिरोभाव इस भारतद्वीपमें हुआ करता है; परन्तु उनकी नित्यता देवलोकमें सदा रहा करती है ।

वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंका स्थिर सिद्धान्त यह है कि, जैसी ब्रह्माण्डकी सब कर्मशृंखला देवपदधारी व्यक्तियोंके द्वारा परिचालित होती है, वैसी ब्रह्माण्डकी ज्ञानशृंखला देवलोकवासी नित्य ऋषियोंके द्वारा परिचालित होती है । एक ब्रह्माण्ड जब तक जीवित रहता है, उसकी ज्ञानराशि भी तब तक ऊपरके देवलोकोंमें सुरक्षित रहती है । चारों युगों तथा उनके अन्तर्युगोंके अनुसार दैवी शास्त्र, आसुरी शास्त्र, अध्यात्मविज्ञान आदिका आविर्भाव और तिरोभाव इस मृत्युलोकमें यथा देशकाल हुआ करता है । ज्ञान नित्य है ।

———

योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते ।
योगसाधनमूर्धन्यो राजयोगोऽभीधीयते ॥
—लययोगसंहिता ।

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगः पृथक् पृथक् ।
स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानन्तु त्रिविधं विदुः ॥
—हठयोगसंहिता ।

विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने ।
ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः ॥
—राजयोगसंहिता ।

आठवाँ अध्याय

—:❀:—

भारतद्वीपका धर्म और उसकी ज्ञानगरिमा

———

विश्वधारक धर्मका यथार्थ स्वरूप भारतद्वीपवासी जगत्के आदिगुरुपूज्यपाद महर्षियोंने ही संसारके कल्याणके अर्थ प्रकाशित किया है। धर्मके सर्वव्यापक और सर्वहितकारी स्वरूपका यथार्थ रहस्य भारतद्वीपवासी अग्रजन्मा ब्राह्मण-गण ही अनुभव कर सके हैं। वेद और शास्त्रोंमें विश्वधारक धर्मको जगज्जननी भुवनेश्वरी जगद्धात्रीके रूपसे वर्णन किया है।❀ श्रीजगदम्बाकी जो अलौकिक अचिन्तनीय शक्ति

❀ हे धर्मरूपे ! जगतामधीशे !
कृपाकटाक्षेण तवैव मातः।
अनन्त-ब्रह्माण्ड-कटाहकोट
उत्पद्यते तिष्ठति लीनमेति ॥
विकर्षणाकर्षणशक्तितोऽम्बिके !
ताराग्रहोपग्रहधूककेतवः।
स्थानाच्च्यवन्ते न सतामधीश्वरि !
स्वतः स्वयं ते ननु धर्मरूपिणी ॥
—जगद्धात्री स्तोत्रम्।

ब्रह्माण्डसे लेकर पिण्ड पर्यन्त और नाना लोकोंसे लेकर एक परमाणु पर्यन्त जड़-चेतनात्मक यावत् सृष्टिको धारण किये हुए हैं, उसी अलौकिक दैवी शक्तिको पूज्यपाद महर्षियोंने 'धर्म' शब्दसे अभिहित किया है।

वस्तुतः श्रीजगदम्बाके रजोगुणसे सृष्टि होती है और तमोगुणसे उसका विलय होता है। दोनोंके मध्यवर्ती स्थित सत्वगुणके द्वारा सृष्टिकी रक्षा होती है। वह सत्वगुण ही धर्मका आध्यात्मिक स्वरूप है। उस धर्मकी आधिदैविक मूर्तिके स्वरूपका तन्त्र आदि शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है कि, सत्वगुणमयी जगद्धात्री देवी रजोगुणमय सिंहपर विराजमान हैं और उस सिंहने अनायास तमोगुणरूपी मत्त हाथीको वशीभूत कर उसपर एक पैर रक्खा है। धर्मका आधिभौतिक स्वरूप जड़-चेतनात्मक विश्वमें मूर्तिमान् है। यही कारण है कि, ब्रह्माण्डसे लेकर पिण्डपर्यन्त और जड़ राज्यसे लेकर चेतन राज्यपर्यन्त उसका स्वरूप सर्वत्र सब स्थानोंमें जाज्वल्यमान रहता है। एक प्रस्तरखण्ड जब बनता है, तो उसके परमाणु रजोगुणसे आकर्षित हो जाते हैं। जब प्रस्तरखण्ड नाशको प्राप्त होता है, तो तमोगुणके प्रभावसे उसके परमाणु बिखरकर मिट्टीमें मिल जाते हैं।

परन्तु जब तक वह प्रस्तरखण्ड अपने स्वरूपमें विद्यमान रहता है, तबतक सत्वगुणकी अवस्था प्रस्तरखण्डके धर्मकी परिचायक होती है। इसी प्रकार जीवोंके वासोपयोगी लोक-समूह यथार्थरूपमें जबतक विद्यमान रहते हैं, ग्रह-नक्षत्र आदि जबतक अपने स्वरूपमें रहकर अपनी अपनी कक्षाओंमें भ्रमण करते रहते हैं, तब तक धर्मकी धारिकाशक्ति ही उनके अस्तित्वकी रक्षा किया करती है। अग्निका तेज और उसकी उष्णताशक्ति जबतक विद्यमान है, तबतक अग्निका धर्म और अग्निका अस्तित्व सिद्ध है। उस धर्मका अभाव होते ही वह कोयला या राखमें परिणत हो जाता है। यही प्रत्येक जड़पदार्थ, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, उसके वास्तविक स्वरूपको जो शक्ति धारण किये रहती है, वही जगद्धात्री जड़राज्यमें धर्म कहाती है।❀

❀ धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति ।

—नारायणोपनिषद् ।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यस्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

—महाभारत ।

पूज्यपाद महर्षियोंने चेतनराज्यमें जो धर्मशक्तिका अन्वेषण किया है, वह और भी विचित्रता तथा अलौकिकतासे पूर्ण है। जड़राज्यसे जब चेतनराज्यका आविर्भाव होता है, जड़ मृत्तिकामें जब प्रथम-उद्भिज्ज जीवका प्राकट्य होता है,

---

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः।

—पातञ्जल-योगभाष्य।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

—वैशेषिक दर्शन।

वेदप्रणिहितं कर्म धर्मस्तन्मङ्गलं परम्।
वेदप्रणिहितं कर्म धर्मस्तन्मङ्गलं परम्।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः सगुणोऽधर्म उच्यते॥
प्राप्नुवन्ति यतः स्वर्गमोक्षौ धर्मपरायणे!।
मानवा मुनिभिर्नूनं स धर्म इति कथ्यते॥
सत्त्ववृद्धिकरो योऽत्र पुरुषार्थोऽस्ति केवलः।
धर्मशीले! तमेवाहुर्धर्मं केचिन्महर्षयः॥
या विभर्ति जगत्सर्वमीश्वरेच्छाह्यलौकिकी।
सैव धर्मो हि सुभगे! नेह कञ्चन संशयः॥

—स्मृतिशास्त्रे ः

धारको धर्मः॥ २॥ अभ्युदयकरः सत्त्वप्राधान्यात्॥ ३॥
निःश्रेयस्करः शक्तिमत्त्वात्॥ ४॥ प्रतीपकर्माऽधर्मः॥ ५॥
समौ शक्तिवैशिष्ट्यात्॥ ६॥ अहिस्वाद्धेयः॥ ७॥
धर्माधर्मनिर्णयः सत्त्वतमोभ्यां॥ ८॥

— कर्ममीमांसा, धर्मपाद

प्रकाशकत्वात्सत्त्वस्य ज्ञानहेतुत्वमीर्यते।

जब पानीमें मिट्टीके संयोगसे प्रथम काई जैसा निम्न-श्रेणीका उद्भिज्ज उत्पन्न होता है, उस समयसे लेकर मनुष्य-की मुक्तिकी अवस्थातक जो शक्ति जीवको धारण करती है, और उसमें सत्वगुणका क्रमविकास करती हुई उकको पुनः पूर्ण सत्वगुणकी अवस्थामें पहुँचाकर मुक्त कर देती है, वही शक्ति चेतनराज्यमें धर्म कहाती है। उद्भिज्जकी निम्नाव-स्थासे लेकर उद्भिज्जको नाना योनियोंमें भ्रमण कराके तदनन्तर वही शक्ति जीवको स्वेदज योनियोंमें पहुँचाती है। पुनः स्वेदज सृष्टिकी नाना योनियोंमें भ्रमण कराके उसमें सत्वगुणका क्रमविकाश करती हुई उसको अण्डज योनिमें पहुँचाती है। पुनः तीसरी सन्धिरूपी अण्डज योनिमें उसको पहुँचाकर क्रमशः जरायुज योनिमें पहुँचाती है और तदनन्तर उसको मनुष्ययोनिमें पहुँचा देती है। पूज्यपाद

लघुत्वादूर्द्ध्वनेतृत्वं सत्त्वाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥
उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम् ॥

श्रुतिस्मृत्युदितो धर्मस्त्वधर्मस्तद्विपर्ययः।
देवाः ! उन्नावकं सत्त्वतमसोः कर्म कथ्यते ॥
धर्मः सत्त्वप्रधानत्वाद धर्मस्तद्विपर्ययः।
गूढं रहस्यं धर्मस्याऽधर्मस्याप्येतदेवहि हि ॥
—स्मृतिशास्त्रे।

महर्षियोंने दर्शनशास्त्रोंमें इस सिद्धान्तको स्पष्ट करके दिखा दिया है कि, उद्भिज्ज योनियोंमें जीवके चार कोष प्रसुप्त रहते हैं और अन्नमयकोषका ही विकाश होता रहता है। स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमयकोषका विकाश हो जाता है। अण्डज योनियोंमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमयकोषका विकाश हो जाता है और जरायुज योनियोंमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय, इन चारों कोषोंका विकाश हो जाता है। इन चतुर्विध भूतसंघोंमें जितनी योनियाँ हो सकती हैं, उनका हिसाब पूज्यपाद ऋषियोंने लगाकर चौरासी लाख ८४००००० संख्या बतायी है। यह जगद्धात्री महामायाकी सत्वगुणमयी धारिका शक्ति है कि, जो इन चौरासी लक्षयोनियोंमें जीवका हाथ पकड़कर उसको उत्तरोत्तर आगे बढ़ाती रहती है। *

---

* स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम्।
कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम्॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशत् चतुर्लक्षञ्च वानरे।
ततो हि मानुषा जाता कुत्सितादेद्विलक्षकम्॥
—बृहद्विष्णुपुराण।

जीवप्रसूर्यदाऽविद्या जनयेत्स्वप्रभावतः।
चिज्जडग्रन्थिमैंतद्धि वपुः कारणमुच्यते॥
स्थूलैश्च पञ्चभिर्भूतैः स्थूलं निर्मीयते वपुः।

पूज्यपाद महर्षियोंने दर्शनशास्त्रोंमें यह सिद्ध करके बताया है कि, जीव जब अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँचों कोषोंकी पूर्णता

परिशिष्टैस्तत्त्वजातैः सूक्ष्मो देहः प्रजायते ॥
एतद्देहत्रयस्यैव देवा ! आवरणान्मम ।
स्वरूप न प्रकाशेत शुद्धं नित्यमपि स्वयम् ॥
एतदेवास्ति वेदेषु वर्णितञ्च क्वचित् क्वचित् ।
पञ्चकोषाभिधानेन देवाः ! आवरणं ननु ॥
पञ्चभ्यः स्थूलभूतेभ्यः कोषो ह्यन्नमयो भवेत् ।
कोषादन्नमयादेव स्थूलमुत्पद्यते वपुः ॥
केवलोऽन्नमयकोषः पतेन्मृत्युक्षणे सुराः ।
कोषस्यान्नमयस्यैव निरीक्ष्य परिवर्तनम् ॥
अज्ञास्तं जीववर्गस्य मृत्युमाहुर्विनाशकम् ।
मिलिताः पञ्चप्राणा मे सूक्ष्मशक्तिस्वरूपिणः ॥
पञ्चकर्मेन्द्रियैः सार्द्धं कोषः प्राणमयो भवेत् ।
असावेव सुपर्वाणः ! कोषः प्राणमयो महान् ॥
युष्माकं खलु लोकस्य सम्बन्धो मृत्युलोकतः ।
अवस्थापयते नूनं द्वयोर्हि स्थूलसूक्ष्मयोः ॥
मिलित्वा मनसा सार्द्धं पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्यहो ।
नाम्ना मनोमयं कोषं जनयन्त्येतरां सुराः ! ॥
स्याद्विज्ञानमयः कोषो बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः समम् ।
देवाः ! मनोमयः कोषः कोषः प्राणमयस्तथा ॥
विज्ञानमयकोषोऽपि सम्भूयैतत्त्रयं सह ।

प्राप्त करता है, तब मानवपिण्डमें पहुँच जाता है। जीवकी क्रमोन्नतिका यह विषय पूर्व अध्यायकी टिप्पणीमें सप्रमाण द्रष्टव्य है। मनुष्य जब पंचकोषोंकी पूर्णताको प्राप्त कर

शरीरं प्राणिनां सूक्ष्मं समुत्पादयतेतराम् ॥
शरीरं सूक्ष्ममेवाहो दशामेत्यातिवाहिकीम् ।
अधिलोकान्तरं सर्वं शक्नुयाद् भ्रमितुं सुराः ! ॥
कारणाख्यवपुर्भूताऽविद्यायां नन्ववस्थितः ।
प्रियमोदप्रमोदैर्हि भावैरभिः समन्वितः ॥
आत्मस्वरूपावरको देवाः ! मलिनसत्त्वकः ।
नाम्नाऽऽनन्दमयः कोषः कथ्यते वेदपारगैः ॥
एतदेवास्ति जीवानां शरीरं कारणं ध्रुवम् ।
चतुर्विंशतितत्त्वानामयं हेतुर्यतोऽस्त्यहो ॥
अविद्याऽऽवरणादेव मत्प्रधानस्वरूपयोः ।
स्वरूपं न प्रतीयेत कैश्चिज्जीवगणैरिह ॥

—शक्तिगीता, अ० ६

पञ्चकोषजननम् ॥ २८ ॥ शरीरत्रयहेतुश्च ॥ ३० ॥ कोषाः पञ्च ॥ १२८ ॥ अन्नमयप्राणमयौ स्वेदजे तस्मादुद्भिज्जननार्हत्वम् ॥ १२९ ॥ त्रयोऽण्डजे तस्मात्ततः स्वेदजोद्भिजौ ॥ १३० ॥ चत्वारो जरायुजे ततोण्डजस्वेदजोद्भिजाः ॥ १३१ ॥ सर्वप्राणिप्रसवो मानवः पूर्णत्वात् ॥ १३२ ॥ पिण्डेश्वरोऽसौ ॥ १३३ ॥ अत ऐशीविकाशार्हत्वमस्य ॥ १३४ ॥ निःश्रेयसाधिगमश्च ॥ १३५ ॥ लौकिक्यलौकिकी च शक्तिः ॥ १३६ । जीवत्वजनिरुद्भिदः ॥ १४० ॥

—कर्ममीमांसा, क्रियापाद।

लेता है, तब वह अपने पिण्डका अधीश्वर बनकर आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि क्रियाओंको अपनी इच्छासे सम्पादन करनेकी शक्तिको प्राप्त करता है। अतः पूर्णावयव जीवरूपी मनुष्य जब एक ओर अपनी इच्छाशक्तिपर आधिपत्य

उद्भिज्जमाजरायुजं चतुष्कोषक्रमोन्मेषः ॥ ५८ ॥ सर्वविकाशोऽन्तिमे ॥ ५९ ॥ क्षित्येकाश्रयत्वमुद्भिदः ॥ ६० ॥ ब्रह्माण्डपिण्डयोस्तथादर्शनात् ॥ ६१ ॥ स्वेदजो जलाग्निवाय्वाकाशाश्रयः ॥ ६२ ॥ गुणभेदादनेकधा ॥ ६३ ॥ ब्रह्माण्डपिण्डयो रोगारोग्यप्रदः ॥ ६४ ॥ अतीन्द्रिया अपि ॥ ६५ ॥ योनेरानन्त्येऽपि पञ्चधा ॥ ६६ ॥ उद्भिदेककलः ॥ ६७ ॥ स्वेदजे द्विकलः ॥ ६८ ॥ अण्डजस्त्रिकलः ॥ ६९ ॥ चतुष्कलो जरायुजः ॥ ७० ॥ तत्र गोसिंहमर्कटतो मानवो गुणभेदात् ॥ ७१ ॥ पञ्चकलः सः ॥ ७२ ॥ तद्धर्मसम्बन्धत्वात्पूर्णकलत्वमस्य ॥ ७३ ॥ तद्विकाशो विशेषतः ॥ ७४ ॥ उद्भिद्यन्नमयविकाशः ॥ ७५ ॥ तस्य जलमन्नम् ॥ ७६ ॥ एकस्मादन्यत् ॥ ७७ ॥ स्वेदजे विकाश उभयोः ॥ ८० ॥ तस्मादृश्यते उभयम् ॥ ८१ ॥ ब्रह्माण्डपिण्डयोरधिकारः प्राणशक्तिमत्वात् ॥ ८२ ॥ कोषत्रयविकाशोऽण्डजे ॥ ८३ ॥ तस्मादुपलभ्यते मनः ॥ ८४ ॥ चतुष्कोषविकाशो जरायुजे ॥ ८५ ॥ तत्राल्पविकाशो बुद्धेः ॥ ८६ ॥ हास्यलक्षणः पञ्चकोषविकाशो मानवे ॥ ८७ ॥ आनन्दमयस्य पूर्णकलौपयोगित्वं चन्द्रवत् ॥ ८८ ॥ कलाविकाशतः कैवल्यम् ॥ ८९ ॥

—कर्ममीमांसा, संस्कारपाद।

करनेकी क्षमताको प्राप्त करता है, तब इसी प्रकार दूसरी ओर पापकर्म और पुण्यकर्मका भागी बन जाता है। चौरासी लक्ष निम्नयोनियोंमें पापपुण्यका भय नहीं है। केवल मनुष्य-पिण्डमें ही पापपुण्यका अधिकार प्राप्त होता है। अन्ततः मनुष्ययोनिमें मानवधर्मके निर्णयका मौलिक सिद्धान्त पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने यही बताया है कि, मनुष्यके जिस शारीरिक, वाचनिक, मानसिक और बौद्धिक क्रियाके द्वारा सत्वगुणकी क्रमाभिवृद्धि हो, उसीको धर्म कहते हैं और उसीसे पुण्यकी प्राप्ति होती है। और जिस कर्मके द्वारा तमोगुण और रजोगुणकी वृद्धि हो, अर्थात् सत्वगुणका नाश हो, उसे अधर्म कहते हैं और उससे पापकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार विश्वधारक धर्मके सर्वव्यापक, सर्वजीव-हितकारी, महान् दिव्य स्वरूपको भारतद्वीपवासी अग्रजन्मा ब्राह्मणोंने ही यथार्थरूपसे देखा है। इसी कारण भारतद्वीपका सनातनधर्म वेदके सदृश अपौरुषेय है और अन्य लौकिक धर्मोंके सदृश किसी व्यक्तिका कहा हुआ नहीं समझा जाता।

कर्मभूमि भारतवर्षमें सत्कर्मोंका अनुष्ठान करके धर्मकी अभिवृद्धि करनेका अवसर और मोक्षभूमि भारतद्वीपमें तप, स्वाध्याय, योग, याग और आत्मज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर लेनेका अवसर जैसा मिलता है, वैसा चतुर्दश

लोकोंमेंसे और कहीं नहीं मिलता।*मनुष्य चाहे शरीरान्तके बाद सप्तपातालरूपी बिलस्वर्गमें चला जाय, चाहे भूः भूवः आदि त्रिलोकके दैवी लोकोंमें चला जाय, चाहे उन्नतसे उन्नत और लोकोंमें चला जाय, वे सब भोगभूमियाँ होनेसे स्वच्छन्दतासे कर्म करनेका उसे वहाँ अवसर नहीं मिलता। इस मृत्युलोकरूपी भारतवर्षमें ही मिलता है। पूज्यपाद महर्षियोंने मनुष्यादि उन्नत जीवोंके लिये धर्मसाधनके चार भेद बताये हैं। यथा--साधारणधर्म, विशेषधर्म, असाधारणधर्म और आपद्धर्म। दान, तप, यज्ञ, सत्य, धृति, क्षमा, इन्द्रिय-

* गायन्ति देवाः किल गीतकानि।
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे॥
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते।
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
कर्माण्यसङ्कल्पिततत्फलानि।
संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते॥
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते।
तस्मिल्लँयं ये त्वमलाः प्रयान्ति॥
जानीम नैतत्क्व वयं विलीने।
स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम्॥
प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्याः।
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः॥
—विष्णुपुराण।

निग्रह परोपकार आदि जो धर्मके अङ्ग और उपाङ्ग हैं, वे सब साधारण धर्मके अन्तर्गत हैं। क्योंकि साधारणधर्म क्या मनुष्य, क्या देवता, क्या असुर, क्या राक्षस, क्या आर्य, क्या अनार्य, क्या जैन, क्या बौद्ध, क्या ईसाई, क्या मुसलमान, सभीके लिये समानरूपसे उपकारी और आदरणीय है। सम्भव है कि, दान, तप और यज्ञादिके सब अङ्ग सबके उपयोगी न हो सकें। जैसे कन्यादान आर्योंमें ही प्रचलित है, परतु वस्त्रदान, अन्नदान आदि सबमें समानरूपसे आदरणीय है। इसी प्रकार वैदिक यज्ञ केवल भारतद्वीपके वर्णाश्रमियोंके ही उपयोगी हैं, परन्तु अन्य कई श्रेणीके कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ आदि पृथ्वीकी सब मानवश्रेणीके ही उपकारी हैं।

जैनों और बौद्धोंमें दयाका स्वरूप कुछ असाधारण देखनेमें आता है, परन्तु पृथ्वीके सब श्रेणीके धर्ममार्गोंमें दयाका अनादर कहीं भी देखनेमें नहीं आता। इस कारण चिन्ताशील सत्पुरुषोंको यह मानना ही पड़ेगा कि, पूज्यपाद महर्षियोंके द्वारा प्रवर्तित साधारणधर्म ही पृथ्वीके सब धर्ममतोंका समानरूपसे हितकारी है।

---

* द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

विशेषधर्म उसको कहा गया है, जो विशेष विशेष अधिकारियोंके लिये हितकारी हो, औरोंके लिये हितकारी न हो। जैसे कि, कामिनी-कांचनका त्याग संन्यासियोंका धर्म है,

---

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

परन्तु गृहस्थोंकेलिये वह हितकारी नहीं है। इसी प्रकार पुरुषधर्म, नारीधर्म, ब्राह्मणधर्म, क्षत्रियधर्म, वैश्यधर्म, शूद्र-धर्म, शैवधर्म, वैष्णवधर्म, शाक्तधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म, आर्य-धर्म, अनार्यधर्म, ईसाईधर्म, मुसलमानधर्म आदि सब विशेष-धर्मके अन्तर्गत हैं। पूज्यपाद महर्षियोंके इस सिद्धान्तपर किसी बुद्धिमान्का मतभेद नहीं हो सकता।*

जड़-चेतनात्मक जगत्को अलग अलग धारण करनेवाले, सबको अपने अपने अलग अलग अधिकारके अनुसार सबकी रक्षा करके सबको उत्तम फल पहुँचानेवाले, जगद्धारक धर्मका यथार्थ स्वरूप भारतद्वीपके प्राचीन आर्योंने ही देखा है। इस कारण मानवधर्मके चारों विभागोंकी उन्होंने इतनी छान-

---

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

—गीतोपनिषत्सु ।

* यं पृथग् धर्मचरणाः पृथग् धर्मफलैषिणः ।
पृथग् धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

—महाभारत ।

चीन की है। मानवधर्मका तीसरा विभाग आपद्धर्म है। आपद्धर्म केवल आपत्कालके लिये ही विहित है। जिस समय ऐसी विपत्ति उपस्थित हो कि, न साधारणधर्म निभ सके, न विशेषधर्म निभ सके, उस समय श्रेष्ठता और निकृष्टता, आवश्यक और अनावश्यक, सम्भव और असम्भवके तारतम्यके अनुसार कर्त्तव्यका निश्चय करना ही आपद्धर्मका मौलिक रहस्य है। आपद्धर्ममें अधर्म भी उस समयके लिये धर्म हो जाता है। जैसे कि, क्षुधासे प्राण जाते समय अभोज्य पदार्थ ग्रहण करके अथवा चोरी करके प्राणकी रक्षा करना धर्म हो जायगा।

असाधारणधर्मका अधिकार कुछ और ही विलक्षण है। क्योंकि वह सर्वसाधारणके उपयोगी नहीं है। साधारणधर्म यथायोग्य व्यक्तिको समानरूपसे सहायता करता है। विशेषधर्म विशेष विशेष अधिकारीका हितकारी है। आपद्धर्म विपत्तिमें पतित व्यक्तिमात्रके लिये हितकारी है। इस कारण यह कहना पड़ेगा कि, ये तीनों धर्म मानवमात्रके उपयोगी हैं। परन्तु असाधारण धर्म ऐसा नहीं है। असाधारणशक्तिसम्पन्न व्यक्ति ही उसको उपयोगमें ला सकता है। पूर्वजन्मकी असाधारण तपस्यासे असाधारणशक्तिप्राप्त व्यक्ति ही असाधारणधर्म-पालनका अधिकारी बन

सकता है। जैसे, राजा विश्वामित्र पूर्वजन्मार्जित तपस्यासे असाधारण शक्ति प्राप्त करके वर्तमान जन्ममें योग-शक्तिके द्वारा अपने शरीरके परमाणुओंको बदलकर एक जन्ममें ही क्षत्रिय राजासे ब्राह्मण महर्षि बन गये थे।*

---

* मानवधर्मश्चतुर्विधो विशेषाऽसाधारणाऽपत्साधारणभेदात् ॥ २२ ॥ अधिकारप्राधान्यहेतुको विशेषधर्मः ॥ २३ ॥ शक्ति-प्राधान्यनिमित्तोऽसाधारणधर्मः ॥ २४ ॥ आपन्मूलक आपद्धर्मः ॥ २५ ॥ तत्राऽधर्मोऽपि धर्मो भावशुद्धिमत्वात् ॥ २६ ॥ अयमा-श्रयः कालाऽन्यथाभावे ॥ २७ ॥ सर्वकल्याणसाधकः साधारण-धर्मः ॥ २८ ॥ —कर्ममीमांसा, धर्मपाद।

सर्वेषां रक्षको धर्मः सर्वजीवहितप्रदः।
निखिलव्यापकश्चास्ति सर्वेभ्योऽभ्युदयप्रदः॥
तत्सनातनधर्मस्य पादाश्चत्वार आसते।
साधारणविशेषौ हि तथाऽसाधारणापदौ॥
ब्रह्मचर्यञ्च दाम्पत्यं निवासो निर्जने वने।
त्यागो ह्यध्यापनञ्चैव पठनञ्च प्रतिग्रहः॥
धर्मयुद्धं प्रजारक्षा वाणिज्यं सेवनादयः।
विशेषस्यापि धर्मस्य सन्तीमाः खलु वृत्तयः॥
यदा कश्चिद्विशेषस्तु धर्मः शक्तिमवाप्नुयात्।
अधिकां भावसंशुद्ध्या कोटिं साधारणस्य सः॥
असाधारणधर्मस्याधिकारं लभते बहन्।
कदाचिदत एवालमापद्धर्मस्य निर्णये॥

इस प्रकारसे जगत्के आदिगुरु पूज्यपाद महर्षियोंने धर्माधर्मनिर्णयके विषयमें पूर्ण सफलता प्राप्त की थी। उनकी ज्ञानगरिमा अभीतक भारतद्वीपको ही नहीं, किन्तु सारे भारतवर्षको आश्चर्यचकित कर रही है। प्रकृतिराज्यकी नकल करनेवाला शिल्पशास्त्र (Art) और स्थूलप्रकृतिपर आधिपत्य करनेवाली पदार्थविद्या (Science) दोनोंके ही आदि-शिक्षक होकर भारतद्वीपके अग्रजन्मा ब्राह्मणगण जगत्के आदिगुरु कहाये हैं। परन्तु उनके दार्शनिक अनुशीलनका ठीक ठीक पता अभीतक सभ्यजगत् लगा ही नहीं सका है। यदि वर्तमान सभ्यजगत् वैदिक दर्शनशास्त्रोंका यथार्थ स्वरूप समझता, तो आजकलके सब दार्शनिक मत नाना नदियोंकी भाँति बहते हुए वैदिक दर्शन-पारावारमें आ मिलते। जिन्होंने वैदिक सप्तदर्शनोंका यथार्थरूपसे अनु-

---

अधर्मेणापि धर्मस्य स्वरूपे परिगम्यते।
धीर्विद्यासत्यमक्रोध औदार्यं समदर्शिता॥
परोपकारनिष्कामभावप्रभृतयः शुभाः।
साधारणस्य धर्मस्य विद्यन्ते वृत्तयो ध्रुवम्॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—स्मृतिशास्त्रे।

शीलन किया है, वे अवश्य ही हृदयङ्गम कर सकते हैं कि, दर्शनशास्त्रके पूर्णस्वरूपका विकाश भारतद्वीपमें ही हुआ है। पृथ्वीभरमें जहाँ जहाँ अन्तर्जगत्प्रकाशक दर्शनशास्त्रोंका आविष्कार हुआ है, वहाँ वहाँके विद्वान् शृंखलारहित होकर मार्ग भूले पथिकके समान अन्तर्जगत्में भ्रमण करते दिखायी पड़ते हैं। जिस देशमें जहाँ जो दर्शनशास्त्र प्रकाशित हुआ है, वहाँ वे सब दर्शनशास्त्र कर्ताके नामसे अलग अलग अभिहित हुए हैं और उनमें कोई भी सिद्धान्त-शृंखला पायी नहीं जाती। भारतद्वीपका दार्शनिक आविष्कार वैसा नहीं है। वैदिक दर्शनशास्त्रोंमें अधिकारशृंखला है, विचार-शृंखला है और सिद्धान्तशृंखला है।

पूज्यपाद महर्षियोंने यह हाथ उठाकर नाना शास्त्रोंमें प्रकाशित किया है और दार्शनिक सूत्रोंद्वारा सिद्ध किया है कि, अज्ञानभूमियाँ सात हैं और ज्ञानभूमियाँ भी सात हैं। अज्ञानभूमियोंका स्वरूपनिर्णय करनेके लिये निम्नसे अतिनिम्न अधिकारके जीवोंके अन्तःकरणोंपर पूर्वाचार्योंने पहिले अपने अन्तःकरणमें संयम करके देखा और फिर आगेकी पीढ़ियोंका पता लगाया है। उद्भिज्ज जीवोंके-समष्टिचिदाकाशमें उन्होंने अज्ञानभूमिका सबसे नीचा स्तर देखा है। अज्ञानभूमिका दूसरा स्तर उन्होंने स्वेदजयोनि-

योंके समष्टि-अन्तःकरणोंमें देखा है। अज्ञानभूमिका तीसरा स्तर उन्होंने अण्डजयोनिके समष्टि-चिदाकाशमें अनुभव किया है। चौथे स्तरका जरायुजयोनिके जीवोंके समष्टि-अन्तःकरणपर संयम करके पता लगाया है। उसके बादके अज्ञानभूमियोंके तीन स्तर अज्ञानसेवी मनुष्योंमें पाये जाते हैं। वे तीनों ये हैं:—देहको ही आत्मा समझना अर्थात् देहात्मवादको प्रथम स्वीकार करना, अज्ञानभूमिका पंचम स्तर है। अनन्तर देहातिरिक्त आत्मवादके जितने दार्शनिक सिद्धान्त हैं, उनको उन्होंने छठी अज्ञानभूमि माना है और दार्शनिक पथमें चलनेपर भी लक्ष्यभ्रष्ट आत्मातिरिक्त शक्ति-वादके जितने दर्शनमत संसारमें प्रचलित हुए हैं या होंगे, उनको पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अज्ञानभूमिका सातवाँ स्तर बताया है। इस प्रकारसे असाधारण ज्ञानगरिमाका परिचय देकर भारतद्वीपके मनीषियोंने ज्ञानपथके पथिकोंको सावधान कर दिया है। जिससे वे इन अज्ञानभूमियोंसे बच-कर ज्ञानका यथार्थ मार्ग अन्वेषण करनेमें समर्थ हो सकें।

इसी प्रकार ज्ञानभूमियोंकी अलौकिकता उन्होंने सप्त-दर्शन-सिद्धान्तोंमें विशदरूपसे त्रितापतप्त जीवोंके कल्याणार्थ प्रकाशित की है। पूर्वाचार्योंने सप्तज्ञानभूमियोंके नाम इस प्रकार वर्णन किये हैं:—१ ज्ञानदा, २ संन्यासदा, ३ योगदा,

४ लीलोन्मुक्ति, ५ सत्पदा, ६ आनन्दपदा, ७ परात्परा। इन्हीं सात ज्ञानभूमियोंकी सात पौढ़ियोंमें चढ़कर जीव ब्रह्मानन्दपारावारमें उन्मज्जन-निमज्जन कर सकता है। *

* अधमाऽज्ञानभूमिर्वै तमोमुख्या विजृम्भते।
तमोरजःप्रधाना च मध्यमाऽसौ प्रकीर्तिता॥
उत्तमाऽज्ञानभूमिश्च रजःसत्त्वप्रधानिका।
शुद्धसत्त्वविकाशस्य स्थले नूनं यथाक्रमम्॥
पुण्यभाजां मनुष्याणां चित्ताकाशे यतो ध्रुवम्।
सप्तानां ज्ञानभूमीनामधिकाराः क्रमेण हि॥
समुद्यन्ति ध्रुवं देवदुर्लभानां स्वभावतः।
ज्ञानभूम्यश्च सप्तैताः साधकान्तर्हृदि क्रमात्॥
शुद्धं सत्वगुणं सम्यग्वर्द्धयन्त्यो निरन्तरम्।
निःश्रेयसपदं नित्यं गुणातीतं नयन्त्यलम्॥
यत्किञ्चिदासीज्ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः।
आद्याया भूमिकायाश्चाऽनुभवः परिकीर्तितः॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः।
प्राप्ता शक्तिर्मया लब्धाऽनुभवो हि तृतीयकः॥
मायाविलसितं चैतद् दृश्यते सर्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलापोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः॥
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्तितः।
ब्रह्मैवेदं जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः॥

पूज्यपाद महर्षियोंके सिद्धान्तानुसार वैदिक दर्शनशास्त्र सात श्रेणीमें ही विभक्त हो सकते हैं। न इससे न्यून हो सकते, न अधिक ही हो सकते हैं। यद्यपि इन सातोंमेंसे प्रत्येक सिद्धान्तके आचार्य समय समयपर अनेक हुए हैं, तथापि वैदिकदर्शनसिद्धान्त सात ही माने गये हैं। यथाः—दो पदार्थवादके दर्शन—न्याय और वैशेषिक, दो सांख्यप्रवचनके दर्शन—योग और सांख्य और वेदके तीन काण्डोंके अनुसार तीन मीमांसादर्शन—कर्मकाण्डकी मीमांसा, उपासनाकाण्डकी मीमांसा और ज्ञानकाण्डकी मीमांसा। दोनों पदार्थवादोंमें अनुमानद्वारा जगत्कर्ताका अनुसन्धान कर स्थूल प्रपञ्चके मौलिक परमाणुओंकी नित्यता बतायी गयी है। सांख्यप्रवचनकी दोनों भूमियोंमें यथाक्रम प्रकृति और पुरुषकी नित्यता और दोनोंका यथार्थ अलग अलग स्वरूप बताकर तत्त्वज्ञानीको मुक्तिमार्गमें अग्रसर किया है। तीनों मीमांसादर्शनोंमें प्रकृति और पुरुषकी एकता अपने अपने ढंगपर सिद्ध कर पहिलेमें जगत् ही ब्रह्म है, दूसरेमें ब्रह्म ही जगत् है और अन्तिममें मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकारके लक्ष्यको स्थिर किया है। इस प्रकार मीमांसाशास्त्रोंके द्वारा वैदिक ज्ञानका

इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मसारूप्यमाप्यते।
—राजयोगसंहिता।

यथार्थ स्वरूप तत्त्वज्ञानियोंके निकट प्रकट करके उनको कृत-कृत्य किया है। जिसका अनुशीलन करके त्रिलोकमें ऐसा कोई भी जिज्ञासु नहीं है, जो तृप्त न होता हो और कोई भी ऐसा बुद्धिमान् नहीं है, जो चकित न होता हो। *

---

* सप्तदर्शनविज्ञानं विज्ञेयं विधिपूर्वकम्।
समीक्षणार्थकत्वाद्धि दर्शनं वै हितप्रदम्॥
सप्तज्ञानात्मकभुवः परं तत्त्वावलोकनम्।
कथं भवति वेदैश्च शास्त्राद्यैरधिगम्यताम्॥
निमित्तकारणीभूतं सृष्टेर्ब्रह्मेति बोधनम्।
षोडशानां पदार्थानां तत्त्वाप्तिर्ज्ञानतः स्फुटम्॥
परमाणोश्च नित्यत्वं प्रथमं भूमिदर्शनम्।
धर्माधर्मौ विनिर्णीय षट्पदार्थं विचार्य वै॥
परतत्त्वोपलब्धिश्च, द्वितीयं भूमिदर्शनम्।
वृत्तयो जगतो मूलं रुद्ध्वा ता यत्नपूर्वकम्॥
परतत्त्वोपलब्धिर्हि तृतीया भूमिका मता।
विदित्वा प्रकृतिं सम्यक् परतत्त्वावबोधनम्॥
कथयन्ति बुधा एतत्तुरीयं भूमिदर्शनम्।
प्राधान्यात्कर्मणो ब्रह्म जगदेवेति निश्चयः॥
पञ्चमी भूमिका सेयं निर्दिष्टा तत्त्ववेदिभिः।
भक्तेः प्रधानता हेतोर्ब्रह्मैव निखिलं जगत्॥
येयं बुद्धिर्विनिर्दिष्टा सा षष्ठी भूमिका मता।
ज्ञानाधिक्यादहं ब्रह्मास्मीति धीः सप्तमी भवेत्॥
—राजयोगसंहिता।

ज्ञानराज्यके अन्वेषणका सबसे बड़ा रहस्य और सबसे बड़ा तत्त्व ईश्वरतत्त्व है। ईश्वरतत्त्वकी भारतद्वीपके जगद्गुरु ब्राह्मणोंने जैसी छानवीन की है, वैसी गवेषणा इस मृत्यु-लोककी मनुष्यजातिमें न हुई है, न होगी। ईश्वरोपासनाके अधिकारोंमें भूत-प्रेत आदिकी उपासना तदनन्तर ऋषि-देव-पितरोंकी उपासना, तदनन्तर अवतारोपासना, तदनन्तर सगुण ब्रह्मोपासना और तदनन्तर निर्गुण ब्रह्मोपासना, इस प्रकारसे पाँच स्तर जो शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, वे सर्वाङ्गपूर्ण हैं। छोटेसे छोटे अधिकारसे लेकर बड़ेसे बड़े अधिकारतकके मनुष्योंके लिये पाँचों यथाक्रम सब प्रकारसे उपयोगी हैं और साथ ही साथ सात्विक, राजसिक और तामसिक इस प्रकार-से इनके तीन तीन अलग अलग भेद होनेसे यह पञ्चदश-स्तरमयी उपासनाप्रणाली संसारभरके उपासकवृन्दकी हितकारी है। दूसरी ओर मन्त्रयोगकी मूर्तिध्यानप्रणाली, हठयोगकी ज्योतिर्ध्यानप्रणाली, लययोगकी बिन्दुध्यानप्रणाली और राजयोगकी निर्गुणब्रह्मध्यानप्रणाली, इस प्रकारसे चार ईश्वरध्यानप्रणालियोंके स्तर और उस प्रत्येकके सात्विक, राज-सिक और तामसिक अलग अलग भेद, इस प्रकारसे बारह प्रकारकी ध्यानप्रणाली योगशास्त्रमें विहित है, जो सर्वहित-कर है। प्राचीन भारतद्वीपकी ईश्वरतत्त्वनिरूपणप्रणालीमें

सबसे नीचेके अधिकारकी भगवान् यमधर्मराजकी धारणा है। वह धारणा इस प्रकारकी है कि, यमलोकमें सब जीव मृत्युके अनन्तर जाते हैं और वहाँ उनका विचार होकर कोई प्रेतलोक, कोई नरकलोक, कोई असुरलोक और कोई देवलोकमें उनके कर्मोंके अनुसार भेज दिये जाते हैं। परलोकके विचारपति भगवान् यमधर्मराज हैं। उनका जेलखाना प्रेतलोक और नरकलोक है, जैसा पहिले कहा गया है। भगवान् यमराजका पद नित्य है, परन्तु उसके पदधारी समय समयपर बदला करते हैं। ईश्वरतत्त्वकी इसी धारणाको पृथ्वीके अनेक नवीन धर्ममार्ग ईश्वरकी धारणा करके मानते हैं। परन्तु सनातन वैदिकविज्ञानमें यह धारणा भगवान् यमधर्मराजकी धारणा है। भारतद्वीपकी ईश्वरसम्बन्धीय दूसरी श्रेणीकी धारणा अवतारधारणा है। इसमें यह धारणा की जाती है कि, सर्वव्यापक ईश्वर मानवादि पिण्डोंमें अवतीर्ण होते हैं। भारतद्वीपकी ईश्वरसम्बन्धीय तीसरी धारणा सगुणब्रह्मकी है। इस धारणाके अनुसार यही माना जाता है कि, सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपनी शक्तिका आश्रय कर सगुणरूप धारण करते हुए सगुणलोकोंमें विराजते और सगुणरूपमें भक्तोंको दर्शन भी दिया करते हैं। जब वे सर्वशक्तिमान् हैं, तो शक्तिके

आश्रयसे भक्तवात्सल्यके कारण उनका सगुण हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। भारतद्वीपकी ईश्वरसम्बन्धीय चौथी और अन्तिम धारणा निर्गुणब्रह्मकी धारणा है। वह निर्गुणरूप स्वस्वरूपमें ज्ञानी भक्तको उसकी अविद्या, अस्मिता आदिके विलय होनेपर अपने आप ही अनुभूत होता है। चित्तवृत्तियाँ एक वार ही शान्त हो जानेपर परमात्माका वह सर्वव्यापक स्वरूप अपने आप ही प्रकट हो जाता है और तब उपासकका द्वैतभान नष्ट हो जाता है। जबतक तड़ागका जल ऊर्मिमालाद्वारा आलोडित रहता है, तबतक सूर्यदेवका विम्ब उस जलमें दिखायी नहीं देता, केवल उसकी झलमलाहट ही दिखायी देती है; परन्तु जलकी ऊर्मिमाला थमकर जल शान्त होते ही सूर्यबिम्ब अपने आप ही प्रकाशित हो जाता है। इसी उदाहरणपर योगशास्त्रने सिद्ध किया है कि, केवल योगयुक्त अन्तःकरण ही निर्गुणब्रह्मरूपी परमात्माका दर्शन करनेमें समर्थ होता है। तब स्वतः ही वह समुद्रमें आकाश-पतित वारि-बिन्दुके समान ब्रह्मसायुज्यका परमानन्द प्राप्त कर लेता है। पूज्यपाद महर्षियोंके द्वारा प्रकाशित उक्त ईश्वरतत्त्वके भेदोंमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद हैं। एक ज्ञानकृत अनुभव और दूसरा अज्ञानकृत अनुभव। इस प्रकार ईश्वरतत्त्वके आठ भेद होते

हैं। सुतरां उपासनाके पन्द्रह भेद, ध्यानके वारह भेद और तत्त्वके आठ भेद,—इस प्रकारसे पैंतीस भेदमयी ईश्वरधारणा, प्रणालीके द्वारा भारतद्वीपका ईश्वरतत्त्व पूर्ण और सर्वजीव-हितकारी है; इसको निरपेक्ष विद्वज्जनमात्रको मानना पड़ेगा।

किसी अलौकिक विषयका अथवा किसी अलौकिक ज्ञानगरिमाके विषयका प्रथम आविष्कार करना एक और वात है और आविष्कृत होनेपर उसमें कुछ अधिकता करना और वात है। अज्ञात शास्त्रोंको सृष्टिकी प्रथम अवस्थामें प्रकाशित करके जगत्के ज्ञानभण्डारको भरना सवसे कठिन है। पीछेसे उस ज्ञानभण्डारकी कुछ उन्नति करना उतना कठिन नहीं है। अतः सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थामें वड़े वड़े शास्त्रोंका और साइण्टिफिक रहस्योंका मौलिक सिद्धान्त प्रकाशित करके भारतद्वीपके अग्रजन्मा ब्राह्मणगण लोकपूजित हो गये हैं। सवसे प्रथम अवस्थामें और सृष्टिके आदि-कालमें गणितशास्त्रके अंकगणित, बीजगणित, भूमिति ज्यामिति आदि, चिकित्साशास्त्रके वनौषधिशास्त्र, रसायन-शास्त्र, शल्यशास्त्र, निदानशास्त्र आदि, ज्योतिषमें फलित और गणित आदि, स्थापत्त्यशिल्पके नाना विभाग, संगीत शास्त्रके गीत, वाद्य, नृत्यादि विभाग, संस्कृतसाहित्यके व्याकरण, काव्यकला आदि विभाग, इत्यादि लोकहितकर

शिल्प और विज्ञानकी गवेषणा सृष्टिके आदिकालमें भारतद्वीपमें हुई थी। यद्यपि उन सब शास्त्रोंमें बहुतसी नवीनता अन्य देशोंमें की गयी है, परन्तु उन सबका प्रथम आविष्कार इसी पूण्यभूमिमें हुआ है; जिसको नवीन और प्राचीन इतिहास हाथ उठाकर साक्षी दे रहे हैं। विशेषतः अब इस समय पश्चिमी देशोंमें जो अन्तर्जगत् सम्बन्धी विद्याओं (Clairvoyance, Possession Trance, Thought-reading, Double Personality, Verdical choracter of dream) की खोज हुई है, उसके मूलका पता पश्चिमी विज्ञानसे कुछ भी नहीं लग सकता; परन्तु भारतद्वीपके पञ्चकोषोंके दार्शनिक सिद्धान्तके द्वारा तुरन्त ही लग जाता है। अन्तर्जगत् सम्बन्धी योगशास्त्र और योगके क्रियासिद्धांशसमूहकी उन्नति और चतुर्दशभुवन तथा दैवीजगत् सम्बन्धी अलौकिक गवेषणा जो कुछ भारतद्वीपमें हुई थी, उसका सहस्रांश भी इस समय उपलब्ध नहीं होता है* उन विषयोंके महत्त्वकी धारणा भी वर्तमान सभ्यजगत् करनेमें असमर्थ है।

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ —मनुः।

नववाँ अध्याय ।

—:(≍):—

राजानुशासन-विज्ञान ।

भारतद्वीपके प्राचीन आर्योंका ऐतिहासिक विचार कुछ विलक्षण था। इतिहासके साथ राजानुशासन-विज्ञानका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण प्राचीन आर्योंकी ऐतिहासिक विचारशैलीका अन्वेषण कर तदनन्तर उनके राजानुशासन-विज्ञानकी तुलनात्मक गवेषणा करना ठीक होगा। महाभारतके महायुद्धसे पहिलेके समयतक अर्थात् कलियुगके प्रारम्भसे पहिलेतकका जो ऐतिहासिक विवरण मिलता है, उससे यही प्रतीत होता है कि, प्राचीन आर्यगण लौकिक इतिहास लिखनेके पक्षपाती ही नहीं थे। वे लौकिक इतिहासका लिखना अनावश्यक समझते थे। क्योंकि वे अपने नित्यके सङ्कल्पमें इस ब्रह्माण्डके विराट् देह और कालके विराट् स्वरूपको नेत्रोंके सामने प्रतिदिन रक्खा करते थे।*

---

*ॐतत्सत् अस्य श्रीमन्महाभगवतः सच्चिदानन्दस्वरूपस्य श्रीम-

इसके अतिरिक्त वे देवलोक और मनुष्यलोक दोनोंका सम्बन्ध सदा एक सूत्रमें बांधे रखना चाहते थे। उन्होंने पुराणों-में जो लोकचरित्र अथवा ऐतिहासिक घटनाएँ प्रकाशित की हैं,

---

दादिनारायणस्य अचिन्त्याऽपरिमितशक्त्याऽऽश्रयमाणानां महाज-लौवमध्ये परिभ्रममाणानां अनेककोटिब्रह्माण्डानां एकतमे अव्यक्त-महदहंकारपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाद्यावरणैरावृते अस्मिन् महति ब्रह्माण्डकटाहकरण्डे सकलजगदाधारकशक्तिकूर्म्मवराहानन्तैरावत-पुण्डरीकवामनकुमुदाञ्जनपुष्पदन्तसार्व्वभौमसुप्रतीकाष्टदिग्गजोपरि-प्रतिष्ठितस्य अस्य अतलवितलसुतलतलातलरसातलमहातलपाता-लाख्यसप्तलोकोपरिभागे भुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनलोकतपोलोक-सत्यलोकाख्यलोकषट्कस्य अधोभागे भूर्लोके महाकालायमानफणि-राजशेषसहस्रफणामण्डलविधृते दिग्दन्तिशुण्डादण्डस्तम्भिते वह्निरन्ध-तमसावृतेन अन्तःसूर्यप्रकाशितेन लोकालोकाचलेन वलयिते लवणे-क्षुसुरासर्पिर्दधिक्षीरस्वादूदकाख्यसप्तसमुद्रविराजिते जम्बुप्लक्षशाक-कुशक्रौञ्चशाल्मलपुष्करद्वीपसहिते भूमण्डले तुहिनाचलहेमकूटनिष-धनीलश्वेतशृङ्गिगन्धमादनपारियात्राख्याऽष्टसीमाचलैर्विभक्ते तन्मध्य वर्त्ति भारतकिंपुरुषहरिवर्षैलावृतरम्यकहिरण्मयकुरुभद्राश्वकेतुमाला-ख्यनववर्षशोभिते जम्बूद्वीपे इन्द्रद्वीपकशेरुमान्ताम्रवर्णोगभस्तिमान्-नागद्वीपसौम्यगान्धर्ववारुणार्यावर्तोपद्वीपसहिते भारतवर्षे नानावर्ण-केसराचलशिखररत्नबीजाञ्चितभूसरोरुहकर्णिकायमानस्य मेरोर्दक्षिण-दिग्भागे दक्षिणोदधिहिमाचलयोर्मध्यप्रदेशे निखिलवेदोदितकर्म्म-फलसाधनगंगासलिलवाहिनि प्राचीनसंन्यासिसम्पादिततपोराशि-हुताशिनाशिनि अतःस्थिताऽत्यन्तसन्तापसन्ततिकृतान्तवेदान्त-

वे सब देवलोक और मनुष्यलोक दोनोंकी मिली जुली हैं। उनको गाथारूपसे परकीय-भाषामें और रूपक-रूपसे लौकिकभाषामें पुराणोंमें प्रकाशित करके उन्होंने मनुष्य-

---

वृत्तान्तश्रुतिस्मृतिपापश्चान्तस्वान्तशान्तिविधायिनि वेदविन्मुनिगण-चरणविहरणतपश्चरणामृतवर्धिणि अस्मिन् पुण्ये भारतद्वीपे साम्यवर्ति-कुरुक्षेत्रादिभूमध्यरेखायां,अयोध्यामथुरामायाकाशीकाञ्च्यवन्तिद्वारा-वत्यादिमुक्तिक्षेत्रवत्यां अस्यां कर्म्मभूमौ भागीरथीविन्ध्याचलयोः उत्तरदिग्भागे श्रीशैलहेमकूटकिष्किन्धागरुडाचलव्यङ्कटाचलहस्ति-गिरिप्रभृतिपुण्यशैलवति सकलभूमण्डलशिरोवर्तिनि गिरिजागिरिजा-पतिराजिराजिते आर्य्यावर्तैकदेशे अविमुक्तवाराणसीक्षेत्रे महास्मशाने असीवरुणयोर्मध्ये आनन्दवने गौरीमुखे त्रिकण्टकविराजिते उत्तरवा-हिन्याः भागीरथ्याः पश्चिमे तीरे अन्नपूर्णादुर्गाकेदारेश्वरविश्वनाथ-भैरवढुंढिराजादिदेवमण्डलमण्डतं जन्हुतनयापरमपावनवनवाहिनि परमसुन्दरतरुराजिविराजिते शैवशाक्तसौरवैष्णवगाणपत्यादिपरम-भक्तगणविहरणस्वस्वोपास्यदेवमधुरनामकीर्त्तनपवित्रीकृतं परमानन्द-निकेतने बुधजनमानसानन्दविधायिनि श्रीकाशीधामनि श्रीवि-श्वेश्वरचरणार्पितहृदयसवितृप्रकाशप्रकाशमाननभोमण्डले श्रीभारत-धर्ममहामण्डले श्रीमदनेककोटिब्रह्माण्डघटनायाः सरोमविवरस्य विराड्रूपिणो भगवतो महापुरुषस्य शेषपर्य्यङ्कशायिनः श्रीविष्णो-राज्ञया प्रवर्त्तमानस्य तन्नाभिस्थानसरोरुहादुत्पन्नस्य सकलवेदनिधे-र्जगत्स्रष्टुःपरार्द्धद्वयजीविनो ब्रह्मणः प्रथमपरार्द्धपञ्चाशदतीतायां द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे प्रथमवर्षे प्रथममासे प्रथमपक्षे प्रथमदिवसे उदयादित्रयोदशघटिकासु अतीतासु स्वायम्भुवस्वारो-

समाजकी आध्यात्मिक उन्नति, आधिदैविक उन्नति और आधिभौतिक उन्नतिका मार्ग सरल कर दिया है। इस कारण प्राचीन आर्योंके पुराण और इतिहास ग्रन्थ लौकिक ग्रन्थ

क्षिपांत्तमतामसरैवतचाक्षुषाख्येषु षट्सु मनुषु व्यतीतेषु उपरितन-घटिकायां सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे सप्तविंशतिमहायुगेषु गतेषु अष्टा-विंशतितमे महायुगे पुरुहूतनामेन्द्रसमये कृतत्रेताद्वापरेषु गतेषु वर्त्त-माने कलियुगे बौद्धावतारे विक्रमशके बार्हस्पत्यमानेन··नाम-संवत्सरे··अयने······ऋतौ·····मासे···पक्षे··· ··तिथौ······ वासरे·····नक्षत्रे·····योगे ·· करणे···राशिस्थिते सूर्य्ये··· राशिस्थिते····चन्द्रे···भौमे···राशिस्थिते बुधे···राशिस्थिते देव-गुरौ···राशिस्थिते शुक्रे·····राशिस्थिते शनौ·····राशिस्थिते राहौ···राशिस्थिते केतौ एवं ग्रहगुणविशेषणविशिष्टायां शुभपुण्य-तिथौ····लग्ने···गोत्र·····शर्म्मा श्रीभारतधर्ममहामण्डल-प्रतिनिधितयाऽखिलब्रह्माण्डजननपालनसंहरणकारिण्याः मूलप्र-कृतेः ब्रह्माण्डभाण्डोदर्य्याः त्रिलोकपालिन्याः चतुःशक्तिधारिण्याः त्रिदेवजनन्याः ब्रह्ममय्याः देव्याः प्रसादार्थं वर्त्तमानभारतीयत्रिविध-दुःखनिवारणार्थे अध्यात्मविद्यायाः पुनः प्रचारार्थं जगति सद्विद्या-विस्तारार्थं देवर्षिपितॄणां सम्वर्द्धनार्थं धर्मस्य सार्वभौमिकयथार्थ-स्वरूपोद्घाटनार्थं ब्रह्माण्डस्य त्रिविधमङ्गलसाधनार्थं विविधभाषा-भूषितश्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिधर्मग्रन्थप्रणयनप्रकाशनादिशुभका-र्य्योन्नतिसाधनार्थं वर्णाश्रमसंरक्षार्थं नारीजातिषु परमपुनीतपाति-व्रत्यधर्म्मप्रचारार्थं आर्य्यजातीनां ऐहिकपरमाभ्युदयपूर्वकनिःश्रेय-सात्मकपरमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं च श्री···देवप्रसादलब्धये······

नहीं, धर्मग्रन्थ हैं। प्राचीन आर्योंकी राजानुशासन-पद्धति भी दैवीजगत्के आश्रयसे ही बनायी गयी थी।

प्राचीन आर्योंके इतिहास और राजानुशासनके साथ दैवीजगत्का इतना सम्बन्ध देखकर तुलनात्मक विचारशील व्यक्तियोंके मनमें कई प्रकारकी शङ्काएँ हो सकती हैं। उन शङ्काओंका यथासम्भव समाधान करना प्रथम आवश्यक है। जैसे कि, यदि यह शङ्का हो कि, देवलोकके राजाओंके साथ मनुष्यलोकके राजाओंका सम्बन्ध स्थापित होना कैसे सम्भव है? देवपिण्डधारियों और मानवपिण्डधारियोंके उपादानमें बड़ा अन्तर होनेके कारण देवताओंका मनुष्यलोकमें और मानवोंका देवलोकमें जाना आना कैसे सम्भव है? देवलोकके राजाओं और मनुष्यलोकके राजा तथा प्रजाका किन किन विषयोंमें सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है? मनुष्यलोकके राजानुशासनके साथ देवलोकके राजाओं तथा वहाँके राजानुशासनका सम्बन्ध होनेका

........क्रमेण......यज्ञमहं करिष्ये। तत्रादौ गणपतिपूजनं... वसोर्द्धारासहितं गौर्यादिषोडशमातृकापूजनं नान्दीमुखं आचार्य्यादिवरणं च करोमि। (यह संकल्प काशीधामका है और महामण्डलके धर्मकार्योंके लिये बना है। थोड़ेसे परिवर्तनसे सब जगह काममें आ सकता है।)

रहस्य क्या है? इस श्रेणीकी शङ्काओंका समाधान इस प्रकार है। हम पहिले प्रकाशित कर चुके हैं कि, चतुर्दश-भुवनोंका ११७६ वाँ अंश हमारा यह मृत्युलोक अर्थात् भारतवर्ष है, बाक़ी सब देवलोक है। देवलोकके देवता मृत्यु-लोकके जीवोंके कर्मोंके चालक हैं। वहाँके ऋषि यहाँके ज्ञानके चालक हैं और वहाँके नित्यपितृगण स्थूलसृष्टिके चालक हैं। अतः मृत्युलोकका सब कुछ दैवीजगत्के ही अधीन है। इस कारण मृत्युलोकके जो सच्चे और सच्चरित्र राजा होंगे, देवलोकके राजन्यगण अर्थात् देवलोकके लोक-पालगण उनमें अपनी प्रेरणा चलाकर, उनको अपना प्रति-निधि बनाकर समग्र ब्रह्माण्डके मङ्गलार्थ धर्मस्थाप-नमें सहायक बना सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। यही प्राचीन आर्योंका सिद्धान्त था। यद्यपि देवपिण्ड तैजस और मानवपिण्ड पार्थिव होता है, तथापि यदि किसी उपायसे तैजसपिण्ड पार्थिव कर लिया जाय, तो तैजसपिण्डधारी देवता पृथिवीलोकमें दृश्यमान ही नहीं होते, किन्तु पाण्डवोंकी उत्पत्तिकी तरह सृष्टि भी उत्पन्न कर सकते हैं। इसी प्रकार यदि एक ओर मानवपिण्डधारी व्यक्तिकी कठिन तपस्या हो और दूसरी ओर देवपिण्डधारी व्यक्तिकी प्रबल इच्छा हो, तो थोड़े अथवा अधिक समयके लिये मानवपिण्डका

पार्थिवत्व बदल कर उसमें तैजसत्व आ सकता है, यह आर्योंका योगशास्त्र सिद्ध करता है। अब शङ्का-समाधानके लिये कहा जाता है कि, जैसे अर्जुन अपने तपःप्रभावसे एक समय स्वर्ग पहुँचे थे और वहाँ अपने पितृदेवके स्थानपर ठहरे थे। परन्तु शरीर छोड़ते समय उन्हें हिमालयके महाप्रस्थानमें गलना पड़ा था और तब वे देवलोकमें जा सके थे। उनका पहिले स्वर्ग जाना नैमित्तिक था और दूसरी वार स्वर्ग जाना स्वाभाविक था। इसी प्रकार असुरोंका देवासुरसंग्रामके सम्बन्धसे स्वर्ग जाना नैमित्तिक होता है और असुर शरीर छोड़कर स्वर्ग जाना स्वाभाविक होता है। अब यह शंका हो सकती है कि, असुरोंके लिये यह नैमित्तिक और नित्य स्वर्गगमन सम्भव हो सकता है, क्योंकि वे देवपिण्डधारी हैं; परन्तु मानवपिण्डमें स्वर्गगमन कैसे सम्भव हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि, दैवीजगत्के साथ मनुष्यका सम्बन्ध स्थापित होना और स्थूलशरीर रहते हुए मनुष्यका देवलोकमें पहुँचना तभी सम्भव है, जब एक ओर देवपदधारिगण उसकी इच्छा करें और दूसरी ओर वह मानवपिण्डधारी जीव अपनी तपस्याके द्वारा उसका अधिकारी बन सके। ऐसे निमित्तको पाकर मानवपिण्डके परमाणुओंमें परिणाम होकर मनुष्य-

शरीरधारी जीवका नैमित्तिकरूपसे देवलोकमें पहुँचना सम्भव है। जबतक ये दोनों बातें न हों, तबतक असम्भव है। यही कारण है कि, आजकल ऐसी बातें देखनेमें नहीं आतीं।

देवलोकके राजा जो देशव्यापी राज्यके अधीश्वर होनेसे लोकपाल कहाते हैं, उनका साक्षात् सम्बन्ध मानवपिण्डमें सब समय हो सकता है, यदि वह मानवपिण्ड उनके पीठ बननेके उपयोगी हो जाय। परन्तु कालके राजा होनेके कारण मनुका सम्बन्ध इस प्रकारसे स्थापित नहीं हो सकता। इसी कारण राजा मनुका सम्बन्ध कालके संशोधनके सम्बन्धसे देखनेमें आता है, अन्यथा साधारण तौरपर देखनेमें नहीं आता। चतुर्दश भुवनोंमें त्रिलोक प्रधान है। यह प्रधानता ज्ञान और आनन्दकी नहीं है, बल्कि कर्म और अनुशासन-व्यवस्था की है।

दैवी अनुशासन-व्यवस्थाका प्रधान केन्द्र भूः भुवः स्वः ये तीन लोक हैं और ये ही त्रिलोक कहाते हैं। जब त्रिलोकको राजानुशासनव्यवस्था यथावत् रहती है, तब मनुष्यलोकमें भी धर्मकी सुश्रृंखला और ज्ञानकी अभिवृद्धि बनी रहती है। जब देवताओंका प्रभाव ठीक रहनेसे असुरगण अपने ही लोकोंमें बने रहते हैं और देवलोकमें उत्पात नहीं मचा सकते तथा जब अष्टलोकपाल अपनी अपनी राज-

धानियोंमें रहकर अपने अधीनस्थ नाना देवताओंसे दैवी कार्योंकी यथावत् निष्पत्ति कराया करते हैं और ब्रह्माण्डकी दैवीशृंखलाको ठीक रखते हैं, तब हमारे इस मृत्युलोकमें भी अतिवृष्टि-अनावृष्टिका प्रकोप, महामारी आदिकी विपत्ति, धर्मत्यागकी उच्छृङ्खलता और देश, काल, पात्रमें अस्वाभाविक घटनावली नहीं होने पाती। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष सबके अधिकार अलग अलग दिखाई पड़ते हैं। इन्द्रिय-सुखको छोड़कर प्रजा ब्रह्मानन्दकी ओर अग्रसर होती है और चारों ओर सुख और शान्ति विराजती रहती है। अतः प्राचीन आर्योंका यह स्थिर विश्वास था कि, देवलोकका राजानुशासन और मृत्युलोकका राजानुशासन एक सूत्रमें सुकालमें ही आवद्ध रहता है। जव वह सूत्र दुर्बल हो जाता है, तो मृत्युलोकके राजा और प्रजा यथार्थ सुखसे वञ्चित हो जाते हैं और जव वह सूत्र छिन्न हो जाता है, तो महामारी, महायुद्ध आदिसे उसको पवित्र किया जाता है अथवा खण्डप्रलयसे उसकी मलिनता धो वहायी जाती है। यह प्राचीन आर्योंके देवलोकके राजानुशासनके साथ मनुष्य-लोकके राजानुशासनके सम्वन्धका संक्षिप्त रहस्य है और यही कारण है कि, प्राचीन आर्योंके राजानुशासनका विज्ञान वर्तमान राजानुशासनसे विलक्षण है।

भारतद्वीपका प्राचीन राजधर्मविज्ञान वहुत ही सुदृढ़ दार्शनिक भित्तिपर स्थित था। भारतके आर्यगण केवल लौकिक सुखको लक्ष्य करके राजनीतिके नियम नहीं मानते थे। प्रकृतिराज्यके अकाट्य नियमोंको सामने रखकर उन्होंने राजधर्मविज्ञानका निर्णय किया था। उनका सिद्धान्त यह था कि, यह संसार शक्तिका ही विकाशरूप है। सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिरूपिणी महामाया दोनोंमें अभेद होनेपर भी ब्रह्म तो केवल इस प्रपञ्चमय संसारके साक्षीरूप हैं और स्थूल एवं सूक्ष्म दृश्यरूपी यह जगत् शक्तिका ही विकाश है। जिस प्रकार एक अतिक्षुद्र बटबीज में महान् वटवृक्ष शक्तिरूपसे निहित रहता है और पुनः कालान्तरमें पृथिवीकी सहायतासे उसी छोटेसे वट-बीजसे अतिबृहत् वटवृक्ष प्रकट हो जाता है; ठीक उसी प्रकार सृष्टिके पूर्ववर्त्ती समष्टिसंस्काररूपी सृष्टिबीजसे कालान्तरमें जड़चेतनात्मक यह स्थूल-सूक्ष्म संसार प्रकट हुआ करता है। अन्ततः यह संसार शक्तिका ही विकाशमात्र है।

स्थूलदृष्टिसे जगत्प्रसविनी महाशक्तिकी तीन दशाएँ अनुभव करनेमें आती हैं। एक आकर्षण और विकर्षण-शक्तिकी समताकी दशा, दूसरी केवल आकर्षणकी दशा और तीसरी केवल विकर्षणकी दशा। इन तीनों दशाओंको

उदाहरणकी सहायतासे समझानेका यत्न किया जाता है। अनन्त-ग्रह उपग्रहसे पूर्ण इस सौरजगत्के सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह सबमें ही स्वतन्त्र स्वतन्त्ररूपसे आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति विद्यमान है। आकर्षणशक्ति दूसरे ग्रह-उप-ग्रहको अपनी ओर खैंचती है और विकर्षणशक्ति दूसरोंको अपनी ओरसे दूसरी ओर फेंकनेके लिये धक्का देती है। अपने अपने अधिकारके अनुसार सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह तीनोंमें ही ये दोनों शक्तियाँ नियमितरूपसे कार्य्य कर रही हैं। जबतक आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति समान-रूपसे कार्य्य करती रहेगी, तबतक सूर्य्यदेव, ग्रहगण और उपग्रहगण अपनी अपनी कक्षामें यथानियम घूमते रहेंगे, न एक दूसरेसे टकरावेंगे और न अपनी अपनी कक्षासे बाहर जा सकेंगे। इस दशामें उन्हीं दोनों आकर्षण और विकर्षण-शक्तियोंकी समतासे सौर-जगत्की स्थिति बनी रहेगी और प्रलय नहीं होने पावेगा। दूसरी दशा केवल आकर्षणकी है और तीसरी दशा केवल विकर्षणकी है। जब ये शक्तिकी पिछली दोनों दशाएँ प्रकट होने लगती हैं, तो आकर्षणकी दशामें परमाणुपुञ्ज एकत्रित होकर सृष्टि उत्पन्न करते हैं। परन्तु स्थितिका कार्य इस दशामें नहीं होता। इसी तरह केवल विकर्षणकी दशामें ग्रह और उपग्रहगण अपने अपने

पथको छोड़कर वाहर निकल जाते हैं और क्रमशः अनियमके कारण या तो आपसमें टकराकर और नहीं तो दूसरे सौर-जगत्‌के अधिकारमें घुसकर प्रलयका कारण वनते हैं। दूसरी ओर परमाणुपुञ्ज विखरकर प्रलय कर डालते हैं। सौर-जगत्‌के दृष्टान्तपर मनुष्यसमाजमें इन दोनों शक्तियोंका विकाश और इन दोनों शक्तियोंका कार्य्यक्रम उदाहरण द्वारा समझने योग्य है।

गुरु, माता, पिता आदि गुरुजनोंमें श्रद्धाके द्वारा, स्त्री, पति, मित्र आदिमें प्रेमके द्वारा, कन्या, शिष्य आदिमें स्नेह और कृपाके द्वारा आकर्षणशक्तिका और शत्रु आदिमें विरुद्ध मनोवृत्तिद्वारा विकर्षणशक्तिका विकाश स्पष्टरूपसे प्रकट होता है; परन्तु मनुष्यसमाजकी समता मनुष्य-समाजमें शान्ति और मनुष्यसमाजकी धर्मोन्नति तभी हो सकती है, जब इन दोनों विरुद्ध शक्तियोंकी समता मनुष्य-समाजमें वनी रहे। यदि आकर्षण और विकर्षणशक्तियोंकी समता वनी न रहती, तो मनुष्यसमाजमें माता, स्त्री और कन्याका भेद कभी नहीं बना रह सकता। यदि आकर्षण और विकर्षण इन दोनों शक्तियोंकी यथार्थ समता मनुष्यसमाजमें विद्यमान नहीं रहती, तो शिष्यमें गुरुभक्ति और गुरु-सुश्रूषाके लक्षण, गुरुमें शिष्यपर कृपा

करनेकी प्रवृत्ति, पुत्रमें मातापितापर श्रद्धाके सदाचार, माता-पितामें पुत्र-कन्याओंके साथ निःस्वार्थ स्नेहका व्यवहार, अपराधीके साथ राजाके न्यायका बर्त्ताव और शत्रुके साथ नीतिका व्यवहार कदापि इस संसारमें दिखाई नहीं देता। अतः पूर्वकथित विचारसे यह सिद्ध हुआ कि, आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति दोनोंकी अलग अलग क्रिया इस संसारके स्थूलसे स्थूलराज्यसे लेकर सूक्ष्मसे सूक्ष्म राज्यतक समानरूपसे विद्यमान है और जहाँ इन दोनोंकी समता है, वहीं सत्वगुण विद्यमान है और वहीं जगत्‌रक्षाका कारण भी विद्यमान है। जब कभी इन दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट हो जाती है और इन दोनों शक्तियोंमेंसे कोई एक शक्ति अधिक प्रबल हो जाती है, तब ही प्रलय होने लगता है। यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर सौर-जगत्‌में कोई शक्ति अपनी प्रधानताको लेकर कार्य करने लगती है, तो उस सौर-जगत्‌का क्रमशः प्रलय हो जाता है। यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर किसी गृहस्थके स्त्री-पुरुषोंमें कोइ एक शक्ति प्रबल होकर कार्य्य करने लगती है, तो उस गृहस्थके स्त्री-पुरुषोंमेंसे धर्म्माधर्मविचार नष्ट हो जाता और घरकी शान्ति नष्ट हो जाती है। गृहकी शान्तिका ज्वलन्त दृष्टान्त भारतवर्षकी पारिवारिक संयुक्त-कुटुम्बपद्धति है।

जहाँ आकर्षण या विकर्षण दोनोंमेंसे एक ही शक्ति विद्यमान रहती है, वहाँके स्त्री-पुरुष उच्छृङ्खल होकर कदाचारी और अनार्य हो जाते हैं और यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर किसी मनुष्यसमाज अथवा किसी राजाके राज्यमें कोई एक ही शक्ति प्रबल होकर कार्य करने लगता है, तो धर्मभावके अभावसे वह मनुष्यसमाज अथवा वह राज्य नष्टभ्रष्ट हो जाता है।

राजधर्म और प्रजाधर्म दोनोंमें ही इन दिनों शक्तियोंकी समता समानरूपसे विद्यमान रहनी चाहिये, नहीं तो राजा और प्रजा दोनों ही धर्महीन होकर नष्ट हो जायँगे। फलतः प्राचीन राजधर्मविज्ञानमें धर्ममूलक राजसत्ता और प्रजासत्ता दोनोंका समानरूपसे समावेश किया गया था और दोनोंकी अपने ढङ्गपर स्वाधीनता भी रक्खी गयी थी। दूसरी ओर त्रिकालदर्शी, तपस्वी, केवल जगत्‌हितमें रत ब्राह्मणोंके द्वारा जो धर्मशास्त्र (क़ानून) बनाये जाते थे, उसीसे मनुष्यसमाजकी राजनीति और समाजनीति दोनों उच्छृङ्खल होने नहीं पाते थे। निःस्वार्थव्रतधारी, विद्वान्, दूरदर्शी ब्राह्मणोंका जब राज-ऐश्वर्यसे कोई सम्बन्ध ही नहीं था और जब उनकी वृत्ति इन्द्रियसुखसे विमुख ही

रहती थी, तो उनमें स्वार्थपरताका कलंक न आने से उनके द्वारा जो समाजरक्षक और राजरक्षक कानून वनते थे, उनमें पक्षपातकी सम्भावना नहीं रहती थी और दैवीजगत्से उनके अन्तःकरणकी तन्त्री एक स्वरमें मिली रहनेके कारण उनमें भ्रम-प्रमादकी सम्भावना नहीं रहती थी। वे जो कुछ करते थे, वह दैवी जगत्की प्रेरणासे ही करते थे। अतः जहाँ पक्षपात, स्वार्थ और अहंकार नहीं है और शुद्ध आत्म ज्ञानमूलक चेष्टा है, उस केन्द्रसे चालित होनेसे राजा और प्रजा दोनों ही निर्भय और अपने अपने ढंगपर स्वाधीन होकर परस्परको सहायता देते हुए मनुष्यसमाजकी शृंखलाको विशुद्ध और शान्तिमय रखा करते थे। जवसे कालप्रभावके कारण ब्राह्मणोंकी दशा दुर्वल होगयी, तवसे भारतकी राजनीति और समाजनीति भी दुर्वल होगयी।

पूज्यपाद महर्षिगण अपने योगयुक्त अन्तःकरणसे सदा दैवीजगत्से सम्वन्धयुक्त रहनेके कारण उनके हृदयमें विशुद्ध दैवीप्रेरणा हुआ करती थी। उसीके द्वारा भ्रमरहित धर्मशास्त्र प्रकाशित होते थे। दैवीजगत्के साथ इस मृत्युलोकका घनिष्ठ सम्वन्ध वना रहने के कारण सव तरहसे दैवीसहायता भी उस समय सुगम थी, इसका प्रमाण पुराणशास्त्रमें भलीभाँति मिलता है। यहाँ तक कि, उस समयके

राजवंशोंकी जो वंशावली पुराणोंमें मिलती है, उससे ही सिद्ध होती है कि, देवलोकके राजाओंके साथ इस मृत्यु-लोकके राजाओंका वंशसम्बन्ध मिलता जुलता था। सुतरां एक ओर निष्कामव्रतधारी विषयरागरहित तपस्वी ब्राह्मणोंके द्वारा परिचालित और दूसरी ओर दैवीजगत्के देवपदधारियोंके द्वारा सुरक्षित होनेसे और उनकी शिक्षा आत्मसंयममूलक होनेसे प्राचीन कालके भारतद्वीपवासी राजन्यवर्ग निरङ्कुश और विपथगमी होने नहीं पाते थे।

इसी प्रकारसे पूज्यपाद महर्षियोके द्वारा परिचालित और दैवीजगत्पर पूर्ण विश्वास रखनेवाली आस्तिक और श्रद्धालु प्रजा वर्णाश्रमकी पवित्र शृंखलासे ऐसी जकड़ी रहती थी कि, न वह अपवित्र होकर उच्छृङ्खला हो सकती थी और न स्वाधीनचेता होकर राजभक्तिसे रहित ही हो सकती थी। इसी कारण पूर्वकथित राजसिक और तामसिक शक्तिका कुप्रभाव न राजापर और न प्रजापर ही पड़ सकता था। राजा और प्रजा दोनों पिता पुत्रके समान एक गृहस्थके रूपमें अपने जीवनपथमें अग्रसर होते हुए विद्याशक्ति, धनशक्ति, बल और बुद्धिसे युक्त होकर निरन्तर धर्ममार्गपर चलते रहते थे।

पूज्यपाद महर्षियोंने राजानुशासनको दो शक्तियोंके

द्वारा सुरक्षित किया था। एक राजदण्ड, दूसरी समाजदण्ड। राजाका राजतन्त्रवाद और प्रजाका प्रजातन्त्रवाद दोनों एक दूसरेके सहायक बने रहते थे। राजन्यगण पूज्यपाद महर्षियोंके बनाये हुए शास्त्रोंके द्वारा परिचालित होकर राजदण्डद्वारा प्रजाकी पवित्रतारक्षा करते थे और प्रजा-वर्ग भी उन्हीं शास्त्रोंके द्वारा परिचालित होकर अपने अपने गृहोंमें प्रजातन्त्रवादकी पञ्चायतीशक्ति उत्पन्न करके समाजकी पवित्रता और समाजके स्वास्थ्यकी रक्षा किया करते थे। इस सुव्यवस्थाके द्वारा न राजा ही निरङ्कुश होकर स्वेच्छाचारी बन जाते थे, न प्रजा ही निरङ्कुश होकर राजासे विमुख हो सकती थी। यही प्राचीन राजा-नुशासनका रहस्य था और यही राजशक्ति और प्रजा शक्तिका समन्वय था।

भारतद्वीपके राजन्यवर्ग और प्रजावर्गकी रीति नीति और जीवनयात्राकी पर्यालोचना पुराणशास्त्रके पाठ करनेसे भली भाँति हो सकती है। वर्तमान समयके 'हिस्ट्री' नामक इतिहासके ढङ्गपर उस समय इतिहास लिखनेकी शैली प्रचलित नहीं थी और न हो सकती थी। पूज्यपाद महर्षियोंका यह सिद्धान्त था कि, जब काल अनन्त है, जब कालके अङ्गविशेष रूपी सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग,

कलियुग तथा मन्वन्तर और कल्प आदि बराबर होते रहते हैं और कालचक्र घूमता ही रहता है, तो लौकिक इतिहासका लिखना व्यर्थ है। दूसरी ओर काल अनन्त होनेके कारण ऐसे इतिहासोंका लिखना व्यर्थ ही नहीं, असम्भव भी है। एक ही युगके इतिहासका लिखना जब सम्भव नहीं, तब युगयुगान्तर और कल्पकल्पान्तरका इतिहास कैसे लिखा जासकता है? इन्हीं अलङ्घनीय कारणोंसे प्राचीन भारतद्वीपवासी बुधजनने लौकिक इतिहास लिखनेकी शैलीको एकबार ही छोड़कर राजा और प्रजा दोनोंकी सत्-शिक्षाके अभिप्रायसे जिन जिन गाथाओं, जिन जिन चरित्रों और जिन जिन घटनावलियोंको प्रकाशित करना आवश्यक समझा, वे सब कल्पकल्पान्तरकी होने-परभी, उनको यथावश्यक मार्कण्डेय, भागवत आदि पुराण-शास्त्रों और रामायण, महाभारत आदि इतिहासशास्त्रोंमें प्रकाशित किया था। यही कारण है कि, महाभारतसे पूर्वका, यहाँतक कि, बौद्धयुगके पूर्वका, लौकिक इतिहास उपलब्ध ही नहीं होता।

प्राचीन भारतद्वीपकी राजशासनप्रणाली और समाज-संघटनप्रणाली तथा उस समयकी राजदण्डप्रणाली और समाजदण्डप्रणालीकी पर्यालोचना करके वर्तमान समयके

भारतवर्ष अर्थात् दुनियांकी राजशासनप्रणाली और समाज-संघटनप्रणालीकी तुलनात्मक पर्यालोचना करनेपर दिन और रातका-सा अन्तर देखनेमें आता है। दोनोंकी पर्यालोचना करके तदनन्तर प्राचीन भारतद्वीपके राजानुशासनविज्ञानको समझनेकी चेष्टा करनेपर दूरदर्शिताका मार्ग दिखायी दे सकता है।

वर्तमान समयकी राजनीति और समाजनीति जो जगत्-भरमें प्रचलित हो रही है, उसका बीजारोपण रोमन साम्राज्यके समयमें हुआ था। उच्छृङ्खलतामय प्रजातंत्र-वाद, लोकमतप्रधान क़ानून बनानेकी रीति, स्त्रियों और पुरुषोंकी सामाजिक स्वतंत्रता, राजभक्तिकी हीनता, राजाकी आवश्यकता और अनावश्यकताके विषयमें उदासीनता, लोकमतके निर्णय करनेमें किसी धर्म अथवा धार्मिककी अनावश्यकता इत्यादि सिद्धान्त प्रतापशाली रोमन साम्राज्य-से ही चलाये गये हैं। राजाको नष्ट कर केवल प्रजाके अधिकारसे प्रजातंत्रके स्थापन करनेकी रीति रोमनसाम्राज्य-से ही चली है। धर्म और अन्तर्दृष्टिको छोड़कर केवल लोकमतको देखकर कानून बनानेकी रीति उसी समयसे चली थी। स्त्रियों और पुरुषोंका उस समय सामाजिक स्वातन्त्र्य इतना बढ़ गया था कि, पुरुषोंकी तो बात ही क्या

है, राजमहिलाएं भी अर्थलोभसे जो चाहतीं, सब कुछ कर लेती थीं। राजाके प्रति जो धार्मिक दृष्टिसे एक विशेष प्रकारकी भक्तिकी रीति जगत्‌में प्रचलित थी, उसका समूल उच्छेद उसी समय हुआ था। राजशासनप्रणालीमें राजाकी आवश्यकता है ही नहीं, इस प्रथाका बीजारोपण उसी समय हुआ था। उसका क्रमपरिणाम अब रूस राज्यमें प्रकट होने लगा है। रोमन साम्राज्यके अनन्तर राजतन्त्र, प्रजातन्त्र दोनों राजशासनप्रणालियोंका घात-प्रतिघात होता रहा। उससे कई प्रकारकी राजशासनप्रणालियाँ वर्तमान जगत्‌में बन गयीं। राजाको किसी राज्यकी केन्द्रशक्ति मानना न मानना लोगोंकी इच्छापर निर्भर हो गया। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि, राजतन्त्रप्रणाली सबसे श्रेष्ठ है। परन्तु राजा यदि धार्मिक, कर्तव्यपरायण, निर्लोभ और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न हो, तभी राजशासनप्रणाली सफल हो सकती है। दूसरी ओर प्रजातन्त्रप्रणालीमें सामाजिक-उत्कृष्ट प्रणाली शृंखला और राजनीतिक शृंखलाकी पूर्णता हो नहीं सकती; क्योंकि केन्द्रीभूत शक्तिके अभावसे प्रजाका कालान्तरमें उच्छृंखल हो जाना स्वाभाविक है और सब मनुष्योंमें एक प्रकारकी आध्यात्मिक बुद्धि न होनेसे पंचायती विचारमें ज्ञानराज्यकी पूर्णताका विकास होना असंभव है।

फलतः वर्तमान जगत्में प्रजाकी उच्छृङ्खलता दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई ही दिखायी दे रही है। इसके स्वाभाविक विषमय फलसे मनुष्यसमाज इन्द्रियलोलुप, विषयी, स्वार्थी तथा आध्यात्मिकलक्ष्यशून्य होता जाता है और पूर्वकथित आकर्षण और विकर्षणशक्तिके सामञ्जस्यके अभावसे प्रजा दिन प्रतिदिन लक्ष्यभ्रष्ट और निरङ्कुश होती जाती है। साथ ही साथ राजाका भी उच्च आदर्श वर्तमान जगत्से नष्ट होता जाता है।

अब राजधर्म और प्रजाधर्मको सुरक्षित करनेके अर्थ आजतक जितने प्रकारकी राज्यशासनप्रणालियाँ और राजनीतियाँ संसारमें प्रचलित हुई हैं, उनपर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा। संसार में इस समय निम्नलिखित राज्यशासनप्रणालियाँ प्रचलित हैंः—(क) प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणाली (Republican form of Government) (ख) वर्त्तमान युरोपीय राजतन्त्रराज्यशासनप्रणाली (Limited monorchy), (ग) स्वेच्छाचारी राजतन्त्रराज्यशासन प्रणाली (Despotic Monorchy), (घ) स्वेच्छाचारी प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणाली, जो आजकल रूसमें प्रचलित हुई है और (ङ) हिन्दुओंकी प्राचीन राजप्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणाली। इन पांचोंके लक्षण ये हैंः—प्रजातन्त्रराज्यशासन-

प्रणालीके अनुसार प्रजाही राजा और प्रजा दोनोंका कार्य्य करती है; उसमें राजाका नाममात्र नहीं रहता। उसके नियमानुसार प्रजा ही अपनी प्रतिनिधिसभा नियत करती है। प्रतिनिधिसभाके चुनावमें उच्च नीच सब प्रजा समान अधिकार रखती है। वही प्रतिनिधिसभा एक नियमित समयके लिये प्रधान सभापतिरूपसे प्रेसिडेण्ट चुन लिया करती है। वही प्रेसिडेण्ट उसी नियमित समयके लिये राजाके कुछ अधिकार प्राप्त कर लेता है। प्रजा ही प्रतिनिधि-सभाके द्वारा अपने राज्यके राजकीय नियम (राजानुशासन-की नियमावाली) अर्थात् कानून निर्माण करती है। इस राज्यशासनप्रणालीके अनुसार यदि राजनैतिक योग्यता हो, तो प्रजाका एक अति निकृष्ट मनुष्य भी उन्नति करता हुआ कालान्तरमें उस प्रजातन्त्रराज्यका प्रेसिडेण्ट वन सकता है। यद्यपि इस प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणालीके अनुसार कोई भी स्थायी राज्यपद नहीं प्राप्त कर सकता, स्थायी राजा वननेकी कोई इच्छा भी करे, तो वह राजद्रोही समझा जाता है, परन्तु प्रजाकी शक्तिको नियमवद्ध करनेके लिये कई उपाय रक्खे गये हैं। प्रथम तो प्रेसिडेण्टको ही कुछ वर्षोंके लिये सर्वप्रधान शक्ति राजशक्तिरूपसे प्रदान की गयी है। दूसरे, मन्त्रिसमाज-संघटन, निम्न-प्रतिनिधिसभा और उच्च-प्रतिनिधि-

सभा-संघटन—इन तीनोंके अधिकार भी ऐसे रक्खे गये हैं, जिससे प्रजा उच्छृङ्खल न हो सके। प्रकारान्तरसे इस प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणालीमें राजाके अधिकारोंको भी रक्खा गया है और प्रजाको भी उच्छृङ्खल होनेसे बचाया गया है। इस प्रकारसे प्रजाको सब प्रकारका अधिकार देनेपर भी राजा और प्रजा दोनोंके पदकी असीम शक्तिको सीमाबद्ध करके आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी यथा-सम्भव समता स्थापन करते हुए राज्यरक्षाकी एक नयी प्रणाली बनानेकी चेष्टा की गयी है। दूसरी, वर्त्तमान यूरोपीय राजतन्त्रराज्यशासनप्रणालीमें राजाका सम्मान रक्खा गया है। इस राज्यशासनप्रणालीके अनुसार प्राचीन राज्यकुलका ही एक व्यक्ति अपने कुलपरम्परागत नियमके अनुसार राजा होता है और जीवनपर्य्यन्त राजा रहता है। परन्तु उसके अधिकार और क्षमता प्रायः उतनी ही होती है, जितनी प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणालीके प्रेसिडेण्टकी हुआ करती है। मन्त्रिसमाजसंघटन, निम्न-प्रतिनिधि-सभा और उच्च-प्रतिनिधिसभा-संघटन-प्रणाली, सभी प्रायः वैसी ही होती है, जैसी प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणा-लीमें होती है। केवल राजभक्तिका अंश इस राज्यशासन-प्रणालीमें राजाज्ञाद्वारा स्थायी रक्खा जाता है। इस

राज्यशासनप्रणालीमें राजा सम्मानके विचारसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और शक्तिके विचारसे प्रजाके हाथमें ही सब कुछ होता है और दोनोंके अधिकार विभक्त रहते हैं। उदाहरणस्थलपर समझ सकते हैं कि, कानून बनानेका अधिकार प्रजाकी प्रतिनिधिसभाके हाथमें रहनेपर भी उस कानूनको स्वीकार करनेका अधिकार राजाको रहता है। उसी प्रकार युद्धाज्ञाप्रचारकी क्षमता और सेनाको युद्धमें नियुक्त करनेका अधिकार राजाके हाथमें रहनेपर भी धन-व्यय करनेका अधिकार प्रजाके हाथमें रहता है। इस प्रकारसे राजा और प्रजा दोनोंकी उच्छृङ्खलताको नियमवद्ध-प्रणालीसे रोकनेका प्रबन्ध रखकर आकर्षण और विकर्षण-शक्तिकी समता स्थापन करनेका प्रयत्न किया गया है। तीसरी, स्वेच्छाचारी-राजतन्त्रराज्यशासनप्रणाली, जो कि बौद्ध राजाओंके समयसे प्रचलित हुई थी, जिसका नमूना अभीतक तुर्क देश और चीनदेशमें उपस्थित था और जो रीति अभीतक भारतके देशीराज्योंमें भी कहीं कहीं प्रचलित है, उसका पूरा नमूना हिन्दुस्थानके पठान और मुगलसम्राटोंके राज्यमें प्रकट हुआ था। इस स्वेच्छा-चारी राजतन्त्रराज्यशासनप्रणालीके अनुसार राजा ही सब कुछ समझा जाता है। राजाकी निरङ्कुशताका दमन करनेके

लिये प्रजाके निकट कोई बल नहीं रहता। राजाकी राजाज्ञा ही कानून है और राजाकी राजाज्ञा ही धर्म है। इस राज्य-शासनप्रणाली राजधर्ममें और प्रजाधर्ममें आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापन करने या न करनेका अधिकार एकमात्र राजाकी इच्छापर निर्भर करता है। चौथी, स्वेच्छाचारी प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणालीका नमूना इस समय रूसराज्यमें प्रकट हुआ है। उसमें छोटा बड़ा, स्त्री पुरुष, विद्वान् मूर्ख, धनी दरिद्र सबको ही समान अधिकार दिया गया है। राज्यकी सब भूमि तथा ऐश्वर्य पंचायती समझा जाता है। लोकमतकी अधिकतापर सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सब नियम बनना निर्भर रहता है। प्रजाकी उच्छृङ्खलताकी पराकाष्ठा होनेका पूरा अवसर इस प्रणालीमें सब प्रकारसे रक्खा गया है और आकर्षण-विकर्षणकी उभय शक्तियोंके समन्वय-का कोई भी प्रयत्न इस प्रणालीमें आवश्यक नहीं समझा गया है। पांचवी, भारतद्वीपवासियोंकी प्राचीन राज-प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणाली है। वह इन पूर्वकथित चारों-से कुछ विलक्षण थी, जैसा ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है। भारतद्वीपवासियोंकी इस प्राचीन राजतन्त्रराज्यशासन-प्रणालीमें एकमात्र धर्म ही अनुशासनरूपसे राजधर्म और

प्रजाधर्म दोनोंके अधिकारोंको विभक्त करके आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापन करता है।

पूर्वकथित पांच प्रकारकी राज्यशासनप्रणालियोंमें राजा और प्रजाका जिस प्रकार सम्वन्ध वाँधा गया है, उन सव नियमोंको भलीभाँति अन्वयव्यतिरेकके साथ विचार करनेसे यह सिद्धान्त होगा कि, स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र-राज्यशासनप्रणाली—जिसका उदाहरण प्राचीन तुर्क और चीन साम्राज्य था, उसमें एकमात्र राजाको ही पूर्णशक्तिमान् बनाया गया है। उसी प्रकार सावधानताके साथ विचार करनेसे यह सिद्धान्त होगा कि, प्रजातन्त्रराज्यशासन-प्रणाली—जिसके उदाहरण यूरोपीय फ्रांसराज्य और अमेरिकाके राज्य हैं, उसमें एकमात्र प्रजाको ही सर्वशक्तिमान् वनाया गया है। इन दोनों राज्यशासनप्रणालियोंमेंसे प्रथममें तो राजाकी ओर और दूसरीमें प्रजाकी ओर आकर्षणशक्ति झुकी हुई है। यद्यपि इन दोनोंमेंसे प्रथममें एकमात्र राजा चाहे, तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता अपने सद्विचारके द्वारा स्थापित कर सकता है और दूसरी प्रणालीमें यदि प्रजा चाहे, तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता अपने सद्विचारके द्वारा स्थापित कर सकती हैं; तथापि दोनों ही अपने अपने

अधिकारके अनुसार पूर्णशक्तिमान् होनेके कारण यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि, राजा या प्रजा दोनों सदाके लिये सद्विचारवान् तथा निरपेक्ष रहेंगे। अतः इन दोनों राज्यशासन-प्रणालियोंमें प्रमाद बढ़कर राज्यविप्लव और आकर्षणशक्ति तथा विकर्षणशक्तिकी समता नष्ट होकर राज्यके नष्टभ्रष्ट होनेकी पूर्ण सम्भावना रहती है। पृथिवीके नाना देशोंके इतिहासोंसे स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि, जिन जिन देशोंमें जब जब स्वेच्छाचारी राजतन्त्रराज्यशासनप्रणाली प्रचलित रही, उस समयमें जबतक उक्त राज्यकुलमें धर्मभीरु प्रजा-पालक संयमी और न्यायवान् राजा उत्पन्न होते रहे, तभी तक उक्त राज्योंमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता रहकर विद्या, बल, धन और धर्म सब कुछ बना रहा। राजवंशमेंसे पूर्वकथित गुणोंका नाश होते ही वह राज्य नष्टभ्रष्ट होगया। यदि हिन्दुस्थानके इतिहासपाठक पठान और मुग़ल साम्राज्यकी प्रथम स्थिति, मध्यम स्थिति और अन्तिम स्थितिपर विचार करेंगे, तो वे इस वैज्ञानिक सिद्धांतकी सत्यताको भलीभाँति समझ सकेंगे। इसी प्रकार पृथिवीके नाना देशों और विशेषतः यूरोपीय देशोंके इतिहासपाठकोंको स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि, जबतक किसी प्रजातन्त्र राज्यमें प्रजा धार्मिक, न्यायवान्, विद्वान् और

नीतिज्ञ बनी रहती हैं, तभीतक उक्त प्रजातन्त्र राज्यमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता यथासंभव स्थापित रहकर उस देशमें विद्या, बल, धन और धर्मकी स्थिति बनी रहती है। प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणाली बहुत प्राचीन नहीं है। यही कहा जा सकता है कि, यह प्रणाली यूरोपीय रोम-साम्राज्यसे ही निकली हुई है। प्राचीन भारतद्वीपकी राजानुशासनव्यवस्थामें प्रजातन्त्रके अनुशासनकी व्यवस्था सम्मिलित थी। इसी कारण राजदण्ड और समाजदण्ड दो अलग अलग विधानोंकी शैली अतिप्राचीनकालसे भारतद्वीपमें चली आयी है। प्राचीनकालकी अनुशासनव्यवस्थामें राजा अपराधीको राजदण्डद्वारा जिस प्रकार संशोधित करता था, उसी प्रकार प्रजा अपनी प्रजातन्त्रव्यवस्थासे अपराधीको सामाजिक पञ्चायत द्वारा समाजदण्डकी सहायतासे पवित्र कर लिया करती थी। उस समय राजतन्त्रव्यवस्था और प्रजातन्त्रव्यवस्था दोनों साथ ही मिलकर प्रजाको धर्मानुकूल पथपर चलानेमें सहायता किया करतीं थीं। वर्तमान समयकी तरह एकबार ही राजाका सम्बन्ध छोड़कर जो प्रजातम्त्रव्यवस्था चली है, यह सर्वथा नवीन है। अभीतक जिस प्रकार स्वेच्छाचारी राजतन्त्रराज्यशासनप्रणालीके दोष पृथिवीके इतिहासने

बार बार प्रमाणित करके दिखाये हैं, उस प्रकार पृथिवीके इतिहासको अभीतक इस प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणालीके दोषोंको सिद्ध करके दिखलानेका अवसर नहीं मिला। परन्तु इतिहासमें इस पूर्वकथित वैज्ञानिक सिद्धान्तकी पुष्टिमें कोई प्रमाण ही नहीं मिल सकता, यह बात नहीं है यूरोपीय रोमन-साम्राज्यके इतिहासको जिन्होंने भलीभाँति पाठ किया है, वे स्पष्ट ही जान सकेंगे कि, इस प्रकारसे प्रथम रोम-राज्यमें प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणालीकी सृष्टि हुई और जब रोमन-साम्राज्यकी प्रजा घोर विलासी, निरंकुश, नीति-त्यागी और अधार्म्मिक बन गयी, तो अपने आप ही रोमन-प्रजातन्त्र महाशक्तिशाली राज्यकाही नहीं, किन्तु उस रोमन-जातितकका नाश होगया। आजदिन यूरोपके उस इटाली देशमें, जहाँ रोमन-साम्राज्यका केन्द्र था, जो अब नयी इटालियन जाति बनी है, उस जातिसे प्राचीन रोमन-जातिका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहा है। वर्तमान यूरोपके राजनीति-तरङ्गोंके घात-प्रतिघातसे इटाली देशमें वर्त्तमान इटालियन जातिने थोड़ी ही शताब्दियोंसे जन्म लिया है। अतः स्वेच्छाचारी राजतन्त्रराज्यशासनप्रणाली और प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणाली दोनोंमें स्वभावतः आक-र्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापित रहनेके

लिये चिरस्थायी अवसर न रहनेके कारण दोनों राज्यशासन-प्रणालियाँ भयरहित नहीं हैं। तीसरी अर्थात् स्वेच्छाचारी प्रजातन्त्रराजशासनप्रणाली,—जिसका ढंग अव यूरोपके रूस राज्यमें चलने लगा है, वह तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति दोनोंको अति दुर्बल करनेवाली है और प्रजा तथा राष्ट्र दोनोंका इससे पतन होना अवश्यम्भावी है।

वर्त्तमान ब्रिटिशराजतन्त्रराज्यशासनप्रणाली (Limited monarchy) और हिंदुओंकी प्राचीन राजतन्त्रराज्यशासन-प्रणाली, दोनों कुछ अंशमें एक ही जातिकी राज्यशासन-प्रणालियां हैं, ऐसा समझा जा सकता है। वर्त्तमान ब्रिटिश-राजतन्त्रराज्यशासनप्रणालीमें प्रत्येक प्रजाको अपने राजाकी भक्ति होनेपर भी राजाके अनुशासनकार्य्यको नियमबद्ध करनेके अर्थ अपने देशके प्रतिनिधिसभासंघटन करनेमें पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है। प्रत्येक प्रजा स्वतन्त्र स्वतन्त्र सम्मति देती है और सव प्रजाकी समवेत सम्मतिके मताधिक्यके विचारसे उस राज्यकी प्रतिनिधिसभाका चुनाव होता है। ब्रिटिश-राज्यशासनशृङ्खलामें दूसरी जो वड़ी प्रतिनिधिसभा है, उसमें केवल ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियोंका चुनाव होता है कि, जो वंशानुगतरीतिपर राजसन्मानके अधिकारी हैं। इस शैलीसे जन्मगत और वंशानुगत मर्य्यादाकी भी

प्रतिष्ठा रक्खी गई है। ब्रिटिश जातिके राजशासनमें यह मर्यादा हिन्दुस्थानके कारण ही सुरक्षित है; ऐसा ऐतिहासिकोंका मत है। प्रजाकी उक्त दोनों प्रतिनिधिसभाएं राजानुशासनकी व्यवस्था करती हैं। इन्हींमेंसे मन्त्रि-समाजका संघटन होकर राज्यकार्य्य चलाया जाता है। अतः इस राजानुशासनशैलीमें राजभक्ति, वंशानुगत मर्य्यादा आदिके साथ ही साथ प्रजाकी यथेष्ट शक्ति विद्यमान है और राजशक्ति और प्रजाशक्ति दोनोंमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता चिरस्थायी रखनेकेलिये बहुत कुछ वाहरी यत्न किया गया है। धर्म्मके सहारेसे ये बातें हिन्दुओंकी प्राचीन राजतन्त्रराज्यशासनप्रणालीमें स्वाभाविक रीतिसे उपस्थित थीं। शास्त्रोंके पाठ करनेसे सबको भलीभाँति प्रतीत हो सकेगा कि, हिन्दुओंकी ग्रामपंचायत-प्रणाली, नगर-प्रान्त-जनपद-आदिकी पंचायती व्यवस्था और सम्राट्के मन्त्रि-समाज-संघटनकी व्यवस्थामें आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी समताकी व्यवस्था पूर्णरीत्या रक्खी गयी है। राजाको साक्षात् भगवान्का अवतार माननेकी रीति जिस प्रकार हिन्दुशास्त्रमें है, वैसी पृथ्वीके अन्य किसी देशके किसी शास्त्रमें नहीं पायी जाती। ऐसा मानना किस प्रकार दैवी सहायतासे सम्भव है, यह पहिले सिद्ध

किया गया है। राजाको भी प्रजाके लिये स्वार्थत्याग करनेकी और प्रजाको अपने पुत्रवत् प्रतिपालन करनेकी जिस प्रकारकी आज्ञा हिन्दूधर्म्मशास्त्रमें पायी जाती है, वैसी प्रवल आज्ञा और कहीं नहीं पायी जाती। एक ओर प्रजामें राजभक्तिकी पूर्णता और दूसरी ओर राजामें प्रजावात्सल्यकी पूर्णता हिन्दूशास्त्रमें अतुलनीय है। पारिवारिक सदाचाररूपी धर्म्म-में एक गृहस्वामी ही हिन्दूशास्त्रके अनुसार एक छोटासा राजा समझा गया है। प्रथम तो प्रजाका पारिवारिक सुप्रवन्ध ही व्यष्टिरूपसे राज्यको सुरक्षित करता है। इस प्रकार धर्म्म-रज्जुसे बंधा हुआ पारिवारिक अनुशासन पृथिवीकी किसी जातिमें विद्यमान नहीं है। द्वितीयतः हिन्दूसमाजके सामाजिक नेताओंके माननेके सदाचार हिन्दूसमाजसे शास्त्रद्वारा संरक्षित हैं। क्योंकि ज्ञानबृद्ध, तपोवृद्ध, शीलवृद्ध, पर्यायवृद्ध, वयोवृद्ध आदि कई प्रकारके वृद्धोंकी पूजा शास्त्रोंमें विहित है। उक्त दोनों व्यवस्थाओंके द्वारा राजानुशासनप्रणालीमें स्वतः ही वड़ी भारी सहायता मिलती है। प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म, दोनोंका प्राचीन आर्यजातिके साथ जो घनिष्ट सम्वन्ध है, उसके द्वारा एक वर्ण अन्य वर्णका, एक आश्रम अन्य आश्रमका पोषण करता हुआ समाज और राज्यको पूर्णरूपसे आकर्षणशक्ति

और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापन करनेमें सहायता करता है। वर्णधर्म्म और आश्रमधर्मकी शैली ऐसी अपूर्व और दैवीविज्ञानसे जकड़ी हुई है कि, इसके द्वारा स्वतः ही न प्रजा अपनी मर्य्यादाको छोड़ सकती है और न राजा अपनी मर्य्यादाको छोड़ सकता है। वर्णगुरु ब्राह्मण जिस प्रकार वर्णको नियमबद्ध रखते हैं, उसी प्रकार आश्रमगुरु संन्यासी अपने आध्यात्मिक उपदेशद्वारा वर्ण और आश्रम दोनोंमें किसी प्रकारका विप्लव होने नहीं देते और ये दोनों वर्ण और आश्रमकी विभूतियाँ राजाको अपने राजधर्म्मसे कदापि निरंकुश नहीं होने देतीं। साथ ही साथ ये दोनों प्रजाको अपने धर्मपालन करानेके लिये स्वतः ही भारप्राप्त हैं। राजाकी दिनचर्य्या, राजाका आचार, राजाका प्रजा-पालन, राजाकी मन्त्रि-समाज-संघटन-प्रणाली, राजाकी राजनीति, राजाकी युद्धनीति और राजाकी धर्मनीति आदि जिस प्रकार वेद और शास्त्रके द्वारा सुदृढ़ और सुरक्षित कर दी गयी है, उसके द्वारा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापनमें कभी विप्लव हो ही नहीं सकता। वर्त्तमान ब्रिटिश-राजतन्त्रराज्यशासनप्रणाली और प्राचीन हिन्दु राजतन्त्रराज्यशासनप्रणाली, दोनोंमें विलक्षणता इतनी ही है कि ब्रिटिश-राजतन्त्रराज्यशासनप्रणालीमें केवल

प्रजाशक्ति अपने विचारके फलको राजाके मुखसे कहलवाकर आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता चिरस्थायी रखनेका यत्न करती है और प्राचीन हिन्दू राजतन्त्रराज्य-शासनप्रणालीमें पूर्वकथित सब सिद्धान्त वेदाज्ञारूपसे धर्मशास्त्रद्वारा धर्म्मत्वरूपेण जकड़े हुए थे। यूरोपीय राज-तन्त्रराज्यशासनप्रणाली मानवीय विचारानुसार परिवर्तन-शील है; परन्तु प्राचीन भारतद्वीपकी राजतन्त्रराज्यशासन-प्रणालीके नियम अपरिवर्तनीय और चिरस्थायी थे। यद्यपि उक्त पश्चिमी राजानुशासनप्रणाली केवल राजनीतिकी भित्तिपर स्थित है और भारतद्वीपकी राजानुशासनप्रणाली केवल धर्मनीतिकी भित्तिपर स्थित थी; तथापि दोनोंमें कुछ सादृश्य विद्यमान है, ऐसा यदि माना जाय, तो कोई हानि नहीं है।

दैवी जगत्पर विश्वास रखनेवाले और दैवीजगत्पर विश्वास न रखनेवाले, दोनोंके सिद्धान्तोंमें बड़ा भारी अन्तर है। इस कारण शंका-समाधानके लिये कहा जाता है कि, वर्तमान दैवीराज्यपर श्रद्धा न रखनेवाले युगमें जो युद्धनीति बरती जाती है, या जो विचारनीतिका आश्रयकर न्याय किया जाता है इन सब कार्योंमें दैवीजगत्पर श्रद्धाहीन व्यक्तियोंके सिद्धान्तानुसार चाहे कुछ ही समझा जाय,

परन्तु भारतद्वीपके प्राचीन सम्प्रदायके आस्तिक व्यक्तियोंका यही स्थिर विश्वास है कि, जहां कहीं लोकक्षय अथवा लोक-मङ्गलकर विग्रह या सन्धि होती रहती है अथवा जहां कहीं न्यायालयमें अनुकूल और प्रतिकूल न्याय दिखायी देता है, सबके मूलमें दैवीप्रेरणा विद्यमान है। वह प्रेरणा जिम्मेवार व्यक्तियों और पदधारियोंके मनोमयकोषके आश्रयसे हुआ करती है। वेदोक्त दार्शनिक सिद्धान्त यह है कि, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्द-मय, ये पांचों कोष सर्वव्यापक हैं। देवताओंमें और देवपद-धारियोंमें तथा मनुष्योंमें और मनुष्यपदधारियोंमें, सबमें पाँचों कोष व्यापक हैं। जहां जहां जिस प्रकारका पिण्ड है, वहां वहां पंचकोषोंकी शक्तिमें तारतम्य होता है। देवता-ओंकी दैवीशक्तिके अनुसार उनके मनोमयकोषसे प्रेरणा उत्पन्न होकर मनुष्यलोकके व्यक्तियोंके अन्तःकरणोंमें वह प्रेरणा कार्यकारिणी हो जाया करती है और उसीके अनु-सार विवश होकर दैवीराज्यपर अनास्था रखनेवाले व्यक्ति भी दैवी इच्छाके अनुसार ही कार्य कर डालते हैं।

वर्तमान जगत्के आचार और विचारोंकी उच्छृंखलता, उसकी केवल वहिर्मुखप्रवृत्ति, उसकी इन्द्रियसुखेच्छा, उसकी ईश्वरज्ञानविहीनशिक्षाप्रणाली, उसकी धर्म-मोक्षके

विचारोंको छोड़, केवल अर्थ और कामकेलिये तृष्णा, इत्यादि कारणोंसे उसकी धार्मिक और सामाजिक उच्छृङ्खलताके साथ ही साथ राजनीतिक उच्छृङ्खलता भी दिन दिन चारों ओर दिखायी पड़ती है। इस समय ब्रिटिश साम्राज्यमें जो सुनियंत्रित राजतन्त्रशासनप्रणाली अभीतक प्रचलित है, वैसा दृष्टान्त अब सिवा एशियाखण्डके जापान देशके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं देख पड़ती। ऐतिहासिकोंका मत है कि, वृद्ध ब्रिटिश जातिकी शिक्षाग्रहण करके ही युवक जापान उन्नत हुआ है। इस अपेक्षाकृत उत्तम राज्यशासन-प्रणालीका प्रायः वर्तमान जगत्से लोप ही होता जा रहा है।

इस मृत्युलोकरूपी भारतवर्षको हम पांच महादेशोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—एशिया खण्ड—जिसमें भारतद्वीप सम्मिलित है, युरोप—जिसमें ब्रिटिशद्वीप सम्मिलित हैं, आफ्रिका, उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमेरिका। इन पांचों महादेशोंमेंसे उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमेरिका इन दोनों महादेशोंमें अब कहीं भी राजानुशासन-प्रणाली प्रचलित नहीं है। दोनों महादेशोंके सब विभिन्न राज्योंमें सर्वत्र प्रजातन्त्रप्रणाली ही दृढ़मूल हो गयी है। केवल उत्तर अमेरिकाका थोड़ासा भाग, जो ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत माना जाता है, वहां औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित

है; जो प्रजातन्त्रके समान ही माना जाता है। अफ्रिका महादेशका प्रायः सब भाग दूसरी राजसत्ताओंके अधीन है। युरोप महादेशमें भी ब्रिटिश साम्राज्यके अतिरिक्त तीन चार देशोंमें ही नियंत्रित-राजतन्त्रप्रणाली प्रचलित है। बाकी सब देशोंसे प्रजातन्त्रशासनप्रणाली दृढ़मूल होगयी है। युरोपके जिन अन्य देशोंमें अभी राजतन्त्रशासनप्रणाली प्रचलित है, वे सभी ब्रिटिश-राजतन्त्रशासनप्रणालीकी ओरसे प्रजातन्त्रराजशासनप्रणालीकी ओर आगे बढ़े हुए हैं। दूसरी ओर युरोपका आधा अंश जो रूसराज्य कहाता है, उसमें तो अब एक ऐसी प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणाली चलायी गयी है, जो एक बार ही उच्छृङ्खल है, ऐसा कहनेमें अत्युक्ति नहीं होगी। इस उच्छृङ्खलताकी नकल सब महादेशोंकी प्रजा करने लगी है और उसकी छाया कहीं कहीं भारतद्वीपमें भी पड़ने लगी है। पृथिवीका एशियाखण्ड—जो सदा धर्म और समाजनीतिका केन्द्र माना गया है, उस खण्डमें भी राजतन्त्रशासनप्रणालीका अभाव हो चला है। एशिया खण्डमें भारतद्वीपके अतिरिक्त दो सबसे बड़े महादेश हैं—एक चीन, दूसरा रूस। जो युरोपके रूस राज्यकी दशा है, वही एशियाके रूस राज्यकी दशा है। चीन-साम्राज्यमें तो अब राजतन्त्रराज-

शासनप्रणालीका एकबारगी लोप होकर प्रजातन्त्र-राज्यशासनप्रणालीका मूल दृढ़ हो गया है। एशिया-खण्डके चीन और तुर्क, दोनों देशोंमें राजतन्त्रशासन-प्रणालीकी कट्टर स्थिति अभी थोड़े दिन पूर्व विद्यमान थी। परन्तु अब दोनों देशोंमें राजतन्त्रप्रणालीका नाम तक नहीं रहा है। इन सब बड़े बड़े राज्योंके अतिरिक्त एशियाखण्डके और जो छोटे छोटे राज्य हैं, उनमें भी प्रजातन्त्रकी मात्रा बढ़ती हुई दिखायी देने लगी है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि, वर्तमान जगत्की गति राजतन्त्र-शासनप्रणालीसे हटकर प्रजातन्त्रशासनप्रणालीकी ओर द्रुत वेगसे बढ़ रही है। दूसरी ओर उच्छृङ्खल प्रजाके अन्तः-करणकी गति उच्छृङ्खलतामूलक निरंकुश नवीन साम्य-वाद (कम्युनिज़्म) नामक प्रजातन्त्रराज्यशासनप्रणाली-की ओर झुकती हुई दिखायी देती है। यदि यह उच्छृङ्खल गति दिनदिन बढ़ती गयी, तो भारतद्वीपके दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार वर्तमान जगत्की सभ्यता नष्ट होकर पुनः असभ्यताके रूपमें परिणत हो जायगी और उच्छृङ्खल मनुष्यसमाजमेंसे सामाजिक पवित्र शृंखला नष्ट होकर अपवित्रता बढ़कर मनुष्यकी अधोगति हुए विना न रहेगी।

महाभारतके महायुद्धके पूर्वकी सभ्यता और पूर्वकालकी

घटनावलीका जो पता मिलता है, वह सब सनातनधर्मावलम्बियोंके वेद और शास्त्रोंमें मिलता है। उस समयके राजा और प्रजा दोनों किस प्रकारसे अपने आपको देवाधीन मानते थे और उन्नत कालप्रभावसे दैवीजगत्के साथ उस समय भारतद्वीपका कैसा सम्बन्ध बना रहता था, इसका कुछ दिग्दर्शन पहिले आ चुका है। उस समय राजाके शरीरमें दैवीजगत्के अष्ट दिक्पाल—दैवी राजा—अपना अपना केन्द्र बनाकर लोकरक्षा किया करते थे। इसके प्रमाण स्मृतिशास्त्रमें अनेक पाये जाते हैं।* उस समयका इतिहास दैवी-जगत्की घटनावली और दैवीजगत्के सम्बन्धसे पूर्ण था।

---

* इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥
जङ्गमस्थावराणां च ह्यीशः स्वतपसा भवेत् ।
भागभाग्रक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा ॥
—स्मृतिशास्त्रे ।

आजकलके इतिहासकी तरह स्वार्थपूर्ण मिथ्या घटनावलियों-से कलङ्कित नहीं हुआ था। × प्राचीन कालका शास्त्रोक्त इतिहास केवल कल्पकल्पान्तरके आदर्श-चरित्रोंके संग्रहसे दोषरहित था। प्राचीन कालमें महान् कालके कल्प, मन्वन्तर, युग आदि वड़े वड़े विभाग आर्यजातिके प्रति-दिनके सङ्कल्पमें नेत्रोंके सम्मुख रहनेके कारण और देशके भी विभागरूपसे ब्रह्माण्डके सब अंश प्रतिदिनके सङ्कल्पमें सामने रहनेके कारण, उस समयके इतिहासका स्वरूप आज-कलके इतिहाससे कुछ विचित्र ही था, जिसका दिग्दर्शन पहिले किया गया है। उस समयके इतिहासमें अनादि अनन्त सृष्टिके विशेष विशेष विभागरूपी मन्वन्तर आदिका वर्णन वताकर इतिहासपाठकोंकी दृष्टि कालकी अनन्त सत्ताकी ओर आकृष्ट की जाती थी। उस समयके इतिहासमें वंश-वर्णन और चरित्रवर्णन, देवता और मनुष्य दोनोंके निर्वि-शेषसे करनेकी शैली थी; जिससे मनुष्य दैवीजगत्की ओर सर्वदा आकृष्ट रहे और वाहरी सृष्टिमें आकृष्ट होकर पतित न होजाय। अन्ततः उस समयके राजानुशासनकी

× "History is nothing but a pack of lies"—Sir Robert Walpole in Morley's Life of Walpole.

दशा ऐसी विलक्षण थी कि, उसे नवशिक्षित लोग अपनी कल्पनामें भी नहीं ला सकते । इन सब कारणोंसे भारतद्वीपके प्राचीन समयके राजन्यवर्ग स्वभावसे ही वेद और शास्त्रपर दृढ़ विश्वास रखनेवाले, तपःस्वाध्यायनिरत, निवृत्तिसेवी ब्राह्मणोंकी आज्ञासे चलनेवाले, अपनी प्रजाको पुत्रवत् माननेवाले, स्वभावसे ही संयमी, सत्यवादी, अप्रमादी, निर्लोभ, दानशील, वीर और दैवीजगत्पर स्थिर लक्ष्य रखनेवाले होते थे और दूसरी ओर उस समयकी आर्यप्रजा भी स्वभावसे ही शान्तिप्रिय, वर्णाश्रमशृंखलासेवी, धर्मभीरु, राजभक्त, स्वदेशप्रेमी, पञ्चमहायज्ञनिरत, निरलस, धर्मके लिये सर्वस्व त्यागनेवाली, आस्तिक और सदाचारी हुआ करती थी। इस प्रकार धर्मके आश्रयसे राजा और प्रजा मिलकर मनुष्यसमाजकी आकर्षण और विकर्षणशक्तिके समन्वयकी स्थापनाकर स्वयं धन्य होते थे और त्रिलोकको भी धन्य किया करते थे ।

सात्विक प्रवृत्ति और तामसिक प्रवृत्तिका अन्तःकरणमें युद्ध होना जैसा स्वाभाविक है, अन्तर्जगत्में द्वन्द्वशक्तियोंमें युद्ध होना जैसा स्वाभाविक है, उसी प्रकार राजशासनके मिषसे मनुष्यसमाजमें युद्ध होना भी स्वाभाविक है। युद्ध-क्रिया, जो प्रकृतिराज्यका स्वाभाविक वैभव है, उसको

एक वारगी प्रकृतिराज्यसे दूर करनेका जो प्रयत्न करते हैं, वे भ्रममें ही पतित नहीं होते, किन्तु कालान्तरमें अपनी पवित्र पुरुपार्थशक्तिको नष्ट करनेकी तैयारी करते हैं। प्राचीन भारतद्वीपवासियोंके राजन्यवर्ग तथा प्रजावर्ग वर्तमान सभ्य-जगत्की तरह युद्ध-व्यापारके उठा देनेकी कल्पना स्वप्नमें भी नहीं करते थे। युद्ध राजानुशासनका एक प्रधान अंग है, ऐसा प्राचीन भारतद्वीपवासी माना करते थे और आकर्षण तथा विकर्षणशक्तिका धर्मयुद्धसे मनुष्य-समाजमें समन्वय होता है, ऐसा समझते थे। यही कारण है कि, क्षत्रियजातिका युद्ध करना वर्णाश्रमधर्मके अनुसार प्राचीन भारतद्वीपमें एक बड़ा धर्म समझा जाता था।❀ परन्तु प्राचीन भारतद्वीपकी राजनीतिमें केवल धर्मस्थापनके लिये ही युद्ध करना विहित था, स्वार्थमूलक अधर्म-युद्ध अति अपमानजनक समझा जाता था। प्राचीन क्षत्रिय राजन्यवर्गकी जो राजनीति थी, उसके दो विभाग भारत-

---

❀ द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
—गीतासु।

द्वीपमें पाये जाते हैं। यथाः—सरल-राजनीति और कूट-राजनीति। सरल-राजनीतिमें कुटिलताकी छायातक नहीं थी और कुटिल-राजनीतिमें उसके नामके अनुसार कुटिलताका स्वरूप पूर्णरूपसे विद्यमान रहता था। सरल-राजनीति सब समय वरती जाती थी और केवल आपत्कालमें अथवा अधार्मिकके साथ युद्ध करते समय अपने वलको न्यून समझनेपर कुटिल-राजनीतिका आश्रय लिया जाता था। साम, दान दण्ड और भेद इन चारोंके वरतनेकी रीति भारतद्वीपके शास्त्रोंमें पायी जाती है। प्राचीन आर्योंके राजशासनविज्ञानके अन्तर्गत युद्धनीतिका यह संक्षिप्त रहस्य है।

अनुशासन तीन प्रकारका होता है, ऐसा पूज्यपाद महर्षियोंने दर्शनशास्त्रमें सिद्ध किया है। यथाः—योगानुशासन, शब्दानुशासन और राजानुशासन। योगानुशासन योगयुक्त अन्तःकरणमें प्रकट होता है, जो अभ्रान्त होता है। क्योंकि योगशक्तिद्वारा जव सात्विक अधिकारियोंका अन्तःकरण इष्टदेवके चरणारविन्दमें तल्लीन होता है अथवा दैवीजगत्के साथ युक्त होता है, तव जो प्रेरणा होती है, वह विशुद्ध और अभ्रान्त होती है। वह अनुशासन दैवीजगत्के साथ एकतानसे स्थित रहता है। वह विशुद्ध योगानुशासन प्राचीन-

कालके ब्राह्मणोंमें विद्यमान था। शब्दानुशासन शब्दके द्वारा प्रकट होता है। इस कारण उसके आधार वेद, शास्त्र, गुरु और आचार्य हैं। प्राचीनकालमें भारतद्वीपकी प्रजा वर्णाश्रमसेवी होनेके कारण और जगद्गुरु ब्राह्मणजाति तप-स्वाध्याय और ब्रह्मध्यानसे युक्त होनेके कारण शब्दानुशासनका प्रभाव स्वभावसे ही भारतद्वीपमें स्थित था और पूर्वकथित गुणसमूह राजा और प्रजा दोनोंमें विद्यमान रहनेके कारण प्राचीनकालका राजानुशासन भी आदर्श-स्वरूप था।

काल परिणामशील है। चारों युगोंका वार वार हेर-फेर और हरएक युगमें हरएक युगका अन्तर्भाव होता रहता है। इस कारण जवतक पहिले जैसा शुभकाल फिर न उपस्थित हो, तवतक राज-विरहित-राजानुशासनकी प्रणाली चिरमङ्गलकर नहीं हो सकती, यह लक्ष्यमें रखना चाहिये। राजानुशासन चाहे किसी प्रणालीका हो, उससे प्रजाकी धर्मरक्षाको स्वतन्त्र रखना ही उचित है। ऐसा होनेपर राजा और प्रजा दोनोंका मङ्गल होगा और धार्मिकोंको दैवी सहायता मिलती रहेगी। वर्तमान समयमें प्राचीन राजानुशासनकी छाया इसीमें प्राप्त हो सकती है।

दसवाँ अध्याय

प्राचीन भारतद्वीपकी शिक्षाप्रणाली

प्राचीन भारतद्वीपमें धर्मस्वातन्त्र्य और अन्यान्य स्वातन्त्र्यकी तरह प्रजाको शिक्षास्वातन्त्र्य भी था। शिक्षा देनेका एकमात्र अधिकार जगद्गुरु ब्राह्मणजातिपर ही निर्भर था। उस समयके ब्राह्मणगण एकान्तसेवी, विषयवैराग्य-सम्पन्न, निर्लोभ, तपः स्वाध्याय-निरत और राजसिक सुखसे विमुख रहकर केवल अध्यात्मचिन्तन और कर्मयोगपरायण होकर लोकशिक्षामें ही निरत रहते थे और सदा योगयुक्त अन्तःकरण रहनेके कारण उनका अन्तःकरण देवलोकसे सम्बन्धयुक्त रहता था। देवलोकवासी ऋषियोंकी प्रेरणासे वे सदा लोककल्याणार्थ शास्त्रप्रणयन और शास्त्राध्यापन करते हुए इस मृत्युलोकको धन्य किया करते थे। विद्याप्रचार और लोकशिक्षा ही उनके जीवनका व्रत था।

विशेषतः उस समय देश धर्मवान्, बलवान् और ऐश्वर्य-सम्पन्न तथा स्वाधीन होनेके कारण राजा और प्रजा दोनों निश्चिन्त और दानी होते थे और इसीसे विद्यार्थियोंका निर्वाह अनायास होता था। दूसरी ओर देशमें अन्न और फल आदिकी प्राप्ति आवश्यकतासे अधिक होने तथा वनोंकी विपुलता और वनोंकी स्वच्छन्दता रहनेसे निवृत्तिसेवी ब्राह्मण-गण वनोंमें वास करते हुए भी यथेष्ट गोसेवा और उंछ-वृत्तिसे धान्यसंग्रह, वनोंसे फलसंग्रह आदिसे विना किसीके अधीन हुए अपनी जीविकाका स्वच्छन्दतासे निर्वाह करते थे और प्रायः उनको किसीका मुखापेक्षी होना नहीं पड़ता था। चाहे योगानुशासन हो, चाहे शब्दानुशासन हो, चाहे राजानु-शासन हो, तीनोंकी भित्ति लोकशिक्षापर निर्भर करती है। पूज्यपाद महर्षियोंका यह सिद्धान्त था कि, अज्ञानजननी अविद्या और ज्ञानजननी विद्या है। अविद्याका प्रभाव जितना घटाया जाय, उतनी ही विद्याकी ज्योति विकसित होती है। विद्यालाभका प्रथम लक्ष्य इहलौकिक अभ्यु-दय और पारलौकिक अभ्युदय तथा अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, ऐसा त्रिकालदर्शी महर्षिगण मानते थे। इस समय जैसी स्त्री-पुरुष, योग्य-अयोग्य, ज्ञानी-अज्ञानी, पवित्र-अपवित्र, ऊंच-नीच आदि सबको एक ही प्रकारकी शिक्षा

देनेकी प्रणाली जगत्में प्रचलित है, उस प्रथाको पूज्यपाद महर्षिगण अमङ्गलकर समझते थे। प्राचीन भारतद्वीपके बुधजनका सिद्धान्त यह था कि, वर्णाश्रमशृंखलाको रखते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, यहां तक कि, जैसी प्रकृति और प्रवृत्ति व्यक्तिविशेषमें स्वभावसे ही प्रकाश पाती हों, उसीके अनुसार उसको विद्याभ्यास करानेसे जीवका बाधारहित अभ्युदय हो सकता है और उसके पतनकी सम्भावना नहीं रहती। इस विषयको इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि, वर्णभेद, स्त्रीपुरुषभेद और पूर्वसंस्कार आदिके कारण जिस व्यक्तिमें बीजरूपसे जैसी शक्ति निहित है, उसकी पर्यालोचना करके उसको उसी ढङ्गकी शिक्षाप्रणालीमें चलानेपर उस जीवका ऐहलौकिक और पारलौकिक मङ्गल होना अवश्यम्भावी होता है।

प्राचीन भारतद्वीपमें ज्ञान प्राप्त करनेकी शैली केवल बाहरकी ओरसे ही नहीं थी, जैसी आजकल देखनेमें आती है; परन्तु उसका अवलम्बन सूक्ष्मातिसूक्ष्म भीतरी ज्ञान था। जगत्के आदिगुरु ब्राह्मणगण पहिले सदाचार, सद्विचार और उपासनाके अवलम्बनसे अपने अन्तःकरणकी शुद्धि करते हुए योगयुक्त होकर अन्तर्दृष्टिसम्पन्न होते थे और योगसाधनद्वारा अलौकिक-प्रत्यक्षको प्राप्त करके क्या

अतीन्द्रिय विषयों और क्या स्थूल विषयोंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करते थे। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि, योगदर्शनके विभूतिपादमें जो संयमकेद्वारा चतुर्दशभुवनका ज्ञान प्राप्त करनेकी शैलीकी शिक्षा पायी जाती है, उस शिक्षाके अवलम्बनसे सूर्य आदिमें संयम करते हुए, वे प्रथम त्रिभुवन और तदन्तर चतुर्दशलोकोंका ज्ञान प्राप्त करते थे। इसी शिक्षाका अवलम्बन करके जगत्के आदिगुरु ब्राह्मणगण आनुश्रविक दिव्य लोकोंका ही पता नहीं लगा गये हैं, किन्तु नाना ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, राशिचक्र आदिका पता लगाकर गणितज्योतिष और फलितज्योतिषका मार्ग सरल कर गये हैं। अब दृग्गणितद्वारा नया आविष्कार कुछ ही हो, आदि गुरुओंका आदि आविष्कार योगसाधनकी संयमक्रियाद्वारा ही हुआ था। जिस प्रकार अन्तर्जगत्में योगके संयमकी क्रियाद्वारा विभिन्न ज्ञानराशिका संग्रह उन्होंने किया था, उसीप्रकार स्थूलजगत्में भी उन्होंने योगकी संयमक्रियाकी कम सहायता नहीं ली थी। शरीरके वात-पित्त-कफरूपी त्रिदोषका ज्ञान, शरीरस्थ सहस्रों नाड़ियोंका ज्ञान, इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना आदि अतीन्द्रिय दिव्य नाड़ियोंका ज्ञान, नाना रासायनिक क्रियाओंका ज्ञान और सब स्थूल पदार्थों तथा औषधियोंके द्रव्य गुण आदिका ज्ञान

भी सबसे पहिले योगयुक्त अन्तःकरणसे ही भारतद्वीपके विद्वानोंको प्राप्त हुआ था। यद्यपि इस समय शरीरतत्त्व-ज्ञान (अनाटमी) की वहुत कुछ उन्नति देखनेमें आती है, तथापि सूक्ष्मातिसूक्ष्म शारीरिक क्रियाओं और नाड़ियोंका सम्यक् ज्ञान प्राचीनकालमें कैसा हुआ था, उसको योग-शास्त्रवेत्ता विद्वज्जन अवश्य ही जान सकते हैं। 'अनाटमी विद्या' यद्यपि इस समय वहुत उन्नत हुई है, तथापि 'माइन्यूट अनाटमी' (सूक्ष्मदेह-तत्त्वज्ञान) कभी पूर्ण होकर योग-शास्त्रोक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियोंका पता लगा सकेगी, इसकी आशा भी कोई नहीं कर सकता। यहां तक कि, वड़े वड़े शरीर-तत्त्ववेत्ता साइण्टिस्टगण इस समय इसी सिद्धान्त-को मानने लगे हैं।*

---

* सार्द्धंत्रिकोटिनाडीनामालयञ्च कलेवरम्।
लोम्निकूपे सपादार्द्धंकोटयश्चैव सुन्दरि !॥
हस्तास्ये च तथा पादेऽग्निलक्षनाड्यः स्थिताः-।
उदरे च तथा पायौ पञ्चलक्षाः प्रकीर्तिताः॥
हृदादिसर्वगात्रेषु नवलक्षाः प्रकीर्तिताः।
अथ पार्श्वे तथा चर्मे तथैव सर्वसन्धिषु॥
रुद्रा न्यूनं स्थितं लक्षं शरीरे नाड्यः प्रिये !।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना चित्रिणी तथा॥
ब्रह्मनाडी च यन्मध्ये पञ्चनाड्यः प्रकीर्तिताः।

प्राचीन भारतद्वीपके त्रिकालदर्शी महर्षियोंने ब्रह्माण्डके ज्ञानके अन्वेषणमें योगयुक्त अन्तःकरणसे देखा था कि, जैसे अण्डेमें अण्डज-जीवशरीरकी उत्पत्ति होती है, जैसे जरायुके भीतर जरायुजपिण्ड उत्पन्न होता है, ठीक उसीप्रकार एक विराट् अण्डके भीतर सृष्टिके आदिमें चतुर्दशलोकमय ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है और जिसप्रकार अण्डज शरीर अण्डको अथवा जरायुज शरीर जरायुको तोड़कर बाहर निकल आता है, उसीप्रकार ब्रह्माण्डका विराट् देह भी आदि सृष्टिके समय परमाणुपुञ्जसे बनकर बाहर निकल आता

कुहूश्च शङ्खिनी चैव गान्धारी हस्तिजिह्विका ॥
नर्दिनी च तथा निद्रा रुद्रसंख्या व्यवस्थिता ।
एता नाड्यः परेशानि ! सुषुम्नायाः प्रजायते ॥
सार्द्धत्रिकोट्यो नाड्यो हि स्थूलाः सूक्ष्माश्च देहिनाम् ।
नाभिकन्दनिबद्धास्तास्तिर्यगूर्द्ध्वमधः स्थिताः ॥
द्विसप्ततिसहस्रन्तु तासां स्थूलाः प्रकीर्त्तिताः ।
देहे धमन्यो धन्यास्ताः पञ्चेन्द्रिय गुणावहाः ॥
आपादतः प्रततमात्रमशेषमेषा–
मामस्तकादपि च नातिपुरःस्थितेन ।
एतन्मृदङ्ग इव चर्मचयेन नद्धं
कायं नृणामिह शिराशतसप्तकेन ॥

—तोडलतन्त्रे, अष्टमोल्लासे ।

है।* उन्होंने योगदृष्टिसे देखकर यह सिद्धान्त निश्चय किया है कि, मानवपिण्ड जो सव पिण्डोंमें पूर्णावयव पिण्ड है, उसके पिण्डमें और ब्रह्माण्डमें पूरा सादृश्य है। मनुष्यपिण्डका शिरोभाग चेतनताका आधार है, इसी तरह चतुर्दशभुवनमें ऊपरके तीन लोक ब्राह्मस्वर्ग कहाकर उपासना और ज्ञानके सर्वोत्तम-लोक माने गये हैं। जिस प्रकार नाभिसे उद्र्ध्व और कण्ठके नीचेका मनुष्यके शरीरका भाग सव शारीरिक क्रियाओंका केन्द्रभूत समझा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डका भूः भुवः स्वः

* आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योमं दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥
—मनुः, अध्याय १

तस्येहावयवैर्लोकान्कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्द्ध्वं जघनादिभिः॥
—विष्णुभागवत, स्कं० ५

रूपी त्रिलोक सब श्रेणीकी दैवीक्रियानिष्पत्तिका केन्द्र हैं। उन्हीं तीनोंमें सब दिक्पालोंकी देवराजधानियां हैं। जिस प्रकार नाभिके नीचेका अङ्ग अधोअङ्ग कहलाता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डके अतल-वितलादि सप्तलोक अधोलोक कहाते हैं। जिस प्रकार मनुष्यशरीरमें मेरुदण्ड सबको धारण किये हुए है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डमें दैवीपर्वत सुमेरु ब्रह्माण्डको धारण किये हुए है; जैसा पहिले कहा गया है। अतः प्राचीन भारतद्वीपके आचार्यगण अपनी शिक्षाशैलीमें पिण्डसे ब्रह्माण्डज्ञान और ब्रह्माण्डसे पिण्डज्ञान और उभयमें समताज्ञान कराते हुए सद्विद्यासेवियोंका अन्तःकरण आत्मोन्मुख कर दिया करते थे। उस आत्मोन्मुखक्रियाके लिये वे जिस व्यक्तिमें जो शक्ति निहित है, उसीकी अभिव्यक्ति कराया करते थे। प्राचीन आर्यजातिकी शिक्षाका यह सिद्धान्त था कि, जिस व्यक्तिकी प्रकृतिमें जो शक्ति बीजरूपसे निहित है, शिक्षाद्वारा वही शक्ति उसकी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार पल्लवित होकर ठीक ठीक विस्तारको प्राप्त हो सकती है। सबको एक प्रकारकी शिक्षा देनेसे अनवस्थाप्रसंग उपस्थित होता है और उत्तम फलकी प्राप्ति असम्भव हो जाती है। मनुष्यपिण्डकी अन्तर्निहित मौलिक शक्तिका अन्वेषण करना अति कष्टसाध्य होनेसे वर्णव्यवस्थाके अनुसार अलग-अलग

शिक्षाकी शैली उस समय प्रचलित थी। क्योंकि वैदिक दर्शनोंके द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करके दिखाया था कि, रज और वीर्यके द्वारा पिता और मातासे अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव और सत्व, रज और तम ये तीन गुण यथासम्भव आकृष्ट हो जाया करते हैं। इसी वैज्ञानिक दृष्टिसे उन्होंने जन्मगत-जातिकी व्यवस्था की थी और उसीके अनुसार शिक्षाकी भी मर्यादा बांधी थी।

प्राचीन आर्योंको भूगोलसम्बन्धी लौकिक ज्ञान पूर्ण था। आजकलके भौगोलिक ज्ञानके साथ उसका मेल समझमें न आता हो, परन्तु भौगोलिक ज्ञानका उन्हें पता था, इसमें सन्देह नहीं। हां, थोड़े समयमें परिवर्तन होनेवाले विषयोंकी ओर उनकी उपेक्षा अवश्य थी। ब्रह्माण्डज्ञान और तदन्तर्गत खगोलज्ञानका जो अलौकिक आविष्कार उन्होंने किया था, वह शास्त्रोंमें प्रतिफलित है; जैसा कि, पहिले कहा गया है। साधारणबुद्धिसे ही यह समझमें आ सकता है कि, जिन्होंने अपनी अलौकिक योगशक्तिसे ब्रह्माण्डके विराट् देह और तदन्तर्गत खगोलका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया था, उनके लिये लौकिक भूगोलका ज्ञान प्राप्त कर लेना कौन बड़ी बात है? हम पहिले कह चुके हैं कि, लौकिक इतिहासके ज्ञानकी ओर उनकी उपेक्षा थी। क्योंकि देश-

काल-पात्रकी आवश्यकताके अनुसार वह समय समयपर अपने आप ही प्राप्त हुआ करता है। उन लौकिक इतिहासोंको शास्त्रोंके स्थायी साहित्यमें लिपिवद्ध करना वे अनावश्यक समझते थे। दूसरी ओर जिससे सत्‌शिक्षामें यथार्थ सहायता मिल सके, जिससे मानवसमाजमें आधिदैविक और आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक और नैतिक उन्नति हो सके, इसके लिए पुराण और इतिहासशास्त्रोंमें उन्होंने अलौकिक इतिहासोंका ऐसा संग्रह किया है, जिसका रहस्य वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने श्रद्धापूर्वक उन शास्त्रोंका अनुशीलन किया हो। दैवीजगत्‌को सम्मुख रखकर और दैवीजगत्‌से सम्बन्ध बांधकर भारतद्वीपके अग्रजन्मा जगद्‌गुरु ब्राह्मणगणने लोकोपकारी सब विद्याशैलियोंको अग्रसर किया था। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि, उनकी गन्धर्वविद्याकी शैली एक ओर जैसा उत्तम शिल्प (आर्ट) है, वैसा उत्तम विज्ञान (साइन्स) भी है। उसका प्रारम्भ और उपसंहार दैवीजगत्‌के साथ रक्खा गया है। प्राचीन आर्यशास्त्रके संगीतमें रागरागिनियोंके ध्यान, उनके अधिदैव और उनकी सिद्धियां तक मानी गयी हैं। इसी प्रकार प्राचीन भारतद्वीपकी चिकित्साविद्यामें वातपित्तकफकी समतासे मुक्तितक होना सिद्ध किया गया है और

उसकी काष्ठौषधि और रसौषधि दोनोंमें अधिदैवसम्बन्ध पूरा दिखाया गया है। प्राचीन भारतद्वीपकी शस्त्रास्त्र-विद्याके साथ अधिदैव सम्बन्ध कैसा था, यह महाभारत और रामायण जैसे इतिहासोंके पाठसे जाना जा सकता है।

प्राचीन भारतद्वीपकी शिक्षाप्रणालीमें यही मौलिक भित्ति पायी जाती है कि, मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन अविद्या दूर करके विद्याभ्यास करनेमें लगा रहे। केवल ब्रह्मचर्याश्रम धारण करके बाल्यावस्थामें ही प्राचीन आर्यगण विद्याध्ययन नहीं करते थे, किन्तु चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके आचारोंमें ही क्रमशः विद्याध्ययनकी शैली रक्खी गयी थी। उदाहरणार्थ, गृहस्थोंकी तीर्थयात्राकी शैली और यहां-तक कि, संन्यासियोंकी कुटीचक, बहूदक, हंस और परम-हंस इन अवस्थाओंके प्राप्त करनेकी शैली, भारतद्वीपवासी आर्योंके आजीवन विद्याभ्यास करनेका ज्वलन्त दृष्टान्त है।

प्राचीन भारतद्वीपके राजप्रबन्धमें प्रजाके शिक्षासम्बन्धी विभागके सब सूत्र प्रजाके ही हाथोंमें थे। न तो इस स्वतन्त्रता-में राजा बाधा करता और न कुछ नियन्त्रण ही रखता था। स्थान-स्थानपर और जहां पवित्र संस्कार विद्यमान हों, जहां-की जलवायु उत्तम हो, वहां ऋषिमुनियोंके आश्रम अथवा

विद्यापीठ थे और वहीं त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) शिक्षा पाते थे। कलाकौशल और सेवाका कार्य शूद्र करते थे। उन्हें परम्परासे नगरों, खेतों, खानों या कारखानोंमें व्यावहारिक शिक्षा मिलती थी। त्रिवर्णोंमेंसे किसे किस प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये, इसका निर्णय ज्ञानसम्पन्न जगत्-हितकारी तपस्या-व्रत-परायण ब्राह्मणगण ही करते थे। इसमें राजाका हाथ नहीं रहता था। लोकाश्रय और राजाश्रयसे उनकी जीविकाका निर्वाह होता था, इसीसे उनपर किसीका किसी प्रकारका दवाव नहीं था। निःस्पृहतासे लोभ-रहित होकर वे शिक्षाका कार्य करते थे। राजपुत्रों अथवा सरदारोंके कुमारोंके लिये स्वतन्त्र पाठशालाएँ नहीं थीं। सब छोटों-बड़ोंको एक ही विद्यापीठमें शिक्षा मिलती थी। अध्यापकगण किरायेके टट्टू नहीं होते थे। शिष्योंकी सेवा और आज्ञापालनसे प्रसन्न होकर निर्लोभताके साथ वे उनको विद्या सिखाते थे। इससे सभी विद्यार्थी विद्या-विनय-सम्पन्न होकर अपनी परम्परा बनाये रहते थे। विद्यापीठ नगरोंमें नहीं, किन्तु प्रशान्त वनोंमें होते थे। इससे नागरिक विलासिता और दुर्व्यसन शिष्योंके पास फटकने नहीं पाते थे। आजकल जैसी स्कूल-कालेजों और विश्वविद्यालयोंमें राजप्रासाद जैसे भवनोंका वैभव देखनेमें आता है, उसका

उस समय नाम भी नहीं था। गुरु और शिष्योंमें पितापुत्र जैसा सम्बन्ध था।

आजकलकी तरह उस समय विद्यापीठसे उत्तीर्ण होकर घर लौट आनेपर विद्यार्थियोंको जीविकाकी चिन्ता नहीं होती थी। क्योंकि वर्णाश्रमका बन्धन दृढ़ होनेसे हरएक विद्यार्थी अपने अपने परम्परागत कामोंमें लग जाता था। ब्राह्मणोंपर अध्यापन और पौरोहित्यका प्रधानतः भार था ही; इसके अतिरिक्त राजमन्त्री जैसे पदोंपर भी वे प्रतिष्ठित होते थे। परन्तु उनके वैतनिक होनेका कहीं उल्लेख नहीं है। क्योंकि ब्राह्मणोंके लिये धनी होना भूषण नहीं था। तप और स्वाध्याय ही उनका भूषण था। उनकी जीविकाका निर्वाह प्रतिग्रहसे भी होता था, परन्तु राजाके हाथ वे अपनी सदसद्विवेकबुद्धिको बेंच नहीं देते थे। प्रायः ब्राह्मणगण वनवासी और निवृत्तिसेवी होते हुए फल-मूल-नीवारादि, जो वनोंमें अनायास उत्पन्न होते थे, उनके द्वारा जीवन धारण करना परम सुखकर समझते थे। रामायणसे प्रमाणित है कि, सुमन्त, वशिष्ठ जैसे अगाध-बुद्धिसम्पन्न मंत्री और पुरोहित पूर्ण स्वतन्त्र थे और निर्भीक होकर राजाके सम्मुख अपना अभिमत प्रकट करते थे। नगरोंमें भी कुछ ब्राह्मण निवास करते थे; परन्तु

उनकी स्वतन्त्रतामें कोई वाधा नहीं होती थी। ज्ञानके द्वार सब वर्णोंको खुले थे। जनक जैसे राजर्षि ज्ञानमार्गमें पहुँचे हुए थे और सुरथ नामक वैश्यने धन-ऐश्वर्य न माँगकर जगदम्बासे ज्ञान ही माँग लिया था। यह अवश्य था कि, अन्य-वर्ण ब्राह्मणोंकी तरह प्रतिग्रह नहीं करते थे। गुहकके दिये हुए फल-मूल भी रामचन्द्रने ग्रहण न कर आदरके साथ लौटा दिये थे; परन्तु तपश्चरण, अध्ययन, यज्ञ, दान आदि करनेमें उन्हें कोई रुकावट नहीं थी।

वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंमें कहा है कि, आत्मज्ञान-प्रकाशिनी ब्रह्मशक्तिको विद्या कहते हैं और आत्माके स्वरूप-को आवृत करके जो शक्ति भ्रममें फँसावे और विपरीत ज्ञान उत्पन्न करे, उसको अविद्या कहते हैं। मुक्तिका कारण विद्या है और बन्धनका कारण अविद्या है। ज्ञानप्रसविनी शक्तिको विद्या कहते हैं और अज्ञानप्रसविनी शक्तिको अविद्या कहते हैं; जैसा कि, ऊपर कहा गया है। इसी दार्शनिक सिद्धान्तको सम्मुख रखकर प्राचीन कालमें पूज्य-पाद महर्षियोंने विद्याध्ययन-प्रणालीका निर्णय किया था। ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमों-में; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंमें; पुरुष-धारा और स्त्रीधारा, सृष्टिकी इन दो धाराओंमें; प्रवृत्तिधर्म

और निवृत्तिधर्म इन दोनोंके आचार-विचार-निर्णयमें; सब स्थलोंपर सबके लिये जो जो विद्याध्ययन-प्रणाली निर्णीत की गयी थी, उसमें यही लक्ष्य रक्खा गया था कि, अपने अपने अधिकारके अनुसार जीवन-पथमें चलते हुए जीवके अन्तः-करणमेंसे स्वभावसे ही उत्पन्न अविद्या-प्रभावका नाश होता रहे और ज्ञानप्रदायिनी विद्याशक्तिका उत्तरोत्तर विकाश होता रहे। प्राचीन शिक्षाप्रणालीमें यही मौलिक सिद्धान्त रक्खा गया था।

पूज्यपाद महर्षियोंका यह सिद्धान्त है कि, मनुष्य चाहे किसी अधिकारका हो, आजन्म उसको अपनी विद्योन्नतिका ध्यान रखना उचित है। इसी कारण विद्योन्नतिकी नाना-प्रणालियाँ शास्त्रोंमें तथा वर्णाश्रमसदाचारमें पायी जाती हैं। ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके गुरुगृहवास करता हुआ ब्रह्म-चारी विद्याकी प्राप्तिके लिये आचार्य-सेवा और शास्त्र-सेवा करता और सर्वशास्त्रज्ञ आचार्य उस ब्रह्मचारी शिष्यके अधिकारके अनुसार उसको विद्याके मार्गमें ले जाकर यथाधिकार विद्वान् बनाता था। गृहस्थाश्रममें गृही अपनी उद्दाम प्रवृत्तियोंको रोककर प्रवृत्तिमें रहते हुए निवृत्तिका अर्जन करता, अपने अभावोंका संकोच करके बहुकुटुम्बी होनेपर भी वृद्धोंके प्रति श्रद्धा, समानके साथ प्रेम, और

छोटोंके साथ स्नेह करता तथा गार्हस्थ्यधर्मके यावत् विद्योन्नतिकारी आचरणोंको पालन करके विद्याके मार्गमें ही क्रमशः अग्रसर हुआ करता था। वानप्रस्थाश्रमी तपकी कठिनताको साथ लेकर और संन्यासाश्रमी त्यागकी अलौकिकताको साथ लेकर उसी ज्ञानजननी विद्याके मार्गका अनुसरण किया करता था। *ब्राह्मणका तप, स्वाध्याय और धनादि ऐश्वर्य्योंका त्याग, क्षत्रियका पुत्रवत् प्रजा-पालन, धर्मके

---

* संन्यासाश्रमभेदाश्च चत्वार इह ईरिताः।
कुटीचकस्तु प्रथमो द्वितीयस्तु बहूदकः॥
हंसः परमहंसश्च द्वाविमावन्तिमौ स्मृतौ।
संन्यासदीक्षामादाय कामिन्यादीन्विहाय च॥
कुटीचकः स संन्यासी नगरप्रान्तसीमनि।
क्वचिन्मनोरमे स्थाने कुटीं निर्माय संवसेत्॥
योगोपनिषदध्यायैः कुर्यादाध्यात्मिकोन्नतिम्।
बहूदकस्तु संन्यासी न वसेदधिकं क्वचित्॥
दिनत्रये प्रतिस्थानं स्थित्वान्यत्र सुखं व्रजेत्।
तीर्थादिकं परिभ्रम्य यथावत्साधनादिभिः।
आत्मोपलब्धौ सततं यतेताऽयं महामनाः॥
संन्यासी ज्ञानवान् हंसो विधाय भ्रमणं मुदा।
संसारे ज्ञानविस्तारं कुर्यादेव प्रयत्नतः॥
पूज्यः परमहंसः स संन्यासी विगतज्वरः।
कुर्वन्नकुर्वन्वा किञ्चिदसौ नारायणः स्मृतः॥

लिये युद्धमें प्राणपर तिलाञ्जलि देना, अर्थको तुच्छ समझकर दानमें अभिरुचि, वैश्यका कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य द्वारा देशकी समृद्धिकेलिये और अपनी धर्मवृद्धिके लिये धनोपार्जन और शूद्रका अलौकिक सेवाधर्म और प्रभुभक्ति, ये सब वर्णधर्मके प्रकृतिराज्यसे मिले हुए स्वाभाविक आचार अपने ढङ्गपर उस विद्याके मार्गमें ही ले जानेवाले बनाये गये हैं। वर्णाश्रमधर्मकी इस सुकौशलपूर्ण आचारप्रणालीका रहस्य यही है कि, जीवमेंसे अविद्या-प्रभावका क्रमशः नाश हो और विद्याशक्तिकी वृद्धि हो। पुरुषजातिका धर्म यज्ञप्रधान होनेसे और स्त्रीजातिका धर्म तपः-

---

कौपीनं गैरिकं वस्त्रं दण्डञ्चापि कमण्डलुम्।
सततं यत्नतः सम्यक् गृह्णीरन् प्रथमाश्रयः॥
अस्मिन्परमहंसस्य नियमो नास्ति कश्चन।
ध्रुवं विधिर्निषेधश्च तदिच्छाधीनतामितः॥
पञ्चधा सगुणोपास्तावधिकारी कुटीचकः।
सुयोग्यःकीर्तितः सम्यग् ज्योतिर्ध्याने बहूदकः॥
हंसो बिन्दूपासनायामधिकारी निगद्यते।
पुण्यः परमहंसोऽसौ ब्रह्मोपास्तौ स्वतः क्षमः॥
वस्तुतोऽधिकृतिप्राप्तौ सर्वे संन्यासिनः सुखम्।
ब्रह्मोपास्ति सदा कर्तुमर्हन्तीतरथा न हि॥
—संन्यासगीता, अ० ६

प्रधान होनेसे उनके लिये जिन स्वतन्त्र स्वतन्त्र आचार-विचारों और शिक्षा-प्रणालीका वर्णन शास्त्रोंमें है, वह सब इसी वैज्ञानिक भित्तिके आधारपर किया गया है और प्रवृत्तिधर्ममें प्रवृत्ति रोककर विद्याकी अभिवृद्धि और निवृत्ति-धर्ममें शरीरका मल, मनका विक्षेप और बुद्धिका आवरण क्रमशः दूर करके विद्याकी सहायतासे स्वस्वरूपकी उपलब्धि करनेकी जो शैलियां भारतद्वीपमें बांधी गयी थीं, वे सब इसी अलौकिक-विज्ञान-सम्भूत हैं। यही कारण है कि, पूज्यपाद महर्षियोंकी बताई हुई जो प्राचीन विद्याध्ययनप्रणाली थी, उसमें आधिभौतिक लक्ष्य गौण और आध्यात्मिक लक्ष्य ही मुख्य था।

विद्यार्जनके साथ धर्मका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्मकी शिक्षा प्राप्त करके मनुष्य जितना धार्मिक होता जाता है, उतना ही उसको मनुष्यत्व प्राप्त होता है। पशु और मनुष्यमें यही भेद है कि, पशुमें धर्माधर्मज्ञान नहीं है और मनुष्यमें धर्माधर्मज्ञान है। अतः धर्मज्ञानके साथ मनुष्यत्व-का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतद्वीपके जगत्के आदिगुरु ब्राह्मणोंकी सम्मतिमें धार्मिक शिक्षाका स्थान सबसे उच्च रक्खा गया है और धार्मिक शिक्षाके सम्बन्धसे ही वे मनुष्यको सब वर्ण, सब आश्रम और सब अवस्थाओंमें ही उस शिक्षाके

अधिकारी मानते थे। ब्रह्मचारीगण आचार्यके निकट यथा-योग्य विद्याभ्यासके साथ ही साथ यथायोग्य धर्मका ज्ञान प्राप्त करते थे। गृहस्थगण अपने-अपने गुरु और पुरोहितके उपदेशसे धर्मकी शिक्षा प्राप्त करते थे। यहां तक कि, वानप्रस्थ-अवस्था और संन्यास-अवस्थामें भी अपने अपने गुरुजनोंसे धर्मज्ञानकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करनेकी विधि थी। चातुर्वर्ण्यके व्यक्तियोंकी यथायोग्य धर्मशिक्षा तो पहलेसे ही वालकोंको दी जाती थी। धर्मप्राण भारतद्वीपके प्राचीन आर्योंमें धार्मिक शिक्षाका स्थान सब श्रेणीके विद्याभ्यासके साथ रक्खा गया था। प्राचीन भारतद्वीपके आर्योंका धर्मज्ञान कितना सर्व-व्यापक, कितना सर्वजीवहितकारी और कितना सब अङ्ग-उपाङ्गोंसे पूर्ण है, उसका वर्णन पहले हो चुका है। प्राचीन शिक्षा-प्रणालीमें साधारण-धर्मकी कैसी शिक्षा दी जाती थी, वह शिक्षा किस प्रकार पृथ्वीके सब श्रेणीके नर-नारीके लिये हितकारी होती थी और किस प्रकार संसारके सब धर्ममार्ग तथा सब जाति और सब श्रेणीके मनुष्योंके लिये समानरूपसे फलदायी होती थी, उसके दिग्दर्शनके अर्थ शास्त्रोंमें एक औपनिषदिक दृश्यका वर्णन किया गया है। शक्तिगीतामें जगज्जननी महादेवीने देवता-

ओंको जो उपदेश दिया था, उसका तात्पर्य निम्न-लिखित है—

हे अमरगण ! मैं ही धर्मकल्पद्रुमका वीज हूँ, मूल हूँ और आधार भी हूँ, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। उस वृक्षका स्कन्ध विश्वधारक धर्म ही है। ❀ उसकी प्रधान तीन शाखाएं हैं। यथा—यज्ञ, तप और दान। अर्थदान, ब्रह्मदान और अभयदानके त्रिगुणात्मक होनेसे दानकी नौ प्रतिशाखाएं हैं, हे देवगण ! इसमें सन्देह नहीं है। शारीरिक तप, वाचनिक तप और मानसिक तपके त्रिगुणात्मक होनेसे तपो-

---

❀ अहमेवास्मि भो देवाः! धर्मकल्पद्रुमस्य च।
बीजं मूलं तथाऽऽधारो नात्र कश्चन संशयः॥
स्कन्धस्तस्य द्रुमस्यास्ते धर्मो वै विश्वधारकः।
मुख्यं शाखात्रयञ्चास्य यज्ञो दानं तपस्तथा॥
ब्रह्मार्थोऽभयदानानि देवाः त्रैगुण्ययोगतः।
दानस्य प्रतिशाखाः स्युर्नवधा नात्र संशयः॥
तपोऽपि त्रिविधं ज्ञेयं कायवाणीमनोभवम्।
त्रैगुण्ययोगेनास्यापि प्रतिशाखा नवासते॥
प्रतिशाखा अनेकाः स्युर्यज्ञशाखासमुद्भवाः।
काम्याध्यात्माधिदैवाधिभूतनैमित्तनित्यकाः॥
कर्मयज्ञप्रशाखाया भेदास्त्रैगुण्ययोगतः।
त एवाष्टादशास्या हि प्रतिशाखा मनोहराः॥

धर्मकी नौ प्रतिशाखाएं हैं। यज्ञशाखासे उत्पन्न प्रतिशाखाएं अनेक हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत, ये कर्म्मयज्ञरूपी प्रशाखाओंके भेद हैं। इनके त्रिगुणात्मक होनेसे कर्मयज्ञकी मनोहर अठारह प्रतिशाखाएं हैं। उपासनायज्ञके आसुरी उपासना, ऋषि-देवता और पितरों की उपासना, अवतारोंकी उपासना, पञ्च सगुण ब्रह्मरूपोंकी उपासना और निर्गुण ब्रह्मोपासना, ये पांच भक्तिसम्वन्धी भेद हैं और योगके अनुसार उपासनाके मन्त्र, हठ, लय, राज ये चार भेद हैं। इस प्रकारसे इन्हीं नौ भेदोंके त्रिगुणात्मक

पितृदेवर्षिवृन्दानामवतारगणस्य च ।
पञ्चानां सगुणब्रह्म-रूपाणां निर्गुणस्य च ॥
ब्रह्मणश्चासुरौघाणामुपास्तेः पञ्च भक्तितः ।
मन्त्रो हठो लयो राज एते योगेन च ध्रुवम् ॥
अस्या भेदाश्च चत्वारो भेदा एवं नवासते ।
एते भेदा नवैवाहुः देवाः ! त्रैगुण्ययोगतः ॥
उपास्तेः प्रतिशाखाः स्युः सङ्ख्यया सप्तविंशतिः ।
श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च ।
त्रयोऽमी ज्ञानयज्ञस्य भेदास्त्रैगुण्ययोगतः ।
नवधा सम्विभक्ता हि प्रतिशाखा नवासते ॥
द्विसप्तत्या प्रशाखाभिः शाखाभिश्चैवमेव भोः ।
निजानां ज्ञानिभक्तानां धर्मकल्पद्रुमात्मना ॥

होनेसे हे देवगण! उपासनाकी सत्ताईस प्रतिशाखाएं हैं। ज्ञानयज्ञके श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ये तीन भेद त्रिगुण-सम्बन्धसे नवधा विभक्त होकर नौ प्रतिशाखाएं होती हैं। हे देवतागण! इस प्रकारसे मैं ही बहत्तर शाखा और प्रति-शाखाओं में धर्मकल्पद्रुमरूपसे अपने ज्ञानी भक्तके हृदेशमें निःसन्देह विराजमान हूँ। उस धर्मकल्पद्रुमके पत्र-पुष्परूपी उपाङ्गोंकी तो संख्या ही किसीसे कभी नहीं हो सकती। वे अतिमनोहर और विचित्र हैं। उस रम्य वृक्षराज-पर जगन्मुग्धकारी दो पक्षी सदा अनन्तकालसे निवास करते हैं। उनमेंसे एक पक्षी अभ्युदयके दो कच्चे फलोंका स्वाद

विराजे स्वान्तदेशेऽहं निर्जराः! नात्र संशयः।
धर्मकल्पद्रुमस्यास्य पत्रपुष्पात्मकान्यहो॥
उपाङ्गानि न सख्यातुमर्हाणि कैरपि क्वचित्।
विचित्राणि मनोज्ञानि सन्ति तानि ध्रुवं सुराः॥
पक्षिणौ द्वौ सदा तत्र जगतां मोहकारणौ।
मनोज्ञे वृक्षराजेऽस्तो वसन्तौ शाश्वतीः समाः॥
स्वादतेऽभ्युदयस्यैको ह्यपक्वे द्वे फले तयोः।
अपरश्चतुरः पक्षी सुपक्वं त्वमृतं फलम्॥
सुस्वाद्यास्वाद्य गीर्वाणाः! नूनं निःश्रेयसं पदम्।
ब्रह्मानन्दसमुल्लास-सार्थकत्वं प्रकाशयेत्॥
—शाक्त गीता।

ग्रहण करता है और दूसरा चतुर पक्षी निःश्रेयसपदरूपी सुपक्क और सुस्वादु अमृत-फलका आस्वादन करके हे देवगण! ब्रह्मानन्दसमुल्लासकी चरितार्थताको निश्चय ही प्रकाशित करता है। इस प्रकारसे शास्त्रोक्त इस औपनिषदिक अति-मनोहर चित्रको नेत्रोंके सामने देखनेसे ज्ञानवान् व्यक्तिमात्र ही समझ सकेंगे कि, किस श्रेणीकी धार्मिक शिक्षा प्राचीन पूज्यपाद महर्षिगण लोककल्याणार्थ दिया करते थे और उस शिक्षाका कैसा जगन्मङ्गलकर उच्च स्थान था; जिसको आजकलके शिक्षा-गुरुगण एक बार ही भूल गये हैं। इस मनोहर आध्यात्मिक दृश्यकी दार्शनिक नेत्रोंसे पर्यालोचना करनेसे यह स्वतःही ज्ञान पड़ेगा कि,भारतद्वीपका साधारण-धर्म जगत्‌के स्त्रीपुरुषमात्रके लिये और जगत्‌के सब धर्म-मार्गोंके लिये समानरूपसे हितकारी है। बौद्ध और जैन-धर्मका पूर्णावयव मनुष्यरूपी अवतारवाद और सनातन-धर्मियोंकी अवतारोपासना सबका अधिकार इस धर्मकल्प-द्रुमकी शाखाओं में मिलेगा। गुणभेदसे अवतारवादमें इनका अधिकार खोजनेसे मिल जायगा। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्मो-पासनाके सात्विक राजसिक और तामसिक अधिकारके अनुसार भारतद्वीपकी निर्गुण ब्रह्मोपासनाके अधिकारोंसे लेकर अरब देशवासियोंके इसाई धर्म और महम्मदीयधर्मकी

निर्गुण ब्रह्मोपासनाके अधिकारोंतकका स्थान इस धर्मकल्पद्रुमकी शाखाओंमें उपलब्ध होगा। इसी प्रकार शान्तचित्त होकर अनुसन्धान करनेपर यही सिद्ध होगा कि, जगत्‌में जितने धर्मसम्प्रदाय हैं और होंगे और जितने धर्ममत हैं और होंगे, सबका आश्रयस्थल इस धर्मकल्पद्रुमकी बहत्तर शाखाओंमेंसे किसी न किसी शाखामें मिल जायगा। प्राचीन भारतद्वीपवासियोंकी धार्मिक शिक्षाका यह निरुपम चमत्कार है।

आजकलके पाश्चात्य विद्वानोंकी जो विद्याध्ययनप्रणाली है, वह ऊपर लिखित आध्यात्मिक लक्ष्यसे शून्य है। उनकी विद्याभ्यासशैलीमें पूर्वकथित विद्या और अविद्याका विचार रक्खा ही नहीं गया है। यथार्थ मनुष्यत्वकी प्राप्ति, धर्म और मोक्षका स्थिर लक्ष्य आदि उद्देश्य जैसा प्राचीन भारतद्वीपकी विद्याध्ययनप्रणालीमें था, वह पाश्चिमात्य देशकी नवीन विद्याभ्यासशैलीमें रक्खा ही नहीं गया है। पाश्चात्य देशोंमें विद्याभ्यासका लक्ष्य इहलौकिक सुखप्राप्तिमात्र है। उनकी पदार्थविद्या (सायन्स) के आश्चर्य्यजनक आविष्कारसमूह सब इहलौकिक उन्नतिके लिये ही नियोजित होते हैं। उनकी भाषाशिक्षा, उनकी नाना शास्त्रशिक्षा, उनकी पदार्थ विद्याकी उन्नति, उनकी शिल्पोन्नति, उनकी युद्धविद्याके निमित्त नाना यन्त्रोंकी उन्नति, उनका आकाशयान, रेलयान, जलयान,

आश्चर्यजनक शृङ्खलाप्रणाली (ऑर्गनिज़ेशन), समाजनीति, राजनीति और यहां तक कि, उनकी धर्मनीति सब इह-लौकिक सुखप्राप्तिके निमित्त ही नियोजित है, ऐसा देखनेमें आता है।

यथार्थ विद्याध्ययनके लिये सबको एक मार्गमें चलाना सम्भव नहीं है। इसको तो अब पश्चिमी चिन्ताशील विद्व-न्मण्डली भी माननी जाती है। स्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिकारके अनुसार शिक्षा देनेसे ही कल्याण हो सकता है। क्योंकि प्रकृतिका वैचित्र्य होना निश्चित है। ज्ञानाधिकार सबमें समान होना असम्भव है; इस कारण उन्नत तत्त्वज्ञानके प्रदान करनेमें अधिकारीका विचार करना अत्यावश्यक है। यही प्राचीन भारतद्वीपवासियोंका सिद्धान्त था। पुरुष वीजरूप है और स्त्री क्षेत्ररूपा है। इस कारण पुरुष और स्त्रीकी शिक्षाप्रणालीमें भी अवश्य ही भेद रहना उचित है। यद्यपि अर्थ और काम भी प्रयोजनीय हैं, उनके अर्जनके निमित्त शिक्षाप्रणाली रहनी चाहिये, परन्तु धर्म और मोक्ष-का उन्नति लक्ष्य सर्वथा विद्याध्ययनप्रणालीमें सम्मुख रखना चाहिये। इहलौकिक ज्ञान ही यथेष्ट नहीं है। केवल इहलौकिक ज्ञानका प्रचार नास्तिक्य उत्पन्न करता है। ईश्वर-ज्ञानविहीन शिक्षाप्रणालीका कुफल जैसा पाश्चात्य देशोंको मिला है, वैसा

ही भारतद्वीपको भी अब मिल रहा है। इस कारण ईश्वरतत्त्व-विचार, परलोक-तत्त्वविचार और धर्माधर्मतत्त्व-विचारका सम्बन्ध जबतक विद्याभ्यासप्रणालीके साथ नहीं रक्खा जायगा, तबतक जगत्का यथार्थ कल्याण होना असम्भव है। इसके बिना शिक्षाप्रणालीकी पूर्णता भी नहीं हो सकती तथा जगत्में जो दुःख और अशान्ति दिनदिन बढती जाती है, वह बढ़ती ही रहेगी। इस समय स्त्री और पुरुषमें, पिता और पुत्रमें राजा और प्रजामें जाति-जातिमें जो विरोध दिखायी पड़ता है, इसी विरुद्ध विद्याभ्यासप्रणालीका ही दुःखजनक फल है।

प्राचीन भारतद्वीपमें शिक्षाप्रणालीका मौलिक सिद्धान्त यह था कि, बुद्धिमान्, बुद्धिहीन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, शिल्पके विशेष विशेष अधिकारवाले, जिनकी जातिगत शिक्षा परम्परासे चली आयी हो, विशेष विशेष प्रवृत्तिवाले और विशेष विशेष शक्तिसम्पन्न व्यक्ति सबका विचार करके अलग अलग शिक्षाप्रणालीके चलानेकी रीति प्रचलित थी। आजकल ठीक उससे विपरीत प्रणाली जगत्में चल रही है। आजकलके साइन्सके विद्वानोंने तुलनात्मक विचार करके यह सिद्ध करके दिखलाया है कि, चूहे या न्योले आदिको शिक्षा देकर उनसे जो काम लिया जाता है,

उसके लिये उनको कमसे कम ३०० बार शिक्षा देनी पड़ती है और शिक्षित माता-पिताके बच्चोंको २०–२५ बार शिक्षा देनेसे ही काम चल जाता है। जैसा हम पहिले कह चुके हैं। इससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि, वंश-परम्परासे आकृष्ट शक्ति शिक्षामें बहुत सहायक होती है, परन्तु साइन्स द्वारा यह सिद्ध होनेपर भी वर्तमान शिक्षाप्रणालीके सुधार करनेमें वर्तमान जगत्में इस प्रकार सिद्धान्तको उपयोगमें नहीं लाया गया है, जिससे जगत्की शिक्षाप्रणाली अधूरी रह गयी है। योग्य, अयोग्य, अनुकूलप्रकृति, विरुद्धप्रकृति, बुद्धि-जीवी, बुद्धिहीन, स्त्री, पुरुष सभीको एक ही शिक्षाप्रणालीमें ले जानेके प्रयत्न जो वर्तमान जगत्में हो रहे हैं, वे सभ्यताके नाशकारी हैं और प्रजाकी आध्यात्मिक क्रमोन्नतिके बाधक हैं। इससे मनुष्य-जातिका पतन होना अवश्यसम्भावी है। वर्तमान भारतद्वीपमें जो उच्च शिक्षाप्रणालीके प्राप्त करनेमें राष्ट्रभाषा या मातृभाषाका सहारा न लेकर विदेशी भाषाका सहारा लिया जाता है, यह भी समय और शक्तिका दुरुपयोग करनेवाला है। शिक्षामें शुल्क लेनेकी रीति प्राचीन कालमें नहीं थी। शिक्षादानको ब्रह्मदान कहा जाता और यह दान सबसे श्रेष्ठ समझा जाता था। शुल्क-ग्रहणपूर्वक शिक्षाप्रणालीके प्रचलित करनेसे राजाका तपोनाश और

प्रजाकी मेधाका अपलाप होता है, ऐसा प्राचीन भारतद्वीप-वासी मानते थे और प्राचीन भारतद्वीपमें शुल्क लेकर विद्या-दान करना पापजनक समझा जाता था। यूरोपके कुछ सभ्य देशोंमें लोग इस प्रथाका दोष अब अनुभव करने लगे हैं।

भारतद्वीपकी प्राचीन शिक्षा-शैलीका आदर्श अवश्य ही इस समयके शिक्षाशैली–प्रवर्तक विद्वानोंको ध्यानमें रखना उचित है। यह तो प्राचीन इतिहास और नवीन इतिहास दोनों ही हाथ उठाकर साक्षी दे रहे हैं कि, अन्तर्जगत् सम्बन्धी सब गम्भीर तत्त्वोंका सफलताजनक आविष्कार भारतकी प्राचीन शिक्षाप्रणालीके परिणामसे ही उत्पन्न हुआ था; जैसा पहिले प्रमाणित हो चुका। यह भी सर्ववादिसम्मत है कि, सब बड़े बड़े विद्याविभागोंका प्रथम आविष्कार उसी देश में हुआ था, जहाँ यह प्राचीन शिक्षाप्रणाली प्रच-लित थी। किसी विद्यामें कुछ नवीन उन्नति करना कुछ और बात है और उस विद्याका प्रथम आविष्कार करना और ही बात है। ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र, नीतिशास्त्र आदिकी अब नूतन उन्नति बहुत कुछ हुई है, परन्तु उन सब शास्त्रोंका आदिगुरु इस प्राचीन विद्याप्रणाली द्वारा शिक्षित भारत-द्वीप ही है, जिसने विराट् ब्रह्माण्डको करतलामलकवत् कैसे देखा था, सो हम पहिले कह चुके हैं। प्राचीन भारतद्वीपकी

शिक्षाप्रणालीकी यदि भलीभांति पर्य्यालोचना की जाय, तो निरपेक्ष विचारशील बुधजन इसी सिद्धान्तपर पहुँचेंगे कि, जब तक शिक्षागुरु आचार्यगण निर्लोभ होकर विद्यादान करना अपना परम धर्म नहीं समझेंगे, जब तक जगत्के सब प्रकारके दानोंमें विद्यादान सर्वश्रेष्ठ नहीं माना जायगा, जब तक सदाचार, त्याग और तपस्या विद्याके आचार्य्योंको सुशोभित नहीं करेगी, जब तक विद्यादानके स्थान राजभवन-सदृश अट्टालिकाओंसे हटकर सुरम्य वन-उपवनोंमें प्रधानतः नहीं आ जायंगे, विद्यार्थियोंको विद्याभ्यासके समय तप, त्याग, ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा, विलासविमुखता, शीलता और संयम आदिका उपदेश दृढ़तापूर्वक नहीं दिया जायगा, जब तक स्त्री-पुरुष भेद और अधिकार-भेदसे शिक्षा देनेकी शैली नियम-पूर्वक प्रचलित नहीं की जायगी, जब तक प्रशान्त और महाशक्तिशाली अतिविस्तीर्ण दैवीजगत्का लक्ष्य शिक्षामें सन्निविष्ट करके सर्वशक्तिमान् भगवान् और उनकी दैवीशक्तियोंकी महिमा विद्याके आचार्यगण अपने विद्यार्थियोंके अन्तःकरणमें खचित नहीं करेंगे, जब तक आर्ट (शिल्प), साइन्स (पदार्थविद्या) और फिलासफी (दर्शनशास्त्र) तीनोंकी अलग अलग शिक्षाप्रणाली स्थिर करते हुए उत्तरोत्तर तीनोंकी यथाक्रम महिमा स्थापित नहीं की

जायगी, जब तक विद्या और अविद्याका विवेक शिक्षादानप्रणालीमें नहीं किया जायगा, जब तक विद्याके आचार्योंके उपदेशोंमें और उनके पाठ्यक्रममें काम, अर्थ, धर्म और मोक्षका यथार्थ स्वरूप और काम तथा अर्थसे धर्म और मोक्षकी विशेषता नहीं प्रतिपादित की जायगी, जब तक पितृ-मातृभक्ति, गुरुभक्ति, राजभक्ति, गुरुजनभक्ति, देशभक्ति और ईश्वरभक्तिकी नियमित शिक्षा विद्यार्थियोंके आचार-पालनके साथ ही साथ न दी जायगी, जब तक राजनीतिक कौटिल्य और स्वार्थके कलंकसे लोकशिक्षाको बचाकर वह दानधर्मकी विशुद्धताके रूपमें परिणत न की जायगी और जब तक धर्मशिक्षाकी महिमा स्थापित न की जायगी, तब तक भारतद्वीपके प्राचीन आर्योंकी शिक्षाप्रणालीका अनुकरण वर्तमानकालमें हो ही नहीं सकता। इन सब लोकपवित्रकारी प्राचीन भारतद्वीपके विद्यादानसम्बन्धी रहस्योंका पूर्णरीतिसे अनुसरण इस समय यद्यपि न भी हो सके, तथापि यथासम्भव इन सिद्धान्तोंको ध्यानमें रखनेसे अब भी जगत्का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

—※—

रामायण ।

वेदमें जो इतिहास और पुराणोंके नाम आते हैं और अब भी भारतद्वीपके साहित्यका सहस्रांश रह जानेपर भी जो पुराण और इतिहासग्रन्थ प्राप्त होते हैं, उनके अनुशीलनद्वारा यही सिद्ध होता है कि, दैवीजगत्‌के चरित्र जिस ग्रन्थमें अधिक हों. वह पुराण है और लौकिकजगत्‌के चरित्र जिसमें अधिक हों, वह इतिहास है। जैसा कि, पहिले कहा गया है। दूसरी ओर इस समय उपलब्ध होनेवाले प्राचीन भारतद्वीपके ऐतिहासिक ग्रंथोंमेंसे दो ही महाग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। एक रामायण और दूसरा महाभारत। इस कारण उन दोनोंमेंसे लौकिक इतिहासके रहस्यका अनुसन्धान करना युक्तियुक्त होगा। सबसे पहिले रामायणमेंसे देश, काल और पात्र तथा राजनीतिक-शृंखला और सामाजिक-शृङ्खलाकी खोज करना उपकारी होगा।

रामायणसे यह बात स्पष्ट होती है कि, भगवान् रामचन्द्रका अवतार आदर्श-मानवजीवन बतानेके लिये और भगवती सीताका अवतार आदर्श-नारी-जीवनका दृष्टान्त संसारमें स्थापन करनेके लिये हुआ था। रामावतारसे पूर्व परशुरामके द्वारा इक्कीस बार पृथ्वी क्षत्रियशून्य हो चुकी थी, जिससे संसारमें क्षात्रशक्तिका बहुत अभाव हो गया था। संसारमें धर्मकी स्थिति और ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें नियम और व्यवस्था तभी तक रह सकती है, जब-तक ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्तिके बीचमें सामाञ्जस्यकी रक्षा हो। परशुराम-अवतारके समय क्षात्रशक्तिके अत्याचारसे यह सामञ्जस्य बिगड़ गया था। इसलिये श्रीभगवान्‌को परशुरामरूपसे क्षात्रशक्तिका नाश करके उस समयके लिये दोनों शक्तियोंके बीचमें सामञ्जस्य स्थापन करना पड़ा था यद्यपि उस प्रकार क्षात्रशक्तिके नाशके द्वारा उस कालके लिये ब्राह्म—क्षात्र दोनों शक्तियोंमें समता स्थापित हुई, तथापि परवर्ती कालमें क्षत्रियवंशनाशके कारण क्षात्रशक्ति धीरे धीरे हीनबल होने लगी, जिससे संसारमें धर्मरक्षाके कार्यमें बहुत ही बाधा होकर युगानुकूल धर्मकी कमी हो गयी। धर्मरक्षक क्षात्रशक्तिके नाशसे ब्राह्मशक्ति बहुत अन्यायरूपसे बढ़ने लगी, जिस कारण ब्राह्मणवंशमें भी

रावण जैसे अत्याचारी पापी दुर्दान्त राक्षस उत्पन्न होने लगे। इसलिये त्रेतायुगके उस कालमें ब्रह्माण्डप्रकृतिकी ओरसे यह प्रेरणा हुई कि, ऐसी कोई अलौकिक भगवत्-शक्ति अवताररूपसे प्रकट हो, जो हीनबल क्षत्रियशक्तिको पुनः जीवित करके क्षत्रियकुलमें एक आदर्श-मानवचरित्र स्थापन कर सके और असुर तथा राक्षसभावापन्न ब्राह्मण-शक्तिको नष्ट करके क्षात्रशक्तिके साथ ब्राह्मशक्तिका धर्मानुकूल सामञ्जस्य स्थापन कर सके। इन्हीं दोनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये श्रीभगवान् रामरूपमें क्षत्रिय वंशमें प्रकट हुए और प्रकृतिमाता सीतादेवी उनकी सहधर्मिणी बनीं।

रावणके अत्याचारसे अनेक सती स्त्रियां भ्रष्ट हो रही थीं, पातिव्रत्यका परम आदर्श संसारसे प्रायः लुप्त हो रहा था, सती स्त्रियोंके मर्मभेदी रोदन तथा अभिसम्पातसे दस दिशाएं गूंज उठी थीं। इस कारण उस समय ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें यह आवश्यकता उत्पन्न हुई थी कि, ऐसी एक आदर्श सती उत्पन्न हो, जिसके आदर्शको देखकर सतियोंके चित्तमें बल प्राप्त हो और सतीधर्मका आदर्श स्थापित होकर सतीत्वके प्रतापका चमत्कार संसारमें प्रकट हो जाय। रावण जैसे प्रतापी राक्षस अग्निमें पतङ्गकी तरह जलकर खाक हो सकें और अटल अचल पाति-

व्रत्यका आदर्श भविष्यत् कालमें संसारकी नारियोंके हृदयमें अङ्कित हो जाय। ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें उत्पन्न इसी महान् प्रेरणाको सफल करनेके लिये महामायाका सीतारूपमें अवतार हुआ था। दुर्दान्त रावणके द्वारा सती स्त्रियोंपर क्या क्या अत्याचार होता था, इसका वर्णन रामायणमें है।*

दिग्विजय करके लौटते समय दुरात्मा रावण रास्तेमें देवकन्याओं, ऋषिकन्याओं, दानवकन्याओं और राज-

---

* निवर्त्तमानः संहृष्टो रावणः स दुरात्मवान्।
जह्रे पथि नरेन्द्रर्षिदेवदानवकन्यकाः॥
दर्शनीयां हि यां रक्ष कन्यां स्त्रीं वाथ पश्यति।
हत्वा बन्धुजनं तस्या विमाने तां रुरोध सः॥
एवं पन्नगकन्याश्च राक्षसासुरमानुषीः।
यक्षदानवकन्याश्च विमाने सोऽध्यरोपयत्॥
ता हि सर्वाः सम दुःखान्मुमुचुर्बाष्पजं जलम्।
तुल्यमग्न्यर्चिषां तत्र शोकाग्निभयसंभवम्॥
अहो दुर्वृत्तमास्थाय नात्मानं वै जुगुप्सते।
इदं त्वसदृशं कर्म परदाराभिमर्शनम्॥
यस्मादेष परक्यासु रमते राक्षसाधमः।
तस्माद्वै स्त्रीकृतेनैव वधं प्राप्स्यति दुर्मतिः॥
—रामायण, उत्तरकाण्ड।

कन्याओंको हरण करने लगा। कन्या या स्त्री —जिसको सुन्दरी देखा, उसीके कुटुम्बियोंको मारकर उन्हें पुष्पक विमानमें भरने लगा। इस प्रकारसे राक्षस, असुर, मनुष्य, पन्नग तथा दानवकन्याओंको अपने विमानमें रखने लगा। चुराई हुई स्त्रियां दुःखसे मर्मभेदी रोदन तथा आंसुओंकी धाराएँ बहाने लगीं। वह शोकाग्नि और भयसे उत्पन्न नेत्र-जल अग्निशिखाकी तरह ऊष्ण था। स्त्रियांने विलाप करते हुए कहाः—"अहो! यह दुराचारी परस्त्रीहरणरूप पापकर्म करता हुआ अपने आत्माको निन्दित नहीं समझता। जब कि, यह राक्षसाधम दूसरेको स्त्रियांमें यथेच्छ रमण करता है, तब यह दुर्मति स्त्रीके कारण ही विनाशको प्राप्त होगा।" ऐसा ही हुआ भी।

रामावतार-चरित्र वीर, करुण, वात्सल्य, मधुर, भयानक, अद्भुत आदि सकल रसोंका आदर्श संसारमें स्थापन करके समस्त संसारके जीवोंके हृदय-हृदयमें सुशोभित हुआ है। पूर्ण मानव कौन है, जिसके आदर्शको देखकर प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवनको पूर्णजीवन बना सकते हैं तथा प्रत्येक क्षत्रिय नरपति अपने राजधर्मके पूर्णानुष्ठान द्वारा इह लोक-परलोकमें कृतकृत्य हो सकता है? इस प्रकार महामुनि वाल्मीकिके प्रश्न करनेपर देवर्षि नारदने श्रीभगवान्

रामचन्द्रको ही ऐसे पूर्णमानवके आदर्शरूपसे वर्णन किया था।

प्राचीन समयमें जितने राज्य हुए, उनमें रामराज्य सर्वश्रेष्ठ और आदर्शस्वरूप माना जाता है। जिस राजाका शासनसर्वोत्तम होता है, उसके राज्यको आज भी रामराज्यकी उपमा दी जाती है। रामराज्यकी उत्कृष्टताका सर्वप्रधान कारण यह है कि, उसमें छोटीसे छोटी मर्यादाका भी कभी उल्लङ्घन नहीं हुआ। मनुष्यसमाजकी धारणाके प्रधान चार अङ्ग हैं। यथाः—१-समाज चिरस्थायीरूपसे सुश्रृङ्खल रहे, २—बलवानोंसे दुर्बलोंकी रक्षा हो, ३—योग्यता पुरस्कार और अयोग्यका तिरस्कार होता रहे और ४—समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्ति श्रम-विभाग और योग्यताके अनुसार की जाय। रामायणकालमें इन चारों अङ्गोंका पूर्ण उत्कर्ष हुआ था; इसीसे मर्यादाभङ्गका कभी अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ।

पूर्वाध्यायमें हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि, राजसत्तासे प्रजासत्ता और प्रजासत्तासे राजसत्ता सम्मानित और सुरक्षित होकर राज-प्रजा-सत्ताकी राजशासनप्रणालीही संसारमें आदर्शस्वरूप मानी जा सकती है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके राज्यशासनकी स्मृति जबतक मनुष्यसमाजको

रहेगी, तबतक इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती रहेगी। राज-प्रजा-सत्ताक शासनकी उस समयकी सबसे महत्त्वकी रीति यह थी कि, राजा स्वेच्छासे कोई बड़ा कार्य नहीं करता था। जो कुछ करता, परिषदोंका सम्मति लेकर। लोकमतानुसार राज्यप्रबन्धकेलिये उस समय जो परिषदें होती थीं, उनमें लोगोंके प्रतिनिधि श्रेष्ठ ऋषिगण, बड़े बड़े समाज-नेता, माण्डलिक राजा और सर्वसाधारण नागरिक सम्मिलित होते थे। सबको समान रूपसे मतामत प्रकट करनेका पूर्ण अधिकार था। परिषदमें उपस्थित होनेवालोंको स्वयं राजा अथवा उनके वशिष्ठ जैसे सर्वज्ञ पुरोहित निमन्त्रित किया करते थे। ऐसी परिषदमें अनुकूल-प्रतिकूल सब प्रकारके लोग समानरूपसे सम्मिलित होकर सच्चा लोकमत प्रकट होता था। चुनावकी इससे अच्छी प्रथा हो नहीं सकती। पूर्वकालमें राजसत्तापर लोगोंका दबाव नहीं था, इस प्रकारका आक्षेप करनेवालोंको वाल्मीकि रामायणके अयोध्याकाण्डका शान्तचित्तसे अध्ययन करना चाहिये।

राजा दशरथने वशिष्ठसे परामर्श कर रामचन्द्रको यौवराज्याभिषेक करनेका जब निश्चय किया, तब वशिष्ठने एक महापरिषद् आमन्त्रित की थी। उसमें सब वर्ण, जाति और पन्थोंके छोटे-बड़े लोग उपस्थित हुए थे। राजाके

प्रस्ताव उपस्थित करनेपर सबने एक स्वरसे अनुमति दी। एक भी विरोधी न देखकर राजाको आश्चर्य हुआ और उसने प्रश्न किया कि, जब मैं धर्मानुसार पृथ्वीका पालन कर रहा हूँ, तब आप रामको अभिषेक करनेकी क्यों अनुमति देते हैं? इसपर परिषदने उत्तर दिया:—"राम आत्मीयोंकी तरह प्रायः प्रातः-सायं पुरवासियों और वनवासियोंसे उनके पुत्रों, अग्निहोत्रों, स्त्रियों, सेवकों आदि के सम्बन्धमें कुशल प्रश्न पूछा करते हैं। कुशल पूछते हुए उनका व्यवहार पिता जैसा होता है। इसीसे नगर तथा राष्ट्रके आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष रामका मङ्गल मनाते और चाहते हैं कि, आपके शासनकार्यमें वे योगदान करें।"

एक और आक्षेप रामनिर्वासनके सम्बन्धमें किया जाता है। यदि प्रजाकी रामके प्रति प्यारके कारण यह भावना थी कि,—"जहाँ राम राजा नहीं, वह राष्ट्र नहीं और जहाँ राम हों,—चाहे वह अरण्य ही क्यों न हो,—वही राष्ट्र है।"* तो उन्हें वन जानेकी आज्ञा देते समय प्रजाने दशरथपर अपना प्रभाव क्यों नहीं डाला? और उन्हें जानेसे क्यों नहीं

* न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥
—रामायण, अयोध्याकाण्ड।

रोका? इसका समाधान यह है कि, रामचन्द्रको जिस प्रकार अपने पिताके सत्यकी रक्षा करनी थी, उस प्रकार प्रजाको भी करनी थी। प्रजा नहीं चाहती थी कि, अपना राजा झूठा हो जाय। सत्यप्रतिज्ञ होना ही राजाका मुख्य गुण है। भरतने प्रजाजनसे जब कहा कि, तुम रामको समझा बुझाकर लौटा लाओ। तब प्रजाने यही उत्तर दिया कि, "हे आर्य! रामको हम पहचानते हैं। वे पिताकी आज्ञाका परिपालन कर रहे हैं। उससे परावृत्त करना हम उचित नहीं समझते।" सत्यरक्षाके लिये दशरथने रामका निर्वासन ही किया था, किन्तु उस समयके राजा प्रत्यक्ष पुत्रको भी कठोरसे कठोर दण्ड देनेमें विचलित नहीं होते थे। सिद्धार्थ नामक एक मन्त्रीने केकयीको सगरके पुत्र असमंज नामक एक राजपुत्रकी कथा सुनायी थी। असमंजस अपनी नगरीके बालकोंको पकड़ कर, उन्हें सरयूमें डुबाकर, अपना मनोरञ्जन कर लिया करता था। जब उसके पिताने यह समाचार सुना, तब उसे पकड़कर मँगवाया और उसका सब धन छीनकर उसे स्त्री सहित देशसे निकाल दिया। ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि, यह देशनिकालेका दण्ड राजाने अपने इकलौते और उत्तराधिकारी पुत्रको दिया था।

यह कोई नियम नहीं कि, प्रजा अपने राजाकी हरएक बातका प्रतिरोध ही करती रहे। जहाँ सार्वजनिक हितमें बाधा होती हो, वहीं राजाका विरोध करना पड़ता है। जहाँ प्रजाके प्रति राजा उत्तरदायी है, प्रजाके कल्याणके लिये अपने सर्वस्वका होम करनेमें संकुचित नहीं होता, वहाँ विरोधकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। रामचन्द्र प्रतिज्ञा करते हैं कि,—प्रेम, दया, सब प्रकारका सुख,—यही क्यों,—जानकीको भी प्रजारंजनके लिये मुझे छोड़ना पड़े, तो इससे मुझे कुछ भी दुःख नहीं होगा।* ऐसी अवस्थामें राजाका विरोध करनेका प्रजाको प्रयोजन ही क्या रह जाता है?

सीताको वनमें छोड़कर जब लक्ष्मण लौटने लगे, तब रामसे निवेदन करनेके लिये सीताने उनसे यही सन्देश कहा कि,—"आर्य! आप जैसा अपने भाइयोंपर प्यार करते हैं, वैसा ही प्रजापर करें। इसीसे आपकी उत्तम कीर्ति होगी।" अत्यन्त सङ्कटावस्थामें भी राजपरिवारके लोग प्रजाके कल्याणकी कितनी चिन्ता करते थे, इसका परिचय इस उदाहरणसे मिल सकता है।

---

* स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
—भवभूतिः।

सारांश, प्रजानुरञ्जन ही राजाका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इसके लिये राजा या सरकारको अपूर्व स्वार्थत्याग करना पड़ता है। हमारे प्राचीन राजाओंमें स्वार्थत्यागका भाव लोकोत्तर था। राम जब दण्डकारण्यमें थे, तब बहुतसे ऋषियोंने उद्दण्ड राक्षसोंके उपद्रवोंका वर्णन कर उससे छुड़ानेका अनुरोध किया और रामने भी उनके दुःख दूर करनेका आश्वासन दिया। उस समय सीताने कहा,—"आर्य! अब हम वनवासी हैं। यहाँ शस्त्र धारण करनेका प्रयोजन नहीं है। अयोध्यामें लौटकर राक्षसोंका प्रबन्ध किया जायगा।" इसपर राम उत्तर देते हैंः—"हे सीते! कहींसे दीन दुखियोंका शब्द सुनाई न दे, इसीलिये क्षत्रिय धनुष धारण करते हैं। एकबार प्रतिज्ञा करनेपर—विशेषतया ब्राह्मणोंके सामने प्रतिज्ञा करनेपर—चाहे अपने प्राणोंको अथवा लक्ष्मण और तुमको भी छोड़ दूँगा, किन्तु अपनी प्रतिज्ञासे नहीं डिगूँगा। ऋषियोंके रक्षणका कार्य मुझे बिना कहे ही करना चाहिये, कहनेपर तो बात ही क्या है?" ॐ

ॐ क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।
अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्॥
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।

इस प्रकारकी कर्तव्यजागृति जिस राजाके अन्तःकरण-में वास करती हो, उसके राज्यमें अशान्ति रहना असम्भव है। राजाकी कर्तव्यभ्रष्टता प्रजाको बहुत कष्ट पहुँचाती है। जब प्रजाको विश्वास हो जाता है कि, अपनी अनुमतिके बिना राजा कोई कार्य नहीं करता, तब प्रजाके हृदयोंमें स्वाभाविकरूपसे ही उसके प्रति आदर बना रहता है। राजभक्ति उत्पन्न करनेके लिये नाना प्रकारके प्रलोभनों या दण्डोंका प्रयोजन नहीं होता। यही कारण था कि, रघुवंशी राजाओंकी अयोध्यामें कोई स्त्री या पुरुष दरिद्र या कुरूप नहीं था। राजद्रोही मनुष्य तो वहाँ ढूंढेसे भी नहीं मिलता था। श्रीरामचन्द्रजीके राज्यकालमें स्त्रियोंको वैधव्यदुःख नहीं देखना पड़ता था और किसीको भी सर्पभय तथा रोगका भय नहीं होता था। चोर, दस्यु आदिका कोई भी अत्या-चार नहीं था। किसी प्रकारका उपद्रव नहीं था और वृद्ध पिता-माताको कभी उनके जीते जी मृतपुत्रका श्राद्धकर्म नहीं करना पड़ता था। सभी लोग आनन्दपूर्ण और सभी धर्मपरायण थे। श्रीरामचन्द्रके धार्मिकभावका आदर्श

तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम्॥
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय कथं पुनः।
—रामायण, अयोध्याकाण्ड।

पाकर कोई भी परस्पर हिंसामें लिप्त नहीं होते थे। सहस्रों पुत्रोंके साथ सहस्रों वर्षों तक नीरोग तथा शोकशून्य होकर मनुष्य जीवित रहते थे। वृक्ष सदा ही फल फूल मूलोंसे सुशोभित रहा करते थे। इच्छामात्रसे ही मेघ जलवर्षण करता था और शीतल मन्द सुगन्धयुक्त सुखस्पर्श वायु वहा करता था। अपने कर्मसे तृप्त होकर प्रजा अपने कर्ममें ही तत्पर रहती थी। सभी लोग धर्मपरायण थे और कहीं भी मिथ्या-व्यवहारका प्रचार नहीं था। सव शुभलक्षण और स्वधर्मसे विभूषित थे।* यही आदर्श नरपति श्रीरामचन्द्रके पुण्यवलसे रामराज्यमें प्रजासुखकी पराकाष्ठाका अपूर्व दृष्टान्त है।

---

* कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान्नाप्यरूपवान् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ॥
न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम् ।
न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत् ।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते ॥
सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत् ।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन्परस्परम् ॥
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ॥

प्राचीन समयमें राजा और प्रजामें उक्त प्रकारका विश्वास, आदर और प्रेम बना रहनेका कारण यह है कि, दोनों धर्मके सूत्रमें बँधे हुए थे। भारतद्वीपवासी स्वभावतः शान्तिप्रिय और कर्तव्यनिष्ठ होते हैं। यही कारण है कि, हमारे इतिहास पाश्चात्य इतिहासोंकी तरह राजा और प्रजाके कलहोंके वर्णनोंसे रँगे हुए नहीं हैं। समस्त प्राचीन इतिहासमें एकमात्र वेन राजाका ही उदाहरण है कि, उसे प्रजाको पदच्युत करना पड़ा था। शेष रावणसे लेकर दुर्योधन तक—जो असुर कहाते थे, सभी राजा प्रजापालनके कर्तव्यसे विमुख नहीं हुए, प्रजारञ्जनके धर्मसे च्युत नहीं हुए।

उस समय राजा जिस प्रकार प्रजाकी अनुमतिके बिना कोई कार्य नहीं करता था, उसी प्रकार प्रजा भी राजाके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती थी। दशरथके देहावसानके समय एक भी पुत्र उपस्थित नहीं था। तब प्रजाने मन्त्रियोंसे अनुरोध किया कि, किसी राजपुत्रको बुलाकर

नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः।
कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः॥
स्वकर्मसु प्रवर्त्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः।
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः॥
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः।

—रामायण, युद्धकाण्ड।

शीघ्र ही उसे गद्दीपर बिठाया जाय। विना राजाके राज्यमें कैसा अन्धेर होता है, इसका वर्णन प्रजाने इस प्रकार किया है:—"हमारे राष्ट्रमें यदि राजा न हो, तो राष्ट्रका नाश हो जायगा। राष्ट्रवर्धक उत्सवादि वन्द हो जायँगे। विना राजाके राज्यमें धनिक लोग सुरक्षित नहीं होते। राजा यदि न हो, तो भले-बुरेका निर्णय कर यथान्याय व्यवस्था नहीं होती और सर्वत्र अन्धकार हो जाता है। विना राजाके राज्यमें किसीका अपना कुछ नहीं रह जाता। सभी एक दूसरेको मछलियोंकी तरह भक्षण करने लगते हैं।"

रामराज्यका प्रधान कर्तव्य चातुर्वर्ण्यकी रक्षा करना था। चारों वर्ण शास्त्रविहित अपने-अपने कर्म करें, कोई किसीके कार्यमें विघातक न हो और सब मिलकर राष्ट्रका संवर्धन करें, यही उस समयकी राजनीतिका प्रधान उद्देश्य था। जो राजाको अभीष्ट था, वही प्रजाको। दोनोंके हित-सम्बन्ध एक और अन्योन्याश्रयी थे। जहाँ राजा-प्रजाके हितसम्बन्ध भिन्न होते हैं, वहीं राजाको प्रजापर या प्रजाको राजापर दबाव डालना पड़ता है। रामराज्यमें इसकी आवश्यकता नहीं थी। बहुतसे ऐसे विभाग थे, जिनकी ओर देखनेका प्रजाको प्रयोजन नहीं था और बहुतसे ऐसे थे, जो

प्रजाके अधीन थे; उनकी ओर राजाको दृष्टिपात करनेकी आवश्यकता नहीं थी।

उदाहरणार्थ—नहर, मुद्रा, अर्थ आदि विभागोंपर प्रजा कभी विचार नहीं करती थी; क्योंकि विना किसीके कहे ही सरकार इन विभागोंको लोकहितकी दृष्टि रखकर अग्रसर करती जाती थी। राजाकी आयके मार्ग निश्चित थे। सबसे बड़ी आय भूमिकरसे होती थी। शास्त्राज्ञाके अनुसार जमीनकी पैदावारका छठा हिस्सा राजाका होता था; इससे अधिक वसूल करना पाप समझा जाता था। प्राचीन भारतद्वीपमें जैसे शुल्क लेकर विद्यादान करना पाप समझा जाता था, जैसे शुल्क लेकर न्यायदान करना पाप समझा जाता था, वैसे ही छठे हिस्सेसे अधिक कर लेना भी पाप समझा जाता था। भरतने दशरथकी मृत्युके पश्चात् जो शपथें ली हैं, उनमें एक शपथ यह भी है कि, भूमि-करका छठा हिस्सा लेकर भी जो राजा प्रजाका उत्तम रीतिसे पालन नहीं करता, उसे जो पाप लगता है, वही पाप उसे लगे, जिसकी अनुमतिसे रामभद्र वनमें भेजे गये हैं। मनमाना भूमिकर लगाकर कृषकोंको भूखे रखनेकी प्रथा उस समय नहीं थी। भूमि-करकी आयसे म्युनिसिपल्टी, पब्लिक वर्क्स, कृषि, डाक आदि प्रजाकल्याणके विभागोंका काम

चलता था। राजाकी आयका दूसरा मार्ग माण्डलिकोंसे प्राप्त होनेवाला राजस्व था। यह राजस्व माण्डलिक अपने खर्चका निर्वाहकर बची हुई रकममेंसे दिया करते थे। इस आयसे सेना, पुलिस, वनरक्षा आदि विभागोंका काम चलता था। आयका तीसरा मार्ग परदेशके साथ किये जानेवाले व्यापारका था। चीन, ईरान, ग्रीस, बेबिलोनिया, ईजिप्ट, मध्ययुरोप आदि देशोंके साथ, जिनके नाम रामायणमें और और तरहसे पाये जाते हैं, प्राचीन समयमें भारतद्वीपवासी व्यापार करते थे। इससे राजाको जो कर मिलता था, उससे शिल्पकी वृद्धि और कौटुम्बिक खर्चका निर्वाह होता था। खनिज-रत्नादिसे होनेवाली आयसे कोषकी वृद्धि और वैभवकी वृद्धि की जाती थी। आयका यह चौथा मार्ग था। इसके अतिरिक्त छोटे मोटे आयके मार्ग थे, किन्तु उनका विशेष महत्व नहीं था और उस आयसे रानियों, राजपुत्रों और अन्य गुणिजनकी श्रीवृद्धि की जाती थी।

सबसे छोटी रकम,—जैसे दहेज, भेट आदि व्यवहारोंसे प्राप्त होनेवाली रकम,—राजपरिवारमें व्यय होती थी। मामाके घरसे लौटते समय भरतको भेटमें प्राप्त हुई सम्पत्तिका उल्लेख रामायणमें है, जो भेट उसने स्वीकार नहीं की थी। परन्तु ऐसी छोटी रकमोंसे ही रानियों और राजपुत्रोंकी व्यक्तिगत

सम्पत्ति इतनी अधिक हो जाती थी, जितनी वर्तमान समयके वड़ेसे वड़े महाराजाओंके पास भी नहीं होती। रामने वन जाते समय अपनी सब व्यक्तिगत सम्पत्ति दान की थी। उसका व्योरा देखनेसे ज्ञात होता है कि, वह करोड़ोंकी सम्पत्ति थी। इसी तरह केकयी, सुमित्रा आदि रानियों तथा भरत, लक्ष्मण आदि राजपुत्रोंकी सम्पत्ति भी अटूट थी। जब सहजमें दान करने योग्य राजपरिवारके लोगोंकी व्यक्तिगत सम्पत्ति इतनी अधिक होती थी, तव प्रत्यक्ष राज्यकोष कितना पुष्ट होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। उस समयकी प्रजा राजासे अधिक समृद्धिशाली और सुखी थी और उसकी आय और व्ययके विभाग भी शास्त्रके अनुसार नियमित रहनेसे प्रजाकी समृद्धिके साथ ही साथ देशमें दान और धर्मकी मात्रा इतनी अधिक थी कि, इस समय उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। राजा और प्रजा दोनोंकी समृद्धि, सुख और शान्तिका प्रधान कारण यह था कि, दोनोंकी नीयत धर्मानुकूल थी और धर्मके वतानेवाले वनवासी महर्षिगण निःस्वार्थ थे, समृद्धिकी कुछ भी आशा नहीं रखते थे। रामायणमें लिखा है कि, राम जब चौदह वर्षोंका वनवास समाप्त कर अयोध्या लौटे, तो उन्होंने क्या देखा कि, अन्नागार और कोषागार

पहिलेसे दस गुना बढ़ गया है। यह तो निश्चित ही है कि, प्रजाका रक्त चूसकर यह धन एकत्र नहीं किया गया था। क्योंकि दशरथ या भरतके शासनकालमें प्रजाका प्रत्येक व्यक्ति रोम रोम प्रसन्न था और रामके शासनकालमें तो वह प्रसन्नता सहस्र गुण बढ़ गयी थी। उस समय व्यक्तिगत और राष्ट्रीय सम्पत्तिके अपरम्पार बढ़नेका कारण यह था कि, लोग धर्माचरणमें तत्पर थे। विलासिताकी मात्रा उनमें नहीं थी। वे सादी रहन-सहन और मितव्ययिताके महत्वको जानते थे और सबसे बढ़कर बात यह थी कि, अन्य देश अनेक प्रकारसे भारतका अन्यायसे रक्तशोषण करने नहीं पाते थे। इसीसे राष्ट्रीय ऋण लेनेका प्राचीन इतिहासमें कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

उस समय देशकी आयका अधिकांश सेनाविभागमें ख़र्च नहीं किया जाता था। प्रजाके प्रति राजाका विश्वास ही इसका कारण है। राजा और प्रजाके हितसम्बन्ध जहाँ एक हैं, वहाँ अधिक व्यय सेनाविभागमें करनेका प्रयोजन नहीं होता। काम पड़नेपर प्रजाका प्रत्येक व्यक्ति सैनिक बन जाता है। अब भी युरोपमें जो स्वयंसेवकपद्धति प्रचलित है, उससे बिना व्ययके सेना तैयार हो जाती है। प्राचीन भारतमें स्वयंसेवकप्रथा धर्मानुकूल होनेसे व्ययका

बोझा बढ़ने नहीं पाता था। क्योंकि उस समय क्षत्रियमात्र ही स्वयंसैनिक और स्वयंसेवक था। पहिलेके राजा सुसज्ज सेना थोड़ी बहुत रखते थे; परन्तु सभी आय उसमें स्वाहा नहीं कर देते थे। रामको लौटा लानेके लिये जब भरत चले, तब उनके साथ नौ हज़ार हाथी, साठ हज़ार रथ और एक लाख घुड़सवार थे, ऐसा वर्णन है। परन्तु यह या इसी प्रकारकी अन्य सेना काम पड़नेपर तैयार कर ली जाती थी। प्रत्येक नागरिक राष्ट्रकी रक्षा करना और राजाके लिये प्राणविसर्जन करना अपना कर्तव्य समझता था।

प्राचीन कालकी युद्धनीति भी न्यायधर्मके अनुसार ही प्रवर्तित होती थी। स्वार्थपूर्ण अधर्मयुद्ध प्राचीन कालमें असुरगण और राक्षसगण ही किया करते थे। अधर्मयुद्ध करना न्यायपक्षपाती देवगण अथवा वर्णाश्रमी क्षत्रियगण जानते ही नहीं थे। जैसे देवलोकमें सृष्टि-सामञ्जस्य-रक्षाके लिये और विश्वधारक धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये देवतागण देवा-सुर-संग्राममें प्रवृत्त हुआ करते हैं, उसी आदर्शके अनुसार इस मृत्युलोकमें क्षत्रिय राजन्यवर्ग केवल धर्मरक्षा, प्रजा-पालन और न्यायधर्मके पालनके लिये ही धर्मयुद्धमें प्रवृत्त हुआ करते थे। दूसरेका धन अथवा भूमि अपहरण करनेके लिये वे युद्ध करना पाप और अन्याय समझते थे। इस

संसारमें युद्धका होना अपरिहार्य है। युद्ध प्रकृतिका स्वाभाविक कार्य है। इस कारण संसारमें युद्ध होना भी स्वाभाविक है। परन्तु स्वर्गलोकमें देवतागण और मनुष्यलोकमें प्राचीन क्षत्रियगण केवल लोकरक्षा, दुष्टोंका संहार, स्वधर्मपालन और जगत्‌के कल्याणके लिये ही युद्धमें प्रवृत्त होते थे। न्यायविरुद्ध युद्ध करनेवालोंको वे असुर या राक्षस समझते थे।

उस समयके राजा राज्यको अपना परिवार मानकर प्रजाको अपनी सन्ततिके समान मानते थे और राजशासनका वहुतसा भार प्रजापर सौंप देते तथा वड़े वड़े विषयोंपर प्रजाकी सम्मति लेते थे। उस समयकी राजशासनप्रणाली देनलेन अथवा व्यापारके ढंगपर नहीं चलायी जाती थी। एक गृहपति जैसा स्नेहसे अपने कुटुम्वका प्रवन्ध करता है, वैसा एक राजा अपने राज्यका प्रवन्ध किया करता था। राजा प्रजा दोनों एक दूसरेसे सच्चे हृदयसे सम्वन्धयुक्त थे।

वर्तमान समयके उन्नत कहानेवाले देश विचारस्वातन्त्र्यके वड़े पक्षपाती हैं; परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहारमें उनकी यह धारणा रहती है कि, प्रजाको विचार करने और उन्हें प्रकट करनेकी अनुमति देना न देना राजसत्ताके अधिकारमें है। प्राचीनकालमें भारतीयोंकी यह भावना नहीं

थी। उस समय विचारस्वातन्त्र्य मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता था, उसपर किसी सत्ताका दवाव नहीं था। यही नहीं, विचारस्वातन्त्र्यके अनुसार लोग जो मत प्रकट करते थे, राजाकी ओरसे उसका आदर होता था। भारतद्वीपके प्राचीन कानूनोंकी किताबोंमें लोगोंके विचार-स्वातन्त्र्यको दवानेका एक भी नियम नहीं है। तब न्याय-दान भी विचारस्वातन्त्र्यके अनुसार होता था। न्यायाधीश स्वाधीन भावसे विचार करते थे। कानूनकी किताबें उनके लिये केवल मार्गदर्शक हुआ करती थीं। कानूनकी किताबोंमें नैतिक अपराधोंका वर्गीकरण किया हुआ है। उनके परिमाणके अनुसार तब न्याय किया जाता था। इस समय न्यायाधीशको किसी न किसी धाराके अनुसार निर्णय करना पड़ता है। कानूनके चश्मेसे उसे देखना पड़ता है। स्पष्टरूपसे किसीने कोई अनैतिक अपराध किया हो और उसके सम्बन्धमें कोई कानून न बना हो, तो अपराधीको छोड़ देना पड़ता है अथवा जो शुल्क नहीं देता है, उसको न्याय ही नहीं मिलता,—विचारस्वातन्त्र्यसे वह लाभ नहीं उठा सकता। यह प्रथा प्राचीन समयमें नहीं थी। तबका विचारस्वातन्त्र्य सजीव था, आज उसकी ठठरीभर देख पड़ती है। लोकमतसे भिन्न मत प्रतिपादन कर उसके अनु-

सार आचरण करनेवालेको राजपक्षसे कोई आपत्ति नहीं होती थी। ध्यान इतना ही रक्खा जाता था कि, भिन्न मतका व्यक्ति कोई अनैतिक या सार्वजनिक अमंगलका कार्य तो नहीं कर रहा है।

न्यायाधीशोंकी तरह प्रजाको भी विचारस्वातन्त्र्यके पूर्ण अधिकार थे। रामको वन भेजनेका जब निश्चय किया गया, तब नगर तथा प्रत्यक्ष राजसभामें भी केकयीकी प्रजाने बड़ी निन्दा की और उसके प्रति अनेक कटूक्तियाँ कहीं। लोग जानते थे कि, राम अवश्य वन जायँगे और भरत राजगद्दीपर बैठेंगे। ऐसी अवस्थामें राजमाताकी निन्दा करना धोखेका है। परन्तु प्रजाने विचारस्वातन्त्र्यसे काम लिया। इस विषयमें राजदण्डकी कल्पना ही उन्हें नहीं हुई। इसी तरह सीता-परित्याग भी रामको लोगोंके विचार-स्वातन्त्र्यके कारण ही करना पड़ा। वे जानते थे कि, लंकामें सीताकी अग्निपरीक्षा हो चुकी है। किन्तु वहाँ अयोध्याका एक भी व्यक्ति न होनेके कारण उन्हें सन्देह होना सम्भव है। केकयीको कटूक्तियाँ सुनानेवालोंको दशरथ और सीताके प्रति सन्देह करनेवालोंको रामचन्द्र दण्ड दे सकते थे, परन्तु लोगोंके विचारस्वातन्त्र्यको उन्होंने पैरोंतले नहीं रौंदा और स्वयं कष्ट सहे। विचारस्वातन्त्र्यकी डींग मारनेवाले पश्चिमी

देशोंके इतिहास-मर्मज्ञोंने भी इन उदाहरणोंको लेकर इस बातको स्वीकार किया है कि, भारतवासियोंका विचार-स्वातन्त्र्य लोकोत्तर था।

उस समय राजा-प्रजा दोनोंको विचारस्वातन्त्र्य होने-पर भी उसका उपयोग दोनों बहुत सावधानीसे किया करते थे। अष्ट-मन्त्रियोंकी सहायतासे राजा शासनकार्य किया करता था और प्रजा अपने नेताओंसे परामर्श कर कर्तव्या-कर्तव्यका निश्चय करती थी। प्रजा राजाकी उलझनें तथा कठिनाइयाँ समझती थी और राजा प्रजाकी आवश्यकताओं तथा असुविधाओंको जानता था। इससे विरोधको अवकाश कम मिलता था। विचारस्वातन्त्र्य और राजा-प्रजाकी धर्ममर्यादाका ही यह प्रभाव था।

प्रजाका सन्तुष्ट और वैभवसम्पन्न होना हर एक राजशासनके लिये भूषणभूत होता है। परन्तु राम-राज्यकी नारदने यह विशेषता बतायी है कि, रामकी प्रजा प्रसन्न, सन्तुष्ट, पुष्ट और धर्मनिष्ठ भी थी। विधर्मी राजा नीतिविरुद्ध आचरण करनेवालोंको दण्ड देता और धर्मविरुद्ध आचरण करनेवालोंके प्रति उदासीन रहात है। उस समय धर्म और नीतिका विच्छेद नहीं हुआ था। धर्मके अन्तर्गत ही नीतिका समावेश था। राजा-

प्रजाके भिन्नधर्मी होनेसे धर्मरक्षा और धर्मप्रचार दोनोंको अभीष्ट होनेपर भी कलहको प्रारम्भ हो जाता है। प्राचीन-कालमें धर्मसत्ता प्रधान मानी जाती थी और राजसत्ता उसीके अन्तर्गत थी। राजाके प्रजापालनसम्बन्धी और प्रजाके राजभक्त बने रहनेके सम्बन्धके सब नियम धर्मसत्ताने निश्चित किये थे। धर्म किसीसे रक्षा पानेका अपेक्षा नहीं करता। राजा प्रजा दोनोंकी दृढ़ भावना थी कि, धर्म ही सबकी सुरक्षा करता है और धर्म स्वयं रक्षित है।

मनुष्यकी प्रवृत्ति स्वाभाविकरूपसे निम्नगामी अर्थात् पापकी ओर होती है। उससे उसे परावृत्त करनेके लिये राजसत्ता शारीरिक दण्ड देती है। यह कृत्रिम उपाय है। इससे मनुष्यके हृदयमें भय उत्पन्न होकर वह पापकी कृतिसे परावृत्त हो सकता है; परन्तु उसकी मनोवृत्ति ज्योंकी त्यों बनी रहती है। वही मनोवृत्ति प्रबल होकर पुनः पाप कर्म कराती और शरीरदण्डके चिर अभ्याससे उसकी परवाह न करनेको लाचार करती है। धर्मानुशासनकी यह बात नहीं है; वह शासन दृढ़, परन्तु मधुर होता है। राजसत्ता मनुष्यकी पापप्रवृत्तिको दबा सकती है, नष्ट नहीं कर सकती; परन्तु धर्मसत्ता उस वृत्तिका समूल उन्मूलन कर देती है। राजसत्ता कठोर दण्ड देकर भी जो कार्य नहीं कर सकती;

अदृश्य-निराकार-धर्म वह कार्य भावनाके बलपर अनायास कर देता है। धर्मसत्ताका प्रभाव उस समय राजा प्रजा दोनोंपर समानरूपसे होनेके कारण दोनों सदाचारपरायण होते थे और इससे शान्ति-सुखका साम्राज्य सदा बना रहता था।

यह कहा गया है कि, धर्म अपनी आप रक्षा करनेमें समर्थ है, उसे किसीसे रक्षा पानेकी अपेक्षा नहीं होती; परन्तु धर्म आचारप्रधान है। अपने और प्रजाके आचारोंकी रक्षा करना ही धर्मरक्षा है और धर्मरक्षाका यह कार्य उस समय राजाओंका करना पड़ता था। इसका यह अर्थ नहीं कि, राजा बलपूर्वक लोगोंसे आचार-पालन कराता था। राजाका यही कर्तव्य था कि, वह आचार-पालन करानेमें प्रजाको उत्तेजन और सहायता देता तथा यदि उसमें कुछ विघ्न हो, तो उसका प्राणपनसे निवारण करता था। इसीसे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था उस समय सजीव थी। महर्षि विश्वामित्र अपने यज्ञकी आप रक्षा कर सकते थे। वे चाहते, तो मारीच सुबाहु जैसे राक्षसोंको अवलोकनमात्रसे भस्म कर देते, परन्तु ब्राह्मणोंका धन तप होता है, वे तपोधन कहाते हैं, राक्षसहत्यासे तप क्षीण होगा, इसी विचारसे विश्वामित्रनें दशरथसे यज्ञरक्षणार्थ रामचन्द्रकी याचना की।

ताटिकाका बध करते समय स्त्रीपर शस्त्र कैसे चलाया

जाय, ऐसी शङ्का रामचन्द्रके मनमें उदित हुई। तब विश्वामित्रने उपदेश दिया कि, प्रजा और चातुर्वर्ण्यके हितके लिये अच्छा-बुरा, क्रूर-सदोष कैसा ही कर्म क्यों न हो, उसे करना राजाका कर्तव्य है। इसपर रामचन्द्रने यही कहा कि, गौ ब्राह्मणोंके हित और देशके कल्याणके लिये अतर्क्य प्रभावसे युक्त आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं सन्नद्ध हूँ।* इसके पश्चात् उन्होंने त्राटिकाका वध कर डाला। राजसत्ता उस समय धर्मरक्षा करना अपना धर्म समझती थी। विश्वामित्रनें ब्राह्मणों और चातुर्वर्ण्यका अभेद बताया है। उनका कहना है कि, ब्राह्मणोंकी रक्षासे चातुर्वर्ण्यकी रक्षा होती है और चातुर्वर्ण्यकी रक्षासे ही धर्म सुरक्षित रहता है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यजीने भी यही कहा है। ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेसे ही वैदिकधर्म सुरक्षित रहता है। † जबसे चातुर्वर्ण्यमें शिथिलता आती गयी, तभीसे हमारा अधःपतन आरम्भ हुआ है।

---

*गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः॥
—रामायण, बा० कां०।

†ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिको धर्मः।
—शारीरिक भाष्य।

न्यायके मूलमें सत्य है। न्याय धर्ममूलक होना उचित है। न्याय, सत्य तथा धर्मके सब आचार स्वार्थकी कालिमा लग जानेसे कलङ्कित हो जाते हैं। इस समय पृथ्वीमें जहाँ जहाँ न्यायके साथ स्वार्थका सम्बन्ध हो गया है, वहाँ शुभ्र न्यायमें कलङ्ककी कालिमा लग गयी है। प्राचीनकालमें तीन प्रकारके अनुशासनोंद्वारा मनुष्य-समाजको पवित्र और सुरक्षित रक्खा जाता था। आत्म-ज्ञानी महर्षिगण वनवासी होकर योगानुशासनके पथपर चलकर अन्य किसी शासनकी अपेक्षा नहीं करते थे और अपने बनाये हुए शास्त्रोंके द्वारा चातुर्वण्यको शब्दानुशा-सनकी सहायता देकर न्याय और सत्यके मार्गमें चलाते थे। वे वर्णाश्रमशृंखलाके द्वारा स्वाधीन चिन्ता रखनेवाली स्वतन्त्र प्रजाको धर्मभ्रष्ट होने नहीं देते थे। साथ ही साथ योगानुशासनके द्वारा प्राप्त धर्मशास्त्र (कानून) के द्वारा राजा-ओंको उच्छृङ्खल होनेसे बचाकर राजदण्ड और समाजदण्ड-की सहायतासे प्रजाको भी उच्छृङ्खल होने नहीं देते थे। इस समय जिस प्रकार सब प्रकारका अनुशासन एक मात्र कानू-नके भयसे चलाया जाता है, ऐसी प्रथा उस समय नहीं थी। उन्नत सात्विक प्रजा तो योगानुशासनसे सदा पवित्र ही बनी रहती थी। सन्दिग्ध राजसिक प्रजा वर्णाश्रमकी

प्रथासे सुरक्षित रहती थी और निम्न श्रेणीकी प्रजा राजदण्ड और समाजदण्ड दोनोंकी अपेक्षा रखकर न्याय और सत्यका अनुसरण करती थी।

अब श्रीरामचन्द्रके आदर्श मानवजीवनके उपयोगी कुछ गुणोंपर दृष्टि डालना उपयुक्त होगा। वर्णाश्रमधर्मकी अपूर्व मर्यादा श्रीरामचन्द्रने अपने जीवनमें जिस प्रकार दिखायी थी, वैसी कहीं देखनेमें नहीं आती। जनकपुरीमें सीताका पाणिग्रहण करके जब श्रीरामचन्द्र अयोध्या लौट रहे थे, उस समय मार्गमें परशुराम वैष्णवधनु लेकर आये और उन्होंने रामचन्द्रको उस धनुमें बाणयोजना करनेको कहा। परशुरामकी स्पर्द्धाके दमनके लिये श्रीरामचन्द्रने धनुषमें बाणयोजना तो की, परन्तु परशुरामके ब्राह्मण-वंशोत्पन्न होनेके कारण उस बाणका परशुरामपर प्रयोग नहीं किया और कहा कि, आप ब्राह्मण हैं और महर्षि विश्वामित्रके साथ भी आपका सम्बन्ध है, इसलिये आपपर प्राणहरणकारी इस शरका त्याग मैं नहीं कर सकता।* परशुरामके द्वारा पीड़ित होनेपर भी क्षत्रियको ब्राह्मणपर अस्त्रप्रयोग

* ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥
—रामायण, बा० कां०।

नहीं करना चाहिये, इस विचारसे परशुरामपर अस्त्र-प्रयोग करनेमें कुण्ठित होना श्रीरामचन्द्रके जीवनमें वर्णाश्रम-मर्य्यादा-पालनका ही अपूर्व आदर्श स्थापित करता है। श्रीरामचन्द्रके वर्णाश्रम-मर्य्यादा-पालनके कारण ही उनके राज्यमें अकालमृत्यु नहीं होती थी, इसका एक अपूर्व दृष्टान्त उनके राज्यकालमें शंबूकका संघटित हुआ था।

जितेन्द्रियता और एकपत्नीव्रतकी पराकाष्ठा श्रीरामचन्द्रजीने अपने जीवनमें बतायी थी, जो प्रत्येक गृहस्थके लिये चिरदिन आदर्शस्वरूप विद्यमान रहेगी। लोकापवादके भयसे सीताको वनवास देकर श्रीरामचन्द्र वंशरक्षा, यज्ञादि साधन तथा अन्य कामोंके लिये दूसरा विवाह अनायास ही कर सकते थे और उसमें बाधा भी कुछ नहीं थी। परन्तु निरपराधिनी स्त्रीको लोकमर्य्यादाके लिये वनवासका कष्ट देना पड़ा, इसलिये वे स्वयं राज्यमें ही रहकर वनवाससे भी अधिक मनःक्लेश सहन करते रहे और उन्होंने दूसरा विवाह करना योग्य नहीं समझा। दूसरा विवाह करनेसे सीताके प्रति उनका अमानुष निर्दय व्यवहार होता, जो राम जैसे आदर्श पुरुषके लिये कदापि उचित नहीं था। यही उनके जीवनमें जितेन्द्रियता और एकपत्नीव्रतकी पराकाष्ठा है।

अन्तमें जब अश्वमेधादि अनेक यज्ञकार्य करनेके लिये सहधर्मिणीकी शास्त्रानुसार आवश्यकता हुई, उस समय भी दूसरा विवाह न करके सोनेकी सीतामूर्ति बनवाकर अनुकल्पद्वारा उन्होंने यज्ञकार्य सुसम्पन्न किया। प्रत्येक गृहस्थ पुरुष इस अलौकिक धीरता, जितेन्द्रियता और कर्त्तव्यनिष्ठाका आदर्श ग्रहण करेंगे, तो उनका जीवन धन्य होगा, आध्यात्मिक उन्नतिकी पूर्णता प्राप्त होगी और गृहस्थाश्रम अनन्त आनन्दका नन्दनकानन बन जायगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

सत्यव्रतपरायणता और कर्त्तव्यपरायणताके अपूर्व दृष्टान्त श्रीरामचरित्रमें मिलते हैं। यह सत्यव्रतपरायणताका ही गम्भीर दृष्टान्त है कि, जब निर्दय-हृदया केकयीने राजमुकुटके बदले जटा-वल्कल-धारणपूर्वक चतुर्दश वर्षपर्यन्त वनवासकी आज्ञा श्रीरामचन्द्रको दे दी, तब इतनी कठिन आज्ञा सुननेपर भी श्रीरामचन्द्रके मुखपर दुःखकी रेखातक नहीं देखनेमें आयी और उन्होंने कैकेयीसे कहाः—माता, जैसा आपने कहा, वैसा ही होगा। मैं पिताके प्रतिज्ञानुसार जटा-वल्कल धारण करके वनवासको जाऊँगा। हितकारी गुरु और आपके प्रति कृतज्ञ नरपति पिताके द्वारा आज्ञा प्राप्त होकर निःसङ्कोच-चित्तसे उनकी

प्रीतिके लिये मैं क्या नहीं कर सकता ? मैं आपकी प्रेरणामात्रसे ही राज्य, प्राण, इष्ट और धन सब कुछ सानन्दचित्तसे स्वयं भरतको देसकता हूँ। फिर जब पिताकी प्रतिज्ञा पालन करनी है और आपका भी इसमें प्रीतिसाधन है, तो मेरे लिये अदेय क्या हो सकता है ? यदि प्राण परित्याग करके भी पूज्य पिताका कुछ प्रिय हो सके, वह भी मैं करनेको तैयार हूँ। पिताकी सेवा और उनकी आज्ञापालनसे महत्तर धर्म्मकार्य संसारमें और कुछ नहीं है। इसलिये यद्यपि पूज्य पिता संकोचके कारण आज्ञा नहीं देते हैं, तथापि आपके ही कहनेसे मैं १४ वर्षतक वनमें वास करूँगा।*

---

*एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन्॥
हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम्॥
अहं हि सीतां राज्यञ्च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्याम् भरताय प्रचोदितः॥
किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन्॥
यत् तत्र भवतः किञ्चित् शक्यं कर्तुं प्रियं मया।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत्॥

जिस समय धर्मवीर रामचन्द्र वनगमनके पूर्व पिता दशरथसे अन्तिम मिलने आये थे और स्नेहमुग्ध पिता अजस्र अश्रुवर्षण करते हुए पुनः पुनः मूर्छाप्राप्त होने लगे थे, उस समय भी श्रीरामचन्द्रने पूज्य पिताको भी ऐसा ही वाक्यं कहा था कि, मुझे राज्य, सुख, पृथिवी, भोग्य पदार्थ, स्वर्ग अथवा जीवनकी भी इच्छा नहीं है। मैं केवल आपको सत्ययुक्त देखना चाहता हूँ। आपका वचन मिथ्या न हो, यही मेरी इच्छा है। आपके सम्मुख सत्य और सुकृतको लेकर मैं शपथ भी करता हूँ।* जिस समय रामवत्सल भरत वनमें रामकी खोजमें गये थे और हाथ जोड़कर वार वार श्रीरामचन्द्रको अयोध्यामें लौट आनेके लिये प्रार्थना करते थे,

---

नह्यतो धर्म्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥
अनुक्तोऽप्यत्र भवतो भवत्या वचनादहम्।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश॥
—रामायण, अ० कां०।

* नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम्।
नैव सर्वानिमान् कामान् न स्वर्गं न च जीवितम्॥
त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे॥
—रामायण, अ० कां०।

उस समय श्रीरामचन्द्रने इसी सत्यव्रतके कारण ही जाबालि, वशिष्ठ आदि महर्षियोंके अनेक समझानेपर भी अयोध्या लौटना स्वीकार नहीं किया था और कनिष्ठ भ्राता भरतसे कहा था कि, चन्द्रमा शोभाको परित्याग करे, हिमाचल हिमको परित्याग करे, समुद्र अपनी मर्य्यादाको छोड़ दे, तो भी मैं पिताकी प्रतिज्ञाको तोड़ नहीं सकता । हे भरत ! तुम्हें भी इस प्रकारसे शीघ्र अयोध्याका राज्य ग्रहण करके पिताको सत्यप्रतिज्ञ बनाना चाहिये । मेरी प्रीतिके लिये तुम पिताको केकयीके ऋणसे मुक्त करो, पिताका त्राण करो और अपनी माताको आनन्द प्रदान करो ।* यही श्रीरामचन्द्रके जीवनमें सत्यव्रतपरायणता तथा कर्त्तव्यपरायणताका अपूर्व दृष्टान्त है । सत्यव्रत और कर्त्तव्यपरायणताका अलौकिक दृष्टान्त श्रीरामचन्द्रजीने प्रिय लक्ष्मणको त्याग करते समय दिखाया था । जो अनुज लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रका

*लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥
भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम् ।
कर्तुं मर्हसि राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषिञ्चनात् ॥
ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् ।
पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनन्दय ॥

—रामायण, अ० कां० ।

प्राणसे भी प्रिय था, जिसके चरणमें कुश गड़ जानेसे ही श्रीरामचन्द्रके हृदयमें शूल विंधनेकी तरह यन्त्रणा होती थी, दैवचक्रसे उसी प्राणप्रिय लक्ष्मणका श्रीरामचन्द्रको परित्याग करना पड़ा था।

मनुष्यजीवनको मधुमय बनानेके लिये जितने सद्गुणोंकी परमावश्यकता होती है, श्रीरामचन्द्रके जीवनमें वे सभी पूर्णरूपसे विद्यमान थे। उनके आस्तिकता, तितिक्षा (सहनशीलता), द्वन्द्वसहिष्णुता (सुख-दुःखमें एकभाव), वैराग्यभाव, पितृभक्ति, मातृभक्ति, भ्रातृप्रेम, भक्तवत्सलता, शरणागतपरायणता, ज्ञानस्पृहा, सच्चरित्रता, भद्रता आदि सभी गुण संसारमें अनूठे और आदर्शजीवनके बनानेके लिये सर्वोत्तम हैं। जिस समय लक्ष्मणने श्रीरामचन्द्रके वनवासके विषयमें प्रतिवाद करके पिता दशरथको दोष दिया, उस समय जिस भावके साथ श्रीरामचन्द्रने दैवको ही सबका कारण बताया था, उससे उनके हृदयकी परम आस्तिकताका परिचय मिलता है। वे कहते हैं:—सुख, दुःख, भय, क्रोध, लाभ, अलाभ, बन्ध, मोक्ष—इनके सम्बन्धसे प्रत्यक्ष कारणके बिना भी जो कुछ घटना हो जाय, उसमें दैवको ही कारण जानना चाहिये। तीव्र तपस्वी महर्षिगण भी तीव्र नियम त्याग करके केवल दैवके प्रकोपसे

ही कामक्रोधादिके वशीभूत हो जाते हैं। किसी आरंभ किये हुए कर्मको बलके साथ निवृत्त करके किसी संकल्प अथवा प्रत्यक्ष कारणके बिना ही अचानक जो कुछ घटना हो पड़ती है, उसमें दैवको ही मूल जानना चाहिये। इस प्रकारके विचारके द्वारा अन्तःकरणको मैंने समझाया है, इसीलिये राज्याभिषेकमें बाधा होनेपर भी मुझे इसका कोई दुःख नहीं है।* यही रामचरित्रमें परम आस्तिकताका लक्षण है। उनके जीवनमें तितिक्षा और द्वन्द्वसहिष्णुताका भी असाधारण प्रमाण मिलता है। यह उनकी परम तितिक्षाका ही फल था कि, निरपराधिनी सती सीता और परम प्रिय लक्ष्मणको त्याग करके वे जीवन धारण कर सके थे। जिस समय केकयीने वनवासका कठिन वचन सुनाया, उस समय

---

*सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥
ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः॥
असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्त्तते।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥
एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते॥
—रामायण, अ० कां०।

श्रीरामचन्द्रकी चित्तवृत्तिके विषयमें रामायणमें लिखा है कि, केकयीका कटु वचन सुननेपर भी रामचन्द्रके चित्तमें कोई भी शोक नहीं हुआ । केवल राजा दशरथ पुत्र-वियोग-दुःखसे अत्यन्त शोकार्त्त हो गये । रामाभिषेकके संवादसे पुरवासियोंने श्रीरामचन्द्रके मुखपर दुःखजनित कोई भी विकार नहीं देखा । आत्मवान् श्रीरामचन्द्रने इतनी कठोर आज्ञा सुननेपर भी शरत्-कालकी निर्मल चन्द्रकिरणों-की तरह अपने सहज सत्त्वगुणमय हर्षको परित्याग नहीं किया ।* यही उनके चरित्रमें द्वन्द्व-सहिष्णुताका लक्षण है । इसी प्रकार जिस समय तापसवेषी कालने आकर श्रीराम-चन्द्रको उनके अस्तकालकी बातें सुनायीं, उस समय भी श्रीरामचन्द्रके हृदयमें कोई शोक नहीं हुआ; उलटे परम हर्षके साथ उन्होंने कालके संवादको स्वीकार किया ।

कालके द्वारा कहे हुए ब्रह्माजीके वाक्यको सुनकर श्री-

---

*इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां न चैव रामः प्रविवेश शोकम् ।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥
सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमान् श्रीमतः सत्यवादिनः ।
नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने ॥
उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान् ।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥
—रामायण, अ० कां० ।

रामचन्द्रजीने हँसकर कालसे कहाः—पितामहके अद्भुत वचनको सुनकर मुझे परम संतोष प्राप्त हुआ और आपके आनेसे भी परम आनन्द प्राप्त हुआ। यह श्रीरामचन्द्रके जीवनमें सात्विक धैर्यकी* पराकाष्ठा और धीरता और तितिक्षाका अपूर्व दृष्टान्त है †। ज्ञान और वैराग्यका भाव श्रीरामचन्द्रके जीवनमें कितना था, इसका दृष्टान्त पितृशोकसे कातर भरतको उपदेश देते समय तथा योगवाशिष्ठमें अनेक स्थानोंमें मिलता है।

आत्मवान् श्रीरामचन्द्रजीने भरतको दुःखार्त्त और विलाप करते हुए देखकर निम्नलिखित शब्दोंसे आश्वासन प्रदान किया था। जीव परतन्त्र होनेसे अपनी इच्छासे कुछ नहीं कर सकता। काल ही कर्मानुसार इहलोक या परलोकमें जीवको आकृष्ट करता है। समस्त वस्तुएँ परिणाममें

---

*धृत्या यथा धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी॥
—गीतोपनिषद्।

† श्रुत्वा पितामहेनोक्तं वाक्यं कालसमीरितम्।
राघवः प्रहसन् वाक्यं सर्वसंहारमब्रवीत्॥
श्रुत्वा मे देवदेवस्य वाक्यं परममद्भुतम्।
प्रीतिर्हि महती जाता तवागमनसम्भवा॥
—रामायण उ० कां०।

क्षयको प्राप्त होती हैं, समस्त उन्नति परिणाममें पतनको लाती है, समस्त संयोग वियोगमें परिणत होते हैं और समस्तजन्म मृत्युशील हैं। जिस प्रकार समुद्रमें दो काष्ठ कभी साथ मिलकर पुनः पृथक् पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, ज्ञाति, धन आदि सभी कुछ होकर पुनः कर्मानुसार पृथक् हो जाते हैं; सभीका नाश अवश्यम्भावी है। परमधार्मिक हमारे पिता दक्षिणाके साथ यज्ञ करके स्वर्गको प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये उनके अर्थ तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। इस जराजीर्ण मनुष्य-देहको परित्याग करके ब्रह्मलोककी दैवी सम्पत्तिको हमारे पिताजी प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये उनके विषयमें शोक मत करो।* "यही श्रीराम-

---

*तमेव दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम्।
रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान्॥
नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तञ्च जीवितम्॥
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य च व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विना भवः॥

चन्द्रके जीवनमें ज्ञान, विचार तथा वैराग्यभावका लक्षण है। श्रीरामचन्द्रमें पिता-माताके प्रति भक्तिकी पराकाष्ठा थी। इसका परिचय श्रीरामायणमें अनेक बार मिलता है। जिस समय कूट-बुद्धिवाली केकयीने श्रीरामचन्द्रकी पितृभक्तिके विषयमें सन्देह करके वात की थी, उस समय श्रीरामचन्द्रजीने कैकेयीसे कहा थाः—हे देवि! मुझे इस प्रकार कठोर वचन न कहें। मैं पिताके वाक्यसे अग्निमें प्रवेश कर सकता हूँ, तीव्र विषपान कर सकता हूँ, समुद्रमें डूब सकता हूँ, इसलिये पिताजीकी क्या इच्छा है, शीघ्र कहिये; मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि, उनका आज्ञापालन अवश्य ही करूँगा, राम कभी दो प्रकारका भाषण नहीं करेगा।* इस प्रकारके कथनसे श्रीरामचन्द्रमें पितृभक्तिकी गम्भीरताका विशेष परिचय प्राप्त होता

धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
न स शोच्यः पिता तात! स्वर्गतः सत्कृतः सताम्॥
स जीर्णमानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम्॥
—रामायण, अ० कां०।

* अहो धिङ् नार्हसे देवी! वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च॥

है। मातृभक्तिकी भी गम्भीरता वनमें जाते समय पिताके प्रति रामचन्द्रके अनुरोधसे प्रमाणित होती है।

श्रीरामचन्द्रजीने पिता दशरथसे कहा—यद्यपि प्रधाना महारानी होनेके कारण आप माता कौशल्याका सम्मान करते ही हैं, तथापि वे मेरे विरहमें भीषण शोकसमुद्रमें डूब जायँगी; इसलिये इनके प्रति और भी अधिक सम्मान प्रदर्शन करें, यही मेरी प्रार्थना है। मेरे दर्शनके लिये अत्यन्त अभिलाषिणी माता कौशल्या मेरे विरहसे प्राणत्याग न करें, ऐसा आप ध्यान रखें, यही प्रार्थना है।* यह श्रीरामचन्द्रके जीवनमें पितृमातृभक्तिका दृष्टान्त है। उनके जीवनमें भ्रातृप्रेमका मधुर दृष्टान्त लक्ष्मण और भरतके प्रति स्नेहभावसे स्पष्ट होता है। जिस समय लङ्कापुरीमें दो बार इन्द्रजित् और रावणके बाणसे लक्ष्मण मूर्छित हो गये

तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥
—रामायण, अ० कां०।

* मायाविहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम्।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः संमन्तुमर्हसि॥
इमां महेन्द्रोपमजातगर्धिनीं तथा विधातुं जननीं ममार्हसि।
यथा वनस्थे मयि शोककर्षिता न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत्॥
—रामायण, अ० कां०।

थे, उस समय जिस करुणारसके साथ श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके लिये विलाप किया था, उसके अक्षर-अक्षरमें अनूठा भ्रातृस्नेह भरा हुआ है।

श्रीलक्ष्मणको रक्ताक्तदेह, कठिन पाशसे बद्ध और दीनमुख देखकर श्रीरामचन्द्रजीने दुःखार्त्त हो, बहुत ही विलाप किया। मुझे सीताके प्राप्त करनेसे या जीवित रहनेसे ही क्या फल है, जो मैं आज प्रिय भ्राताको रणमें मूर्च्छित देख रहा हूँ। संसारमें अन्वेषण करनेपर सीता जैसी स्त्री मिल सकती है, परन्तु लक्ष्मण जैसा भाई, जो मन्त्री और युद्ध में सहायक भी था, नहीं मिल सकता। यदि लक्ष्मणका प्राण न रहा, तो मैं भी वानर-सैन्योंके सामने ही प्राण छोड़ दूँगा। मुझे युद्धसे कोई काम नहीं है और जीवित रहना भी निष्फल है; जब कि, मेरा लक्ष्मण मूर्छित होकर रणक्षेत्रमें पड़ा हुआ है। जिस प्रकार मेरे वनवासकालमें लक्ष्मण मेरे साथ आया था, उसी प्रकार मैं भी यदि इसकी मृत्यु हुई, तो इसके साथ यमलोकको जाऊँगा। देश देशमें स्त्रियाँ मिलती हैं और बन्धुजन भी मिलते हैं; परन्तु ऐसा देश नहीं देखता हूँ, जहाँ प्राणप्रिय सहोदर भ्राता मिले।*

* ततो दृष्ट्वा सरुधिरं निषण्णं गाढमर्पितम्।
भ्रातरं दीनवदनं पर्यदेवयदातुरः॥

यह बात अवश्य विचार करने योग्य है कि, सीता सतीके प्रति अत्यन्त प्रेम और अनुराग होनेपर भी सीताको न परित्याग करके उसके पातालप्रवेश करने पर भी सीताको देखकर श्रीरामचन्द्रने जीवन धारण किया था ; परन्तु दैव-कोपसे लक्ष्मणको जब परित्याग करना पड़ा, तो श्रीराम-चन्द्रजी लक्ष्मणके विरहमें प्राण धारण नहीं कर सके और लक्ष्मणत्यागके बाद ही महाप्रस्थानको चले गये। यही श्रीलक्ष्मणके प्रति श्रीरामचन्द्रजीकी सर्वोत्तम स्नेहपरा-यणताका अपूर्व दृष्टान्त है। श्रीभरतके साथ उनका कितना

किं नु मे सीतया कार्यं लब्धया जीवितेन वा।
शयानं येऽद्य पश्यामि भ्रातरं युधि निर्जितम्॥
शक्या सीतासमा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिकः॥
परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः॥
किं मे युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्यं न विद्यते।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्द्धनि लक्ष्मणः॥
यथैनं मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥
देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

—रामायण, यु० का०।

प्रेम था, सो सीताका उद्धार करके जब वे भरतसे मिले थे, उस समय प्रकट हुआ था। सीताका उद्धार और सीताकी अग्नि-परीक्षाके बाद जब विभीषणने श्रीरामचन्द्रको स्नानादि करनेके लिये कहा, तो भ्रातृवत्सल श्रीरामचन्द्रजीने उत्तर दिया :—मेरे लिये मेरा परमधार्मिक परम प्रिय सुकुमार भ्राता भरत दुःख पा रहा है, इसलिये उसके बिना मैं स्नान भी नहीं करूँगा और वस्त्रालङ्कार धारण भी नहीं करूँगा। इसलिये आप ऐसा उपाय करें, जिससे अतिशीघ्र मैं अयोध्या पहुँचकर प्रिय भ्राता भरतसे मिल सकूँ।* जिस समय शीघ्र जानेवाले पुष्पक विमानपर चढ़कर श्रीरामचन्द्रजी भरतसे मिले उस समय कैसी भ्रातृप्रेमकी गङ्गा बहने लगी, उसका भी वर्णन रामायणमें मिलता है।

श्रीभरतने पुष्पकविमानके पास आकर और उसमें चढ़कर श्रीरामचन्द्रजीको अभिवादन किया। बहुत दिनोंके

---

* स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः।
सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः॥
तं विना केकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्।
न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च॥
एतत्पश्य यथा क्षिप्रं प्रतिगच्छाम तां पुरीम्।
अयोध्यां गच्छतो ह्येष पन्थाः परमदुर्गमः॥
—रामायण, यु० कां०।

बाद प्रिय अनुजको देखकर श्रीरामचन्द्रजीने भरतको गोदमें उठा लिया और अत्यन्त प्रेमके साथ आलिङ्गन किया। तदनन्तर श्रीभरतने ज्येष्ठ भ्राता रामचन्द्रके चरणकमलोंमें साथमें लायी हुई उनकी पादुकाएँ उन्हें धारण करा दीं और रामचन्द्रजी प्रेमके साथ भरतको अङ्कमें धारण करके उसके आश्रमपर चले।* इस प्रकारसे श्रीरामचन्द्रके जीवनमें भ्रातृप्रेमकी पराकाष्ठा पायी जाती है।

भ्रातृवत्सलताकी तरह भक्तवत्सलता भी श्रीभगवान् रामचन्द्रके जीवनमें पूर्णरूपसे थी। भक्तजनोंके कल्याणके लिये श्रीरामचन्द्र सदा ही तत्पर रहते थे। गुहक मल्लाह होनेपर भी, भक्तवत्सलताके कारण श्रीरामचन्द्रजीने उसके गृहपर आतिथ्य ग्रहण किया था। भक्त गुहकके वाक्यको

---

* आरोपितो विमानं तद् भरतः सत्यविक्रमः।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥
तं समुत्थाय काकुत्स्थश्चिरस्याक्षिपथं गतम्।
अङ्के भरतमारोप्य मुदितः परिषस्वजे॥
पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्॥
ततः प्रहर्षाद् भरतमङ्कमारोप्य राघवः।
ययौ तेन विमानेन ससैन्यो भरताश्रमम्॥
—रामायण, उ० कां०।

सुनकर श्री रामचन्द्रजीने दोनों हाथोंसे उसको आलिङ्गन करके मधुर शब्दोंसे कहाः—दानग्रहण हम नहीं करते हैं, तथापि तुमने भक्तिसे जो कुछ दियाहै, वह मैं अवश्य स्वीकार करूँगा।* इसी प्रकार भक्त जटायुके प्रति भी अपूर्व प्रेम श्रीरामचन्द्रजीने बताया था। छिन्नपक्ष, रक्ताक्तदेह जटायुको गोदमें लेकर 'हा ! सीता कहाँ गई ?'—ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्र भूमिपर गिर गये।† तदनन्तर सीताहरणकी वार्ताको

---

* गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह।
भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत् ॥
यत्त्विदं भवता किञ्चित्प्रीत्या समुपकल्पितम्।
सर्वं तदनुजानामि न हि वर्त्ते प्रतिग्रहे ॥
—रामायण, अ० कां०।

† निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं तं गृध्रराजं परिगृह्य राघवः।
क्व मैथिली प्राणसमा गतेति विमुच्य वाचं निपपात भूमौ ॥
—रामायण, अर० कां०।

पश्य लक्ष्मण ! गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे।
मम हेतोरयं प्राणान्मुमोच पतगेश्वरः ॥
सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य ! तथागतम्।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप ॥
सौमित्रे ! हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम्।
गृध्रराजं दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम् ॥
या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः।

कहते कहते जब जटायुके प्राण छूट गये, उस समय श्रीरामचन्द्रजीने जटायुके लिये बहुत दुःख प्रकाश किया और उसका अन्तिमसंस्कार अपने हाथसे सम्पन्न किया। वे बोले,—लक्ष्मण! देखो, उपकारी गृध्रराजने मेरे लिये प्राण-त्याग दिया है। मुझे इसके लिये सीताहरणसे भी अधिक दुःख हो रहा है। तुम काष्ठ संग्रह कर लाओ, मैं गृध्रराजका दाह-कार्य सम्पन्न करूँगा। यज्ञ करनेवालों, अग्निहोत्रियों, युद्धसे न हटनेवालों और भूमिदानकारियोंको जो गति प्राप्त होती है, मेरी कृपासे मेरे हाथसे अन्तिमसंस्कारको पाकर गृध्रराजको वही अत्युत्तम गति प्राप्त होगी। इस प्रकार कह कर श्रीरामचन्द्रने चिता प्रज्वलित की और किसी आत्मीय जनको दाह करते समय जैसा होता है, वैसे ही दुःखित-चित्तसे जटायुका दाहकार्य किया। तदनन्तर स्नान करके

अपरावर्त्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम्।
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्॥
गृध्रराज! महासत्त्व! संस्कृतश्च मया व्रज।
एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम्॥
ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः।
शास्त्रदृष्टेन विधिना जलं गृध्राय राघवौ॥
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा।

—रामायण, अर० कां०।

शास्त्रविधिके अनुसार दोनों भ्राताओंने गृध्रराजकी श्राद्ध-तर्पण-क्रिया भी की। श्रीरामचन्द्र महाप्रस्थानमें जाते समय भक्त विभीषण, हनुमान् और जाम्बवान्को भक्त-वत्सलताके कारण ही चिरकाल तक संसारमें सुखके साथ रहनेके लिये वरप्रदान कर गये थे।

शरणागतवत्सलताका क्या ही अपूर्व दृष्टान्त श्रीराम-चन्द्रके जीवनमें मिलता है। राक्षसगण उनके परम शत्रु होनेपर भी, जिस समय कोई भी राक्षस शरणागत होता था, उस समय श्रीरामचन्द्र उसको अभयदान करके उसकी रक्षाके लिये सर्वथा तत्पर होते थे। जिस समय रावणका भ्राता विभीषण श्रीरामचन्द्रके पास आया और सुग्रीव, हनुमान्, लक्ष्मण, जाम्बवान् आदि सभीने एकवाक्य होकर शत्रुके भ्राताको शरण न देकर मार डालनेको कहा, उस समय किसीका वाक्य न सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणको अभयदान दिया और कहा कि, हाथ जोड़े हुए, दीन, प्रार्थनाकारी, शरणागत शत्रुको भी नहीं वध करना चाहिये। क्लेशदायक हो या न हो, शरणागत शत्रुकी प्राण-परित्याग करके भी रक्षा करनी चाहिये। यदि भय, मोह अथवा किसी स्वार्थके कारण शरणागत शत्रुकी रक्षा नहीं की जाय, तो उससे लोकनिन्दित महापाप होता है। शरणापन्न शत्रुकी रक्षा न करनेसे स्वर्ग-

यश-बल-वीर्य-नाशकारी महान् दोष प्राप्त होता है। एक बार भी जो शरणागत होता है और मैं तुम्हारा हूँ, ऐसा कहता है। उसको मैं अभय देता हूँ, यही मेरा व्रत है। इसलिये सुग्रीव! विभीषणको मेरे पास लाओ, मैंने उसको अभय दिया है। शरणागत होनेपर मैं रावणको भी अभय देनेको तैयार हूँ।*

श्रीभगवान्ने रामावतारमें संसारकी शिक्षाके लिये मनुष्योंमें दुर्लभ पूर्ण आदर्श प्रकट किया था, जो प्रत्येक गृहस्थ, प्रत्येक मनुष्य तथा प्रत्येक नरपतिके लिये सदा

---

* बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम् ।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप ! ॥
आर्त्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः ।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना ॥
स चेद् भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वापि न रक्षति ।
स्वया शक्त्या यथान्यायं तत्पापं लोकगर्हितम् ॥
एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे ।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम् ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ ! दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥

—रामायण, यु० कां० ।

ही अनुकरण करने योग्य है। श्रीरामचरित्र और रामराज्य संसारमें एक अपूर्व वस्तु है। जबतक चन्द्र-सूर्य संसारको आलोकित करेंगे, तबतक इस अपूर्व चरित्रका अलौकिक गौरव भारतमाताकी मुखच्छविको सुशोभित करता रहेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। श्रीरामचन्द्रजीने एकादश सहस्र वर्षपर्यन्त पृथिवीपालन करके अवतारकार्य समाप्त हो जानेपर भरत, शत्रुघ्न समस्त वानर तथा प्रजाओंके साथ महाप्रस्थान किया था।

पातिव्रत्य ही स्त्रीजातिकी मुक्तिका एकमात्र उपाय होनेसे स्त्रीचरित्रकी पूर्णता पातिव्रत्यकी पूर्णताद्वारा होती है। माता सीताके समस्त जीवनमें पातिव्रत्यधर्मकी पराकाष्ठा हो गयी थी, जिसकी तुलना संसारमें किसीसे हो ही नहीं सकती। वनवासमें जानेके पहिले जिस समय श्रीरामचन्द्रने उनसे अयोध्यामें रहनेको कहा, उस समय जिन शब्दोंसे सीता माताने अयोध्यामें न रहकर साथ चलनेके लिये प्रर्थना की थी, उनसे उनमें पातिव्रत्यधर्मका पूर्ण भाव झलकता है।

"पिता, सन्तान, आत्मा, माता या सखीजन—कोई भी इस लोक अथवा परलोकमें स्त्रियोंके लिये शरण नहीं है, एक पति ही स्त्रियोंकी इस लोक और परलोकमें गति

है। हे प्रभो! यदि आप आज ही दुर्गम वनमें जानेको तैयार हैं, तो मैं भी आपके आगे आगे कुशों और काँटोंको चुनती हुई चलूँगी। प्रासाद, विमान या आकाश, सब स्थानों और दशाओंमें पतिके चरणोंकी छाया बनकर स्त्रियोंका रहना श्रेष्ठ है। मैं नाना मृगगणसे घिरे हुए और भयङ्कर व्याघ्र आदिसे भरे हुए निर्जन गम्भीर वनमें चलूँगी। जिस प्रकार मैं पिताके घरमें आनन्दसे रहती थी, उसी प्रकार तीनों लोकोंको भूलकर केवल पातिव्रत्य धर्मको स्मरण करती हुई सुखसे वनमें रहूँगी। नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी रहकर आपकी सेवा करती हुई हे वीर! सुन्दर गन्धसे युक्त वनमें आपके साथ रमण करूँगी। निःसन्देह नित्य फल-मूल खाकर रहूँगी। आपके साथ रहती हुई आपको कष्ट न दूँगी। इस प्रकार आपके साथ हजारों वर्षोंतक रहकर दुःख न समझूँगी और स्वर्गसुखसे इसमें पार्थक्य न मानूँगी। हे पुरुषोत्तम रघुनाथ! आपके बिना स्वर्गमें भी रहना मुझे अच्छा नहीं लगता।"*

---

* न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥
यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव!।
अग्रतस्ते गमिष्यामि चिन्वन्ती कुशकण्टकान्॥

पातिव्रत्यकी अत्यन्त कठिन रोमाञ्च कर देनेवाली सीता-परीक्षा लङ्कापुरीमें हुई थी। जिस प्रकार सोनेके शुद्ध हो जानेपर भी साधारण लोगोंके विश्वासके लिये स्वर्णकार उसे अग्निमें जलाकर उसकी शुद्धताकी परीक्षा कर लेता है, ठीक इसी प्रकार सीता-सतीको पूर्ण निर्दोष जाननेपर भी मर्यादाके रक्षक श्रीरामचन्द्रजीने संसारियोंके विश्वासके लिये लङ्कापुरीमें अग्नि-परीक्षाके द्वारा उनकी शुद्धताकी परम परीक्षा

प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा।
सर्वावस्थागता भर्त्तुः पादच्छाया विशिष्यते॥
अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्ज्जितम्।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम्॥
सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम्॥
शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर! वनेषु मधुगन्धिषु॥
फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सह॥
एवं वर्षसहस्राणि शतं वापि त्वया सह।
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः॥
स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव!
त्वया विना नरव्याघ्र! नाहं तदपि रोचये॥

—रामायण, अ० कां०।

कर ली थी, जो समस्त संसारके इतिहासमें एक अद्भुत घटना है। जब नीचे मुख की हुई जानकी रामकी प्रदक्षिणा करके प्रज्वलित अग्निदेवके समीप पहुँचीं, तब देवता तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके अग्निके समीप हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगीं कि, "यदि मेरा चित्त कभी रामसे विलग न हुआ हो, तो लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब प्रकार रक्षा करें। यदि सर्वथा मेरा चरित्र शुद्ध हो, तो सब लोगोंके साक्षिभूत अग्निदेव मेरी सब तरह रक्षा करें।" सीता देवी इस प्रकार प्रार्थना कर और अग्निदेवकी प्रदक्षिणा कर निर्भय चित्तसे ज्वलन्त अग्निमें प्रवेश कर गयीं।

सीता माताके पृथिवीमें प्रवेश करनेके समय जो अलौकिक घटना हुई, उससे उनकी अपूर्व सच्चरित्रता और पातिव्रत्य-परायणताका समुज्ज्वल दृष्टान्त मिल गया। रामसे परित्यक्त होकर सीताने बहुत कालतक महर्षि वाल्मीकिके आश्रमपर, उनकी संरक्षकतामें, निवास किया था। वहाँ सीताके गर्भसे लव और कुश नामके दो धीर वीर यमज सुपुत्र उत्पन्न हुए। उनके मधुर गानको सुनकर ऋषि, देवता, गन्धर्व और मनुष्य आदि सब मुग्ध हो जाते थे। श्रीरामचन्द्रने बहुत दिनोंतक उनका सुमनोहर मधुर गान सुना और यह भी जाना कि, ये दोनों बालक

सीताके गर्भसे उत्पन्न हैं। अनन्तर रामजीने अपने दूतको महर्षि वाल्मीकिके समीप भेजकर निवेदन किया कि, यदि सीता अपनेको निष्पाप और निष्कलंक समझती है, तो वह मुझको कलंकसे बचाने के लिये ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जनसमुदायसे भरी हुई सभा-में अपनी शुद्धताका पुनः पूर्ण परिचय दे। श्रीरामचन्द्रकी आज्ञासे एक महती सभा की गयी, जिसमें वशिष्ठ, वामदेव, जावालि, कश्यप, विश्वामित्र, महातपस्वी दुर्वासा आदि महर्षिगण, नारद, पर्वत, गौतम आदि मुनिगण और देव, गन्धर्व, मनुष्य आदि सब ही एकत्रित हुए थे। उनके सामने माहामान्य महर्षि वाल्मीकिके साथ नीचे मुख की हुई जानकी आईं। उनके विषयमें सबसे प्रथम वाल्मीकिजीने साक्षी देते हुए कहा,—"यदि जानकीमें कलङ्क हो, तो हजारों वर्षतक की हुई मेरी तपस्याका फल मुझको न मिले। यदि जानकी पापरहित न हो, तो मन, कर्म्म या वचनसे कभी जो मैंने पाप नहीं किया है, उसका फल मुझे भोगना पड़े।" * इस प्रकार वाल्मीकि-जीकी बात सुनकर रामचन्द्रजीने सबके सामने हाथ जोड़कर

* बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्य्या मया कृता।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि जानकी॥

कहा,—हे पूज्य महर्षिदेव! आपकी बातसे मुझको विश्वास है कि, सीतामें किसी तरहका दोष नहीं है। देवताओंके सामने भी इससे पहिले एक बार यह विश्वास हो चुका है, परन्तु कलङ्कसे बचनेके लिये मैंने सीताका त्याग किया है; इसलिये आप क्षमा करें और सीता पुनः शपथ करके मुझको लोकनिन्दाके कलङ्कसे बचावे। सीताके शपथ करनेके समय ब्रह्मा आदि देवगण और ऋषि मुनि आदि सभी उपस्थित हुए थे। सबको आये हुए देखकर और श्रीरामचन्द्रजीका अभिप्राय समझकर सीता माता अपने मुख और नेत्रोंको नीचे करके हाथ जोड़कर बोलीं,—"यदि मैं मनसे भी रामके अतिरिक्त दूसरे किसीका स्मरण नहीं करती यह सत्य हो, यदि मन, कर्म्म और वचनसे रामकी पूजा करती हूँ यह सत्य हो और यदि यह भी सत्य हो कि, रामसे अन्य दूसरेको नहीं जानती हूँ, तो माता पृथिवी प्रवेश करनेके लिये मुझको मार्ग दें।" ❀

मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली न चेत्॥

—रामायण, उ० का०।

❀ यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हसि॥

सीतामाताके इस प्रकार शपथ करनेपर दिव्य रत्नोंसे सुशोभित, दिव्य देह धारण करनेवालोंसे उठाया हुआ, दिव्य सिंहासन पृथिवीसे निकला और उसपर बैठकर जगदम्बा जानकी भूतलमें प्रवेश कर गयीं। उस समय सीतामाताकी जयध्वनिसे दशों दिशाएँ गूँज उठीं। इस घटनासे कोई विस्मय, कोई हर्ष, कोई विषाद आदि नाना भावोंसे विह्वल होकर जगत् विमोहित हो गया। इस प्रकार सती सीता भगवान्की शक्ति महाविद्याके साक्षात् अंशसे उत्पन्न होकर आर्य्यजातिमें आदर्श स्त्री और पतिव्रताओंमें शिरोमणि हुई थीं।

यह पहिले ही कहा गया है कि, पुराणोंमें देवलोकके चरित्र अधिक होते हैं और ऋषिप्रणीत इतिहासोंमें मनुष्य-चरित्र अधिक होते हैं। परन्तु देवचरित हों या मनुष्यचरित, सब लोगोंकी धार्मिक शिक्षा और आध्यात्मिक उन्नतिके निमित्त चुनचुन कर ही वे प्रकाशित किये जाते हैं। इनमें आधुनिक लौकिक इतिहास लिखनेकी शैलीकी तरह शृङ्खला

मनसा कर्म्मणा वाचा यथा रामं समर्च्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हसि॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हसि॥
—रामायण, उ० का०।

नहीं रहती। अतः आधुनिक ऐतिहासिकोंके भ्रममें पड़कर उनसे लौकिक इतिहासका अनुसन्धान करना उचित नहीं है। रामायण एक इतिहासग्रन्थ है। इसमें मनुष्यलोकका ही वर्णन अधिक है। अतः श्रीरामगाथामें कई प्रकारके शङ्का-समाधानकी आवश्यकता है। अवतारका आविर्भाव चार पिण्डोंमें होता है, ऐसा सनातनधर्मियोंके दर्शन-ग्रन्थ और धर्मग्रन्थ सभी स्वीकार करते हैं। तिर्यक्‌पिण्डमें-मत्स्य आदि, देवपिण्डमें—दत्तात्रेय आदि, मानवपिण्डमें-राम आदि और अलौकिक पिण्डमें नरसिंह आदि अवतार प्रकट हुए थे। भगवान् विष्णु ब्रह्माण्डके रक्षक हैं। अतः भगवान्‌के विशेष अवतार उन्हींसे प्रकट होते हैं, ऐसा वेद और शास्त्रोंका सिद्धान्त है। रामावतार मनुष्यशरीरमें हुआ था। इस कारण उस मानवपिण्डमें दो प्रकारकी क्रियाएँ प्रकट हुई थीं। एक वह क्रिया, जो भगवान् विष्णुके अवतारत्वसे प्रकट होती है;—जैसे—दुष्टोंका दमन, शिष्टोंका पालन, मर्यादाका संरक्षण, अलौकिक दैवीशक्तियोंका प्रकटन आदि और दूसरी वह क्रिया, जो मनुष्यशरीरधारीके योग्य होती है,—जैसे-सीतादेवीके वियोगसे दुःखका अनुभव, वालिवध, शरणागतपर विशेष कृपा, भ्रातृप्रेम आदि। ये सब क्रियाएँ जिस मनुष्यशरीरमें अवतार प्रकट हुआ हो, उसके पूर्व-

जन्मार्जित कर्मविपाकके अनुसार होती हैं। इस कारण ऐसे विषयोंमें वैदिक दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार शङ्काका अवसर नहीं है। श्रीरामकी लीलामें निन्दाका भी कोई अवसर नहीं है। रामावतार प्रत्येक कल्पके प्रत्येक मन्वन्तरमें हुआ करता है, ऐसा पूज्यपाद महर्षियोंका मत है। दूसरी ओर कल्पकल्पान्तरकी सृष्टि भिन्न भिन्न शक्तिकी होती है। इसी प्रकार हरएक मन्वन्तरमें सृष्टिका ढङ्ग बदल जाता है और सत्य, त्रेता, द्वापर आदि युगोंमें सृष्टिकी अवस्था और यहाँ तक कि, उस समयके मनुष्यों तथा अन्य जीवोंकी शक्ति, प्रकृति और संस्कार आदिमें बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है। इस कारण रामायणमें जो मानवोंकी, दानवोंकी, वानरोंकी, रिक्षोंकी शक्ति, बुद्धि, पराक्रम, कर्म आदिकी अलौकिकता पाई जाती है, उसके विषयमें कालज्ञाता विद्वानोंके लिये कोई शङ्काका अवसर नहीं है।

आदर्श राजा श्रीरामचन्द्रका राजचरित्र श्रीवाल्मीकि रामायणमें परिपूर्ण तो है ही, किन्तु उनके वैराग्यकी पूर्णता और ज्ञानगरिमाकी पूर्णता योगवासिष्ठ आदि अन्य रामायणोंमें उज्वल अक्षरोंमें प्रतिफलित हुई है। राजा श्रीरामचन्द्रके आदर्श राज्यमें त्रिविध अनुशासन द्वारा एक ओर समाजका स्थायी रूपसे सुश्रृंखल होना, दूसरी ओर शौर्य, वीर्य, न्याय-

परायणता और सत्यनिष्ठाके द्वारा बलवान् अत्याचारियोंसे दुर्बल सत्यनिष्ठोंकी रक्षा करना, तीसरी ओर अयोग्यके तिरस्कार और योग्यके पुरस्कारद्वारा मनुष्यसमाज और उसकी सभ्यताकी रक्षा करना और चौथी ओर वर्णाश्रम-शृंखलाके द्वारा मनुष्यसमाजकी आवश्यकताओंकी पूर्ति और मनुष्यसमाजकी सभ्यता और उन्नतिशील मनुष्य-जातिकी रक्षा श्रमविभाग और योग्यताके अनुसार करना, सृष्टिरक्षाके इस चतुर्व्यूहके पूर्णरूपसे लक्षण देख पड़ते थे। श्रीरामचरित और श्रीसीतामाताका चरित सर्वलोक-हितकारी और गृहस्थमात्रके लिये आदर्श शिक्षाप्रद है। श्रीभगवान् रामचन्द्रका जीवनचरित सब युगोंके राजाओंके लिये ध्यानपूर्वक अनुकरण करने योग्य है। इस प्रकारकी जिस राजाकी बुद्धि ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न होती है, उसीकी प्रजा धर्म-निरत होकर इह-परलोक बना सकती है और उसीका राज्य जगत्में आदर्शस्वरूप हो सकता है। रामराज्यकी इसी महनी-यताका विषद वर्णन रामायणमें है, इसीसे रामायण अमर है और जब तक चन्द्र-सूर्य हैं, तब तक रामायणकी और श्रीराम-चन्द्रकी कीर्ति अटल बनी रहेगी। इसी कारण रामायण ग्रन्थ भारतद्वीपके प्राचीन इतिहासका ज्वलन्त आदर्श है।

——

बारहवाँ अध्याय

महाभारत।

आकारके विस्तारके कारण, युगपरिवर्तनके कालसे सम्बन्ध होनेके कारण, वेदके यावत् बड़े बड़े रहस्योंका समावेश होनेके कारण अनेक दैवी और मानवी अलौकिक चरित्रोंका वर्णन होनेके कारण तथा पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णके लोकोत्तर महत्त्वका विवरण होनेके कारण महाभारतकी महिमा सर्वोपरि है। इस समय जितने महा-पुराण, पुराण, उपपुराण, औपपुराण तथा इतिहासशास्त्र उपलब्ध होते हैं, उनमें महाभारतका कलेवर सबसे बृहत् है। पुराणों और इतिहासोंमें महाभारतकी महिमा सिद्ध करनेके निमित्त इसको पञ्चम वेद कहते हैं और यह भी कहते हैं कि, महाभारतमें नहीं, वह कहीं नहीं है। आचार-विचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, पुरुषधर्म, नारीधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, साधारणधर्म, असाधारणधर्म, विशेषधर्म, आपद्धर्म आदि धर्मसिद्धान्तोंका

वर्णन जैसा महाभारतमें पाया जाता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता ।

वेदके तीन काण्ड हैं । यथा:-कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । तीनों काण्डोंका रहस्य महाभारतमें अति-विस्तारसे पाया जाता है । यहाँतक कि, उपनिषदोंका सार जिस प्रकार महाभारतमें एकाधारमें अति सरलरूपसे पाया जाता है, वैसा अन्यत्र नहीं है । वेदके उपनिषद्भाग, संहिताभाग और ब्राह्मणभागके संक्षिप्त सारसे महाभारत-का शरीर सुशोभित हो रहा है । शिल्पनैपुण्य (आर्ट), पदार्थविद्या (साइन्स) और सब दर्शनशास्त्रों (फिलासफी) के सार-वर्णनके द्वारा महाभारतके अनेक अध्याय परिपूर्ण हैं । महाभारतकी सर्वोपरि विशेषता यह है कि, इसमें किसी उपासनाकाण्डके सम्प्रदाय, कर्मकाण्डके सम्प्रदाय अथवा ज्ञानकाण्डके सम्प्रदायका पक्षपात देखनेमें नहीं आता और कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डका सर्वाङ्गीण रहस्य एकाधारमें प्राप्त होता है । महाभारतकी चरित्रावली और महाभारतकी गाथाएँ देवलोकके इतिवृत्त और मनुष्यलोकके इतिवृत्तसे पूर्ण होनेपर भी मनुष्यलोककी चरित्रावली इस प्रकारसे सन्निविष्ट है, जिससे इसका ऐतिहासिक स्वरूप सब श्रेणीके मानवोंके लिये परम हितकर हो गया है ।

मानवी सभ्यताकी अभिवृद्धि, मनुष्यसमाजकी सर्वाङ्गीण उन्नति, स्त्री-पुरुषोंका चरित्रगठन, मनुष्यमात्रकी ऐहिक और पारलौकिक उन्नति तथा मनुष्यमात्रकी यथायोग्य अधिकारानुसार ज्ञानोन्नतिके निमित्त जिन जिन बातोंकी आवश्यकता है, वे सब महाभारतमें विद्यमान हैं। जैसा मनुष्यशरीरमें मस्तक उत्तमाङ्ग है, वैसा महाभारतके शरीरका उत्तमाङ्ग श्रीमद्भगवद्गीता है। सनातनधर्मियोंके विचारसे भगवद्गीता सब वेदोंकी साररूप है ही, किन्तु पृथ्वीकी सब सभ्य जातियोंमें, सब दार्शनिक तत्वज्ञानियोंमें और सब निरपेक्ष विद्वानोंमें श्रीमद्भगवद्गीताका आदर हुआ है। पण्डितमात्रकी यह सम्मति है कि, श्रीमद्भगवद्गीता जैसा ज्ञान-शास्त्र और सर्वजीवहितकारी ग्रन्थ दूसरा देखनेमें नहीं आता। अतः चाहे लौकिक विषय हो, चाहे अलौकिक विषय हो, सब प्रकारके ज्ञानका आधार होनेसे महाभारतको यदि पञ्चम वेद कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

शृंखलाकी महिमा सर्वोपरि है। दैवीशृंखला (आरगनिजेशन) से ही चतुर्दशलोकमय ब्रह्माण्डकी सुव्यवस्था और सुरक्षा होती है। यदि दैवीशृंखलाकी सुव्यवस्था और नियमबद्ध प्रणाली ठीक न रहे, तो दैवीशृङ्खला भङ्ग हो

जायगी और दैवीशृंखलाके भंग होनेसे चतुर्दशलोककी व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट हो जायगी। लौकिक जगत्‌में भी ऐसा ही देखनेमें आता है। यदि किसी साम्राज्यके रक्षण और शासन-विभागकी शृंखला (आरगनिजेशन) ठीक रीतिसे सुरक्षित न हो, तो वह साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट होकर कालके कवलमें चला जाता है। इसी प्रकार जिस मनुष्यजातिकी सामाजिक शृंखला अति दूरदर्शिता-पूर्ण सुव्यवस्थित और सुदृढ़ हो, वही मनुष्य जाति अथवा मनुष्यसमाज चिरंजीवी हो सकता है। जहाँ यह शृंखला नहीं है, वह क्रमशः विलासी, उच्छृङ्खल और बर्बर होकर विनष्ट हो जाता है। इसी अपरिहार्य प्राकृतिक नियमके अनुसार भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिवरूपी ब्रह्माण्डके अधीश्वरगण ब्रह्माण्डकी सृष्टि-स्थितिलयकी क्रियाको सुव्यवस्थित और यथावत् रखते हैं। इसी प्राकृतिक अलङ्घनीय नियमके अनुसार भगवान् यम, भगवान् मनु, भगवान् इन्द्र आदि बड़े बड़े देव-पदधारी गण अपने अपने देवपदोंमें स्थित रहकर अन्यान्य देवताओंसे यथावत् काम लेते हैं और उनको शासनाधीन रखकर और देवताओं तथा असुरोंको अपने अपने अधिकारोंमें संयमित रखकर ब्रह्माण्डकी दैवीशृंखलाको अस्त-

व्यस्त होने नहीं देते। जिसके फलसे मृत्युलोककी भी सुव्यवस्था बनी रहती है।

इसी दैवीशृंखलाके नियमानुसार भारतवर्षमें अपने अपने समयपर सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुगरूपी काल, भूर्भुवःस्वर्लोकरूपी त्रिलोकमें मन्वन्तर आदि काल और ब्रह्माण्डमें कल्प आदि कालका आविर्भाव यथासमय हुआ करता है। कल्प-कल्पान्तरमें सब सृष्टि बदल जाती है। मन्वन्तरके समय इन्द्रादि पदधारी बदल जाते हैं और त्रिलोककी व्यवस्था नयी हो जाती है। तदनुसार भारतवर्षमें भी चार युगोंका यथासमय आविर्भाव हुआ करता है। जैसे त्रिलोकमें देवपदधारी अपने अपने समयपर देवपदोंपर दैवीशृंखलासे पहुँच जाया करते हैं, वैसे ही भारतवर्षमें अलग अलग युगोंमें सृष्टिकी स्थितिके निमित्त और शृंखलाकी सुव्यवस्थाके निमित्त भगवान्के अवतारसमूह और ऋषियों तथा देवताओंके अवतारसमूह अपने अपने समयपर प्रकट होकर अपने अपने दैवीराज्यद्वारा प्रेरित कार्योंको सम्पन्न किया करते हैं। यही वेद और शास्त्रोंका अकाट्य सिद्धान्त है।

इसी दैवीशृंखलाकी सुव्यवस्थाके अनुसार प्रत्येक सत्ययुगमें वेदरूपी नादपुस्तकका पूर्ण आविर्भाव हो जाता है।

अन्यान्य युगोंकी सन्धियोंमें विन्दुपुस्तक, ब्रह्माण्डपुस्तक और नाना प्रकारकी दैवी और आसुरी पिण्डपुस्तकें यथा-देश-काल-पात्र समष्टि-कर्मोंके अनुसार दैवी सहायतासे प्रकाशित होती रहती हैं। इसी शृंखलाके अनुसार उनका समय समयपर आविर्भाव और तिरोभाव भी हुआ करता है। इस कारण वेद और शास्त्रोंके आविर्भावके कालका निर्णय करनेमें प्रवृत्त होना बाल-चापल्य मात्र है। इसी शृंखलाकी अपरिहार्य व्यवस्थाके अनुसार सहजपिण्डधारी मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों, अलौकिकपिण्डधारी नृसिंह जैसे अवतारों और मानवपिण्डधारी रामकृष्णादि अवतारोंका यथानिर्णीत समयमें और यथादेशकालपात्र आविर्भाव हुआ करता है। इसी प्रकार हरिश्चन्द्रादि राजा, वेदव्यास-वसिष्ठादि ऋषि, शुकादि महात्मा यथासमय यथानियम आविर्भूत होते हैं। ये सब विशेष-पदधारी हैं। यद्यपि इन पदोंपर नयी नयी आत्माएँ नये नये युगोंमें आ जाती हैं, तथापि ये पद उन-उन युगोंमें ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इस कारण पुराणोंके वर्णनवैचित्र्यमें सन्देह करनेकी आवश्यकता नहीं।

ज्योतिष शास्त्र प्रत्यक्ष शास्त्र है। उसके सम्मुख पदार्थ-विद्यावादी साइण्टिस्टोंको भी सिर झुकाना पड़ता है। उससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि, २७ नक्षत्रों और १२ राशियोंको भोग

कर सूर्य एक वर्षमें पुनः पूर्वस्थानमें आ जाता है। चन्द्रमाकी शुक्ल-कृष्णपक्षीय गति प्रतिदिन देखनेमें आती है। बृहस्पति तेरह मासमें सब राशियोंको भोग करता है और साठ सहस्र वर्षोंमें फिर समस्त ग्रहगण पूर्वके लग्नमें आ जाते हैं। अन्य ग्रह भी अपने अपने समयमें अपनी अपनी कक्षाके भ्रमणको पूरा कर लेते हैं। यहाँतक कि, आधुनिक गणित ज्योतिषने यह प्रमाणित कर दिखाया है कि, धूमकेतु आदि-की गति भी नियमित है। राशि और नक्षत्रोंकी गति नियमित है, यह तो सदा ही प्रत्यक्षसिद्ध है। इसी उदाहरणके अनुसार यह समझना उचित है कि, दैवीशृंखलाके रक्षक देवपदधारीगण, मानुषीशृंखलाकी दैवीप्रक्रियाके रक्षक देवताओं और ऋषियोंके अवतारगण तथा पूर्णशक्ति-शाली भगवदवतारगण सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुगके अन्तर्गत यथावत् समयमें आविर्भूत होते रहते हैं। क्योंकि सृष्टिशृंखलाकी रक्षाके वे निश्चित पद हैं। यही प्राचीन भारतद्वीपवासियोंका सर्वतन्त्रसिद्धान्त है, जिसके प्रमाण वेद और शास्त्रोंमें सब जगह पाये जाते हैं।

शास्त्रोंसे यह सिद्ध है कि, सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर-युग और कलियुग इन चारों युगोंका प्रभाव प्रत्यक्ष-

रूपसे त्रिलोकपर और अप्रत्यक्षरूपसे सारे ब्रह्माण्डपर यथासम्भव पड़नेपर भी इन चारोंका यथार्थ स्वरूप मृत्युलोकरूपी भारतवर्षमें ही प्रकट हुआ करता है। वस्तुतः इन चारों युगोंकी लीलाभूमि भारतवर्षमें ही है, इन चारोंका संस्कार मोक्षभूमि भारतद्वीपमें बना रहता है। इसका कारण प्रत्यक्ष ही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारोंकी विशेष विवेचनाका स्थान मोक्षभूमि भारतद्वीप ही सदासे रहा आया है। इन चारों युगोंके अलग अलग समयोंमें मनुष्यजातिके विद्या, बल, धन, धर्म तथा आयु, मेधा, धैर्य, पराक्रम आदिका बहुत कुछ न्यूनाधिक्य होता रहता है। यही कारण है कि, चारों युगोंकी सन्धियोंमें सब प्रकारके बड़े भारी परिवर्त्तनकी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि, इन युगोंकी सन्धियोंमें बड़े बड़े शक्तिशाली अवतार हुआ करते हैं। संसारमें देखनेमें आता है कि, सम्पत्ति और ऐश्वर्यभोगके समयकी अपेक्षा विपत्तिके समय मनुष्यको धैर्य आदि गुणोंकी परीक्षा देनेका अवसर अधिक प्राप्त होता है। विपत्तिके समयमें जो मनुष्य परीक्षोत्तीर्ण होता है, उसकी योग्यता श्रेष्ठ कही जाती है। साधारणतः मनुष्यलोक और विशेषतः आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजातिके लिये द्वापरयुग

और कलियुगकी सन्धि बहुत ही भयानक समझी गयी है। इस कारण यह सन्धि कठिनसे कठिन होनेसे इसमें दैवी सहायता पहुँचानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जैसे पूर्णावतारके आविर्भावकी आवश्यकता हुई थी। इन सब सिद्धान्तोंका ज्वलन्त प्रमाण महाभारतमें पाया जाता है।

सनातनधर्मके शास्त्रोंने तथा पूज्यपाद महर्षियोंने एक वाक्य होकर यह सिद्धान्त किया है कि, अन्य अवतार अंशावतार हैं और भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं।* अवतारतत्त्वके विषयमें सनातनधर्मियोंके पुराणों और इतिहासोंमें जो विज्ञान वर्णित है, उसका सारांश यह है कि, कलाके विकाशके क्रमसे अंशावतार और पूर्णावतारके स्वरूप तथा कामोंमें भेद पाये जाते हैं। अंशावतारोंमें प्रयोजनके अनुसार भगवान्की शक्ति नौ कलाओंसे पन्द्रहकलाओं तक विकाशको प्राप्त होती है, परन्तु पूर्णावतारमें सोलह कलाओंका पूर्ण विकाश हो जाता है। अंशावतार और पूर्णावतार दोनोंका ही उदय समष्टिजीवोंके कल्याणके लिये होनेपर भी अंशावतार द्वारा अंशरूपसे समयके अनुकूल कल्याण होता है और पूर्णावतारके द्वारा पूर्ण तथा सब समयोंमें

* एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्!
—विष्णुभागवत।

उपकार करने वाला कल्याण होता है। अंशावतार परशुराम, बुद्धदेव आदिके द्वारा आंशिक और उस समयके योग्य कल्याण हुआ था और पूर्णावतार श्रीकृष्णके द्वारा सब जीवोंका जो कल्याण हुआ है, वह नित्य पूर्ण और सदा फल देनेवाला कल्याण है। श्रीभगवान् सत्, चित् और आनन्द रूप हैं। पूर्णावतारमें इन तीनों सत्ताओंका पूर्ण विकाश होनेके कारण पूर्णावतारके जीवनमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंकी लीलाएँ पूर्णरूपसे देखनेमें आती हैं और उनमें इन तीनोंकी समता भी रहती है। जिस पुरुष या स्त्रीमें अङ्ग-प्रत्यङ्गकी जितनी समता (Symmetry) होती है, वे उतने ही सुन्दर दिखते हैं। उसी प्रकार मानसिक विरुद्ध वृत्तियोंकी समता द्वारा मनकी सुन्दरता और आत्माके विविध भावोंकी समता द्वारा आत्माकी सुन्दरता प्रकाशित होती है। पूर्णावतारमें आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक त्रिविध पूर्णता होनेसे उनमें स्थूल शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी पूर्ण समता, मानसिक वृत्तियोंकी पूर्ण समता तथा आत्मासम्बन्धीय बुद्धि, प्रतिभा आदिकी पूर्ण समता होना विज्ञानानुकूल है। पूर्णावतारका स्थूल शरीर पूर्ण सुन्दर, मन पूर्ण सुन्दर और आत्मा पूर्ण सुन्दर होती है। श्रीकृष्णके पूर्णावतारमें

भी इन तीनोंका पूर्ण विकाश होना स्वाभाविक था। आधिभौतिक पूर्णता होनेसे सौन्दर्य और ब्रह्मचर्यकी पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता होनेसे शक्ति और ऐश्वर्यकी पूर्णता और आध्यात्मिक पूर्णता होनेसे ज्ञान और वैराग्यकी पूर्णता होना पूर्णावतारमें स्वतःसिद्ध है। ये सब बातें भगवान् श्रीकृष्णके जीवनमें पूर्णरूपसे विद्यमान थीं, यह सनातनधर्मियोंके पुराणों और इतिहासशास्त्रसे सिद्ध है। यही कारण है कि, पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों भावोंसे पूर्ण थे।

पूर्णावतारके प्रकट होनेकी आवश्यकता तभी होती है, जब पृथ्वीका भार दुरात्मा असुरोंके द्वारा असाधारण रूपसे बढ़ जाता है। ऐतिहासिकतत्वसे भी ऐसा ही सिद्ध होता है। भूभार-हरणके लिये ही भगवान् कृष्णचन्द्रका अवतार द्वापरके अन्त और कलिके आरम्भमें हुआ था। उस समय एक ओर तो कंस, जरासन्ध आदि प्रबल असुरोंके अत्याचारसे संसार अत्यन्त पीड़ित हो रहा था, संसारसे भगवान्के नाम तकका लोप हो रहा था, धर्मकी धारा एक बार ही सूख चली थी और दूसरी ओर दुर्योधन आदि कौरव राजाओंके पापाचरणसे राजा और प्रजा दोनोंमें भयंकररूपसे पापकी वृद्धि हो रही थी। कृष्णावतारके

पहले शिशुपाल और दन्तवक्र नामक असुरोंके अत्याचारसे भी पृथिवी उत्पीड़ित हो उठी थी। इसके सिवाय अघासुर, बकासुर, धेनुकासुर, गर्दभासुर, अरिष्ट, वृषभ, केशी, प्रलंब, चाणूर, तृणावर्त्त, मुष्टिक, नरकासुर, पाञ्चजन, कालयवन, शम्बर, बाण आदि कितने ही असुर उस समय उत्पन्न हो गये थे, जिनके पापाचरण और अत्याचारसे पृथिवी बहुत ही दुःखित हो गयी थी और संसारमें धर्मका एक बार ही लोप हो चला था। अतः इन सब असुरोंके पापके बड़े बोझसे पृथिवीको बचानेके लिये और पापको नाश करके समयके योग्य धर्मकी धाराको प्रवाहित करनेके लिये पूर्णकलाओंमें श्रीकृष्णका और आंशिककलाओंमें बलरामका अवतार हुआ था। धर्मकी व्यवस्था कितनी गिर गई थी, यह इसीसे समझ सकते हैं कि, तुरन्त उत्पन्न हुए बालकोंको मारनेमें, अपनी सहोदरा बहिन और बहनोईको अन्यायरूपसे कैद करके लगातार उनकी सन्तानोंको जन्म लेते ही मार देनेमें और अपने पिता उग्रसेनको कैद करनेमें भी दुरात्मा कंसको कोई संकोच नहीं होता था। आज संसार इतना गिरा है, तो भी अपनी रजस्वला एकवस्त्रा भौजाईको भरी हुई सभाके बीचमें नग्न करनेकी पापेच्छा किसी भाईके हृदयमें नहीं उत्पन्न हो सकती। परन्तु जहाँपर रजस्वला द्रौपदी भरी सभाके

बीचमें नग्न की जाय और भीष्मपितामह जैसे महात्मा और द्रोणाचार्य जैसे विद्वान् उसको देखते रहें, एक शब्द उनसे न कहा जाय वहाँपर समाजकी दशा कितनी शोचनीय हो गयी थी, इसको विचारवान् मनुष्यमात्र ही समझ सकते हैं। जहाँपर बालब्रह्मचारी भीष्मपितामह की बुद्धिपर भी अज्ञानका मेघ घिर जाय और द्रोण आदि सात रथी एकाकी, अस्त्र शस्त्रसे रहित, असहाय अभिमन्युको भीरुकी तरह मारकर भी अपना वीरता समझें, वहाँपर क्षत्रिय धर्म कितना नष्ट हो गया था, यह सभी अनुमान कर सकते हैं। पिताकी सम्पत्तिका आधा अंश प्राप्त करनेका अधिकार पाण्डवोंको था; परन्तु राज्य देना दूर रहा, जुएमें पाण्डवोंको हराके कितने ही वर्षों तक उन्हें कौरवोंने जंगलोंमें घुमाया और संसारमें ऐसा कोई अन्यायका बर्ताव नहीं रह गया, जो उनके साथ नहीं किया। वनवास तथा अज्ञातवासके अनन्तर जब पाण्डवोंने आधी सम्पत्ति माँगी, तो दुष्ट दुर्योधनने अस्वीकार कर दिया। फिर पाँच ही ग्राम जब श्रीकृष्णने उनके लिये माँगे, तब दुर्योधनने कहा—एक सूईके आगे जितनी भूमि आती है, उसका भी आधा भाग युद्ध किये बिना नहीं मिलेगा।* केवल इतना ही

* सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन भिद्यते या च मेदिना।

नहीं, घमण्डी दुर्योधनने, जिनके चरणकमलोंके आश्रयसे जीव संसारके वन्धनसे मुक्त होते हैं, उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्रको बाँधनेकी आज्ञा दी। इससे समझ सकते हैं कि, कृष्णावतारके पहले संसारमें कितना पाप, अत्याचार और अज्ञान बढ़ गया था। इन्हीं पापियोंका नाश करके पृथिवीका पापभार दूर कर धर्मकी धाराकी वृद्धिके लिये ही पूर्णकलाओंमें श्रीभगवान्का अवतार हुआ था। गुरु सबके पूज्य होते हैं, शिष्यपर उनका ममत्व होता है, परन्तु जहाँपर गुरु शिष्यका तथा शिष्य-पुत्रका प्राण विनाश करे और गुरुपुत्र अश्वत्थामा नींदकी अवस्थामें शिष्य-पुत्रोंका प्राण विनाश करनेमें संकोच न करे वहाँपर कितना पाप बढ़ गया था, इसको सभी लोग अनुभव कर सकते हैं। आर्यशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार बालककी हत्याके समान पाप नहीं है और निद्रित अवस्थामें मनुष्यकी तो बात ही क्या, वृक्षपर चोट लगाना भी पाप है। परन्तु द्रोणके पुत्र अश्वत्थामाने निद्रित अवस्थामें ही द्रौपदीके पाँच बालकोंका प्राण विनाश कर दिया था और गर्भमें ही परीक्षितको मार डालनेके लिये उत्तराके गर्भमें ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया था। ऐसे ऐसे भयंकर पाप द्वापर और कलिके

तदर्द्धं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव ॥

—महाभारत ।

सन्धिकालमें भारतवर्षमें फैल गये थे। वह समय बड़ा ही भयंकर हो उठा था। वह इतना भयंकर समय था कि, असुरोंके बड़े बड़े अवतारोंका सामना करनेके लिये अनेक देवताओंके अवतार भारतद्वीपमें प्रकट हुए थे। जिनमें भगवान् बलरामकी अंशावताररूपसे प्रधानता थी। पुराण-शास्त्रोंसे यह भी प्रमाणित है कि, पूर्णावतार श्रीकृष्ण-चन्द्रकी मनुष्यलीलाको पूर्ण करनेके लिये अनेक देव-देवियोंका मानव-पिण्डमें जन्म हुआ था।*

श्रीविष्णुभागवत, अग्निपुराण आदि पुराणों और महाभारतमें श्रीभगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रके अलौ-

* गिरं समाधौ गगने समीरितां
निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम्॥
पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि॥
वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत् प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥
वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया॥

किक जन्म, कर्म और लीलाओंके विषयमें बहुत विस्तार-पूर्वक वर्णन है। भगवान्का जन्म ऐसे समयमें हुआ था, जिस समय उनके माता-पिता कारागारमें थे। असुरराज कंसने उनका जन्म होते ही उनके प्राणहरण करनेका पूरा उद्योग किया, परन्तु दैवी प्रेरणा और सहायतासे वे मथुरा-से गोकुल पहुँचाये गये। वहाँ सद्गृहस्थ नन्दराजके घर पुत्ररूपसे प्रतिपालित हुए। अपनी बाल्यावस्थामें ही गोकुल और वृन्दावन आदिमें अलौकिक बाललीला करते हुए खेलते खेलते उन्होंने अनेक असुरोंको मारा, दैव-कोपसे व्रजको बचाया, रासलीला आदिकी मधुरतासे व्रजके नर-नारियोंको मुग्ध किया और नौ वर्षकी अवस्थामें ही बड़े बड़े असुरोंको मारकर अपने दैवी और मधुर चरित्रके प्रभावसे व्रजके नर-नारियोंको भगवद्भक्तिका रसास्वादन कराया था। तदनन्तर जब गोकुलसे उनका मथुरामें आना हुआ, तब लोगोंको उनके जन्मस्थानका पता लगा और उसी बाल्यावस्थामें उन्होंने कंसको मारकर उसके पिता अर्थात् अपने नानाको मथुराका राज्य सौंप दिया। मथुरामें

विष्णोर्माया भगवती यया संमोहितं जगत् ।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति ॥
—विष्णु भागवत ।

ही उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। इससे सिद्ध है कि, इससे पहिले उनकी अवस्था ९ से ११ वर्षके वीच थी। अनन्तर जव उनकी यौवनलीला प्रारम्भ हुई, तब मथुरा और द्वारकामें रहकर उन्होंने अनेक धर्मघातक बड़े बड़े असुरोंका नाश किया और कराया। महाभारतके अन्तिम युद्धमें स्वयं शस्त्र धारण न कर उन्होंने धर्मकी स्थापना और अधर्मके नाशके द्वारा भूभारका हरण किया और एक बहानेसे अपने दाम्भिक राजकुलका विनाश करके भूभार-हरणकी पूर्णता कर डाली।

श्रीभगवान् कृष्णकी वाललीला जैसी अलौकिक दैवी शक्तियोंके विकाशसे सुशोभित है, जो बिना पूर्णावतारके अन्यत्र विकसित नहीं हो सकती, वैसी उनकी यौवनलीला भी अनुपम और अलौकिक शक्ति तथा भावोंसे पूर्ण है। उनका सहस्रों कन्याओंसे विवाह करना, सहस्रों रानियोंके रहते हुए भी योगपरायण होना, आदि बातें पूर्णावतारके शरीरके बिना हो नहीं सकती। अतुल दैवीशक्तिसम्पन्न होने और अनायास भारतके सम्राट् होनेकी सुविधा रहनेपर भी राजैश्वर्यको तुच्छ समझकर वे औरोंको राजा बनाते रहे। वे यदि चाहते, तो स्वयं महाभारतके महा-युद्धमें सबका संहार कर स्वयं भारतसम्राट् हो सकते थे;

परन्तु ऐसा न कर महायुद्धके आरम्भ तक वे सन्धिका ही प्रयत्न करते रहे और अन्तमें उस बन्धुकलहके महायुद्धमें किसीका पक्ष न लेकर निरपेक्षभावसे केवल सारथीका काम करके निष्काम-कर्मयोगका आदर्श स्थापित कर गये। अपनी सात्विक धृति और सात्विक ज्ञानका आदर्श और अपनी आध्यात्मिक शक्तिकी पराकाष्ठा जगत्में प्रकट करने तथा जगत्-शिक्षाके अभिप्रायसे महायुद्ध जैसे विपरीत देश-कालमें जिस श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश उन्होंने अर्जुनको दिया था, उसकी तुलना इस मृत्युलोकमें न कभी हुई है, न होगी। उनके जीवनका प्रधान लक्ष्य वर्णाश्रमशृंखलाको स्थायी रखना था। वे वर्णाश्रममर्यादाके गौरवको कितना मानते थे, इसका आदर्श उन्होंने महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें स्वयं ब्राह्मणोंके पैर धोनेका काम स्वीकार कर स्थापित किया था। उनकी शरणागतवत्सलताका ज्वलन्त उदाहरण महारानी द्रौपदीकी भरी सभामें लज्जा रखना है। उनके मित्र-प्रेमका आदर्श सुदामाचरित्रमें प्रतिफलित हुआ है। उनके भ्रातृप्रेमका आदर्श बलरामके साथ किया हुआ अति मधुर व्यवहार है। उनका सखाप्रेम अर्जुनके साथ और उनका आत्मीयवात्सल्य पाण्डवमात्रके साथ प्रकट हुआ था। उनकी गुरुजनश्रद्धा तो उनके जीवनचरित्रको अति मधुर बना रही है।

पूर्णावतारके जीवनमें कार्यब्रह्मके भीतर सद्भावके अनुसार कर्मकी पूर्ण लीला, चित् भावके अनुसार ज्ञानकी पूर्ण लीला और आनन्दभावके अनुसार उपासना तथा रसकी पूर्ण लीला प्रकट होती है। यही कारण है कि, पूर्णावतार श्रीकृष्णके लीलाकालमें कार्यब्रह्मके भीतर नाना प्रकारके अनन्त विचित्र कर्म संघटित हुए थे, उपासनाभावके अन्तर्गत मुख्यरस और गौणरसरूपसे जो चतुर्दश प्रकारके रसोंका वर्णन दर्शनशास्त्रोंमें पाया जाता है, सभीके साधक भक्त उनके लीलाकालमें देखनेमें आये थे और अनन्त ज्ञानसमुद्रके जितने तरङ्ग हो सकते हैं, सभीके प्रभाव उनके विचार तथा कार्यसमूहमें प्रकट हुए थे। यही अनन्तविस्तारमयी, कर्मोपासनाज्ञानसम्बन्धी उनकी पूर्णावतारलीलाका रहस्य है।

पुराणों और इतिहासोंमें जो श्रीकृष्णचरित्र वर्णित है, उसका सारांश यह है कि, उनके सभी कार्य भावातीत कोटिके होते थे और भावातीत कोटिके होनेसे ही उनके कार्यमें लौकिक धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सत्य-मिथ्या, न्याय-अन्याय, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका कोई भी भाव लौकिकबुद्धिगम्य नहीं होता था। उनके भावातीत स्वरूपमें ये सभी लौकिक द्वन्द्वमूलक भाव लय हो जाते थे। केवल समष्टि-जगत्के चिरस्थायी कल्याणका लक्ष्य रखकर उनके सब कार्य अनुष्ठित

होते थे और समष्टि-जगत्के कल्याणका विचार करके ही उनके कार्यमें धर्माधर्मका स्वरूप निर्णीत हुआ था। जिस कार्यमें व्यक्तिगत धर्मका सम्बन्ध है, परन्तु समष्टि जगत्कल्याणका सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकारके कार्यको पूर्णावतार कदापि नहीं करते। व्यक्तिके विचारसे यदि अधर्म भी हो और उस व्यक्तिगत अधर्मके द्वारा समष्टिगत कल्याण या धर्म सिद्ध होता हो, तो पूर्णावतार उस कार्यको अवश्य करेंगे और व्यक्तिगत धर्म्माधर्मके प्रति उपेक्षा करेंगे। व्यक्तिगत अधर्म या धर्मका संस्कार पूर्णावतारके केन्द्रको कदापि स्पर्श नहीं करेगा। क्योंकि भावातीत स्वरूपमें लौकिक धर्माधर्म स्पर्श नहीं कर सकता। इस प्रकारके कर्मके साथ उनके अपने अभिमानका कोई भी सम्बन्ध न रहनेसे उस कार्यका अच्छा बुरा कोई संस्कार उनके केन्द्रको स्पर्श नहीं करेगा। वे सब धर्म या अधर्मसे होनेवाले संस्कार उस समष्टि-प्रकृतका आश्रय करेंगे, जिसके आश्रयसे अभिमानशून्य होकर पूर्णावतारने कार्य किया था। ये ही भावातीत अलौकिक भाव पूर्णावतारके कर्ममें रहते हैं और यही कारण है कि, अंशावतारके कार्यसमूह तो अलौकिक जीव जान लेते हैं, किन्तु पूर्णावतारके कार्यरहस्यको वे जान नहीं सकते।

अलौकिक चरित्ररहस्यको जानना लौकिक जीवोंकी बुद्धि-कोटिके वाहरकी वात है। इसी कारण रामादिके चरित्रों-पर सन्देह कम होता है और कृष्णचरित्रपर इतनी शङ्काएँ होती हैं।

अब श्रीभगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्णके द्वारा किये हुए कुछ जटिल कर्मोंका तथा धर्मसङ्कटोंका वर्णन करके उल्लिखित अलौकिक कर्मके विज्ञानका रहस्य शङ्कासमाधानार्थ बताया जाता है। श्रीभगवान् कृष्णके कर्मजीवनमें ऐसे ऐसे अवसर कई बार आये हैं, जिनमें उनके जैसे पूर्णावतारके सिवाय और कोई भी कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सकता था। महाभारतमें लिखा है कि, जिस समय अनेक संग्रामोके अनन्तर द्रोणाचारकी मृत्यु नहीं हुई और उनके भयानक अस्त्रप्रहारसे पाण्डवसैन्योंका बराबर क्षय होने लगा, उस समय उनको मारनेके लिये यह उपाय देखा गया कि, उनके पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युका समाचार यदि वे सुनेंगे, तो संग्राम करना छोड़ देंगे और उस दशामें पूर्वशापके कारण महावीर द्रोणाचार्यका वध हो सकेगा। तदनुसार द्रोणको लोगोंने जाकर कहा कि, अश्वत्थामा मर गया। अन्य पुरुषोंके मुखसे पुत्रकी मृत्युका समाचार सुननेपर भी द्रोणाचार्यको विश्वास नहीं हुआ और उन्होंने कहा कि, जबतक

धर्मराज युधिष्ठिर इस बातको अपने मुखसे नहीं कहेंगे, तब-तक उनको पूर्ण विश्वास नहीं होगा। तदनुसार श्रीकृष्णने जाकर युधिष्ठिरसे कहा,—"आप झूठ कह दीजिये कि, अश्वत्थामाकी मृत्यु हुई है।" धर्मराज युधिष्ठिर सत्यप्रतिज्ञ थे, इसलिये उन्होंने असत्य कहना अस्वीकार किया। बहुत समझानेपर युधिष्ठिरने कहा,—"अश्वत्थामा मारा गया, मनुष्य या हाथी!"* उस दिन अश्वत्थामा नामक एक हाथी मारा गया था, इसलिये 'कुञ्जर' शब्दके साथ अश्वत्थामाकी मृत्यु कहना युधिष्ठिरने स्वीकार किया जिससे उनका वचन असत्य न हो। यहाँपर श्रीकृष्णचन्द्रने सोचा था कि, द्रोणाचार्य्य जब अधार्म्मिक दुर्योधनके पक्षमें हैं, तो उनकी मृत्युके विना धर्म्मकी जय और संसारका कल्याण होना असम्भव है। इसलिये एक ओर तो युधिष्ठिरकी सत्यप्रतिज्ञाकी रक्षाद्वारा व्यक्तिगत धर्म्मका पालन है और दूसरी ओर पापियोंके नाश और भूभारहरणके द्वारा समस्त संसारका कल्याण है। इसलिये समष्टि और व्यष्टिगत धर्म्मके विचारसे द्रोणाचार्य्यका मरण होना ही उस समय धर्म्म था और यदि उसके लिये किसीको असत्य भी बोलना पड़े, तो असत्य भी

* "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा"

धर्म्म था।※

श्रीकृष्णके जीवनमें निष्कामकर्म्मयोगकी भावातीत गति है, जिसका आश्रय करके उन्होंने अपूर्वरूपसे संसारका कल्याणसाधन कर दिया था और धर्म्माधर्म्म, सत्यासत्य, पापपुण्य आदि द्वन्द्वके सम्पर्कसे रहित होकर वे अनायास अनन्त धामको प्राप्त भी हो गये थे। ऐसे ऐसे अनेक धर्म-संकटोंकी मीमांसा उनके कर्मजीवनमें मिलती है, जिससे कर्मके साथ साथ ज्ञानका सामञ्जस्य धर्मकी मीमांसामें पाया जाता है, जो अन्यके लिये दुर्लभ है।

श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्णचरित्रमें उपासनाकी महिमा जिस प्रकार दिखाई गई है, उसी प्रकार महाभारतके श्रीकृष्ण-चरित्रमें कर्म्म और ज्ञानकी पूर्णताका सुन्दर चित्र दिखलाया गया है। धर्मसंकटके समय कर्तव्याकर्तव्यकी समस्याकी मीमांसा, भविष्यत्का पूर्णज्ञान, अवश्य कर्तव्यके पालनमें निःसङ्कोच प्रवृत्ति, जगत्कल्याणबुद्धिकी पराकाष्ठा, नीति और ज्ञानको साथ साथ मिलाकर उदार बुद्धिसे काम लेनेकी योग्यता, ये सब ज्ञानयोग और कर्म्मयोगके उदार आदर्श श्रीकृष्णके जीवनमें पदपदपर मिलते हैं।

※ सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्।
—भगवान् व्यासः।

भगवान् कृष्णचन्द्रने अपना इसी अलौकिक धर्मनीति-को सामने रखकर जब अर्जुन अपने ज्येष्ठ भ्राता महाराज युधिष्ठिरको मारनेके लिये उद्युक्त हुए थे, उस भयानक संकट-के समयमें पाण्डवोंको बचानेके निमित्त अर्जुनको निम्न-लिखित उपदेश दिया था। जिस शक्तिके द्वारा सृष्टिकी धारणा अर्थात् रक्षा हो, उसीको धर्म कहते हैं, इसलिये धर्म अहिंसामूलक है, हिंसामूलक नहीं है।* तुम जो व्यक्तिगत धर्मपालनके लिये भाईकी हिंसा तथा समष्टिगत अधर्मको स्थान दे रहे हो, उसमें धर्म्म नहीं होगा, अधर्म ही होगा और तुम्हें जो सत्यप्रतिज्ञा भङ्ग होनेका भय है, उसमें वक्तव्य यह है कि, प्राणियोंकी अहिंसा ही सर्वप्रधान धर्म है। उसके लिये यदि सत्यप्रतिज्ञा भङ्ग हो अथवा मिथ्या बोलना पड़े, तो वह करना ठीक है, किन्तु हिंसा करना ठीक नहीं है। केवल सत्य बोलना ही सत्य नहीं है। क्योंकि देशकाल भेदके अनुसार मिथ्या भी सत्य होता है और सत्य भी मिथ्याके तुल्य पापका उत्पन्न करनेवाला होता

---

* धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

है।* इसलिये देशकालानुसार समष्टिलोककल्याणका विचार रखते हुए सत्यमिथ्याका तत्त्व निश्चय करके तव मनुष्य धर्मानुष्ठान कर सकता है। धर्मसंकटमें व्यक्तिगत धर्मकी भी रक्षा हो और समष्टिगत धर्मकी भी रक्षा हो, इस कारण दोनों ओरका सामञ्जस्य करनेके लिये श्रीकृष्णने कहा कि, सम्मान प्राप्त होना ही पूज्य पुरुषोंका जीवनधारण है, अपमानित होना उनके लिये मृत्युतुल्य है। इसलिये तुम पूज्य युधिष्ठिरको 'तू' कह कर पुकारो तो, इससे युधिष्ठिरका अपमान हो जायगा। और अपमान होना ही उनके लिये मृत्युके समान हो जायगा।† श्रीकृष्णके वचनानुसार अर्जुनने ऐसा ही किया, जिससे युधिष्ठिरका प्राण वच गया अर्जुनकी प्रतिज्ञाकी रक्षा भी हो गयी और सव ओरका सामञ्जस्यविधान हो गया। इस प्रकारसे धर्मसङ्कटकी

---

* प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात् कथञ्चन॥
तत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यञ्चाप्यनृतं भवेत्।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित्॥

† यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके।
यदावमानं लभते महान्तं तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः॥
त्वमित्यत्रभवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम्।
त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत॥

मीमांसा और समष्टिकल्याणबुद्धिसे सब ओर देखकर धर्मनीति बताना श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके जीवनमें कर्मयोग और ज्ञानयोगके अपूर्व सामञ्जस्यका दृष्टान्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पूर्णज्ञानी पूर्णावतारके सिवाय इस प्रकार पूर्णकौशलयुक्त, पूर्णज्ञानमय, धर्मनीतिका उपदेश और कोई भी नहीं कर सकता। महाभारतमें सबसे अलौकिक चरित्र भगवान् कृष्णचन्द्रका है। ऐसा त्रिलोकपवित्रकारी जगत्मंगलकारी और विशुद्ध ज्ञानप्रकाशक परमपुनीत चरित्र अन्यत्र देखनेमें नहीं आता। श्रीभगवान् कृष्णका अलौकिक चरित्र प्रकाशित रहनेसे महाभारतकी महिमा असाधारण रूपसे बढ़ गयी है।

अब यह विचार करना आवश्यक है कि, वर्तमान २८ वाँ कलियुग जिसके आरम्भमें महाभारतका महायुद्ध हुआ था, वह कलियुग, मानव वर्षोंके अनुसार कबसे आरम्भ हुआ है। कितने ही अनमेल ग्रन्थों, शिलालेखों और अनुमानोंसे बहुतसे विद्वानोंने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि, महाभारतका युद्ध हुए तीन हजारसे अधिक वर्ष नहीं बीते हैं। श्रीबंकिमचन्द्रजीके मतसे १४३०, श्रीरमेशचन्द्र दत्तके मतसे १२५०, मि० ग्राट्के मतसे १२००, बुकाननके मतसे १३०० और विलसन, कोलब्रुक तथा एलफि-

न्सृनके मतसे १४०० ख्रिस्टपूर्व वर्षमें महाभारतका युद्ध हुआ था। परन्तु ये सब अनुमान भ्रमपूर्ण हैं और ऐसे आधुनिक शिक्षित लोगोंके हैं कि, जिनका विश्वास न दैवी-जगत् पर था और न जिस कालगणनाको सनातनधर्मी नित्यके संकल्पके काममें लाते हैं, उस ओर उन्होंने ध्यान ही दिया था। क्योंकि महाभारतमें ही जब कौरव-पाण्डवोंके युद्धका इतिहास विस्तृतरूपसे लिखा गया है, तब उसके कालनिर्णयमें भी महाभारतका ही प्रमाण सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है। महाभारतके आदि पर्वके द्वितीय अध्यायके १७वें श्लोकमें स्पष्ट लिखा है कि, द्वापर और कलिके सन्धिकालमें कुरुक्षेत्रमें कौरव-पाण्डवोंका युद्ध हुआ था। (१) कलि-युगके आरम्भके समयके सम्बन्धमें भास्कराचार्यने लिखा है कि, शकाब्दके आरम्भमें कलियुगके ३१७९ वर्ष बीत चुके थे। मकरन्दकारका भी यही मत है। (२) वर्तमान

(१)—अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः॥
—महाभारत।

(२)—नन्दाद्रीन्दु गुणास्तथा शकनृपस्यान्ते कलेर्वत्सराः।
—सिद्धान्तशिरोमणि।

शाको नवागेन्दुकृशानुयुक्तः कलेर्भवत्यब्दगणो युगस्य।
—ज्योतिर्मकरन्द।

शकके इसमें १८५६ वर्ष जोड़ देनेसे ५०३५ वर्ष होते हैं। वास्तवमें यही महाभारतके युद्धका और कलिके आरम्भका काल है। गुजरातके चालुक्य वंशीय राजा दूसरे पुल-केशीके एक शिलालेखमें लिखा है कि, कुरुपाण्डवोंका युद्ध हुए ३७३५ वर्ष और शकाब्द ५५६ बीत चुके हैं। (१) युद्धाब्दमेंसे शकाब्द घटानेसे ३१७९ वर्ष होते हैं और उनमें वर्तमान शकाब्द १८५६ मिलानेसे ५०३५ वर्ष हो जाते हैं। अन्ततः कलिकालके निर्णयमें प्रामाणिक शिलालेखोंका भी मतभेद नहीं है।

कुरुपाण्डवोंका युद्ध जिस दिन समाप्त हुआ, उसीके दूसरे दिन युधिष्ठिरको राज्यप्राप्ति हुई थी। अन्ततः उसी दिनसे युधिष्ठिराब्द आरम्भ हुआ है। 'भारतसावित्री' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि, हेमन्तके पहिले मासकी शुक्ला तृतीयाको भरणी नक्षत्रपर महाभारतका युद्ध आरम्भ हुआ था। 'भारतसावित्री' ग्रन्थ कब लिखा गया है, इसका ठीक पता नहीं लगता, परन्तु यह प्राचीन और प्रामाणिक

---

(१)—त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाह वादितः।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु॥
पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥

ग्रन्थ है, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि श्राद्धकालमें 'भारत सावित्री' पढ़ी जाती है और महाभारतके टीकाकार नीलकण्ठने भीष्मपर्वके १७ वें अध्यायके दूसरे श्लोककी टीकामें इसका उल्लेख किया है। उसमें यह भी लिखा है कि, अमावास्याके मध्याह्नमें शल्य मारा गया और उसी दिन सन्ध्यासमयमें दुर्योधन का वध हुआ। (१) हेमन्तके पहिले महीनेका तात्पर्य मार्गशीर्षसे है। वेदाङ्ग ज्योतिषशास्त्रने मार्गशीर्ष और पौषमासको हेमन्तऋतु माना है। हेमन्तका पहिला महीना मार्गशीर्ष होता है। उसी महीनेकी शुक्ला त्रयोदशीसे महाभारतीय युद्ध आरम्भ हुआ और वह १८ दिनोंतक चलकर पौष वदी अमावास्याको समाप्त हुआ। उसके दूसरे दिन अर्थात् पौष सुदी प्रतिपत्को युधिष्ठिरको राज्यलाभ हुआ और उसी दिनसे उसका सम्वत् आरम्भ हुआ। जिस दिनसे युधिष्ठिरका संवत् आरम्भ हुआ, उसी दिनसे कलिका आरम्भ नहीं हुआ था, किन्तु माघ शुक्ला पौर्णिमाको

(१) हेमन्ते प्रथमे मासि शुक्लपक्षे त्रयोदशीम्।
प्रवृत्तं भारतं युद्धं नक्षत्रे यमदैवते॥
अमावास्यान्तु मध्याह्ने निहतः शल्य एव च।
अमावास्यान्तु सन्ध्यायां राजा दुर्योधनो हतः॥
—भारतसावित्री।

अर्थात् युधिष्ठिरका राज्य लाभ होनेके डेढ़ मास पश्चात् हुआ था। विष्णुपुराणमें लिखा है कि, वैशाख शुक्ला तृतीयाको सत्ययुग, कार्तिक शुक्ला नवमीको त्रेतायुग, नभ (श्रावण) मासकी कृष्णा त्रयोदशीको द्वापरयुग और माघ शुक्ला पूर्णिमाको कलियुगका आरम्भ हुआ है और ये चारों युगादिकी तिथियाँ पुराणकारोंने अनन्त पुण्यकारक मानी हैं। (१)

महाभारत-आदिपर्व-११७ अध्यायमें महाभारतके प्रधान नायक पाण्डवोंके जन्ममास, तिथि और जन्मलग्न आदिका विवरण दिया गया है, जिससे उनकी कुण्डली बनायी जा सकती है। पाण्डवोंका जन्म हिमालयके शतशृङ्ग नामक पर्वतशिखरपर हुआ था। वहीं उनका यज्ञोपवीतसंस्कार हो चुका था। जब वे ऋषियोंके द्वारा दुर्योधन आदिके पास हस्तिनापुर लाये गये, तब जटाधारी और ब्रह्मचारीके वेषमें थे, इसका प्रमाण महाभारत—आदिपर्वके ७७ वें श्लोकसे मिलता है। (२) उस समय युधिष्ठिरकी अवस्था १६ वर्ष

(१) वैशाखमासस्य तु या तृतीया नवम्यसौ कार्तिकशुक्लपक्षे।
नभस्य मासस्य तमिस्रपक्षे त्रयोदशी, पञ्चदशी च माघे॥
एता युगाद्याः कथिताः पुराणैरनन्तपुण्यास्तिथयश्चतस्रः।
—विष्णुपुराण।

(२) ऋषिभिश्च तदानीता धार्तराष्ट्रान् प्रति स्वयम्।
शिशवश्चाभिरूपाश्च जटिला ब्रह्मचारिणः॥

की, भीमका १५ वर्ष का, अर्जुनका १४ वर्षकी और नकुल-सहदेवकी १३-१३ वर्षकी थी। महाभारत-आदिपर्व-अध्याय ११७ श्लोक २१ में लिखा है कि, भीम और दुर्योधन एक ही दिन जन्मे थे। (१)

आदिपर्वके उक्त अध्याय और १२० वें अध्यायसे ज्ञात होता है कि, हस्तिनापुरमें दुर्योधन आदिके साथ पाण्डव १३ वर्ष रहे। फिर ६ मास जतुगृह और ६ मास एकचक्रा-पुरीमें रहे। इसी बीचमें घटोत्कचका जन्म हुआ। अनन्तर १ वर्ष द्रुपद राजाके यहाँ रहकर हस्तिनापुरीमें लौट आये और वहाँ ५ वर्ष रहकर उन्होंने २३ वर्ष इन्द्रप्रस्थमें बिताये। फिर द्यूतक्रीड़ा करनेपर १२ वर्ष वनमें और १ वर्ष अज्ञात-वासमें उन्हें बिताना पड़ा। इसके उपरान्त महाभारतका १८ दिन युद्ध हुआ और फिर ३६ वर्ष उन्होंने राज्य किया। महाभारतके युद्धके ६ मास बाद परीक्षितका जन्म हुआ था। उसपर राज्यका भार सौंपकर युधिष्ठिर ६ मासमें स्वर्ग पहुँचे थे और उनके स्वर्ग पहुँचनेके पहिले ही द्रौपदी सहित अन्य पाण्डव हिमालय पर्वतके हिममें गल चुके थे। इस विवरण-

(१) यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्तम!
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे वसुधाधिप!
—महाभारत।

से जाना जा सकता है कि, स्वर्गारोहणके समय युधिष्ठिरकी आयु १०८ वर्ष, ६ मासकी थी। (१) इसी हिसावसे भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेवकी आयु १—१ वर्ष कम समझनी चाहिये। युधिष्ठिरका जन्म कलिपूर्व ७२ वर्ष, ७ मास, २६ दिन ज्येष्ठी पौर्णिमाको १६ घड़ीपर; भीमसेनका ७१ वर्ष, १० मास, २ दिन, चैत्रशुक्ला त्रयोदशीको १६ घड़ीपर; अर्जुनका ७० वर्ष, १० मास, २६ दिन, फाल्गुनी

(१) पाण्डवानामिहायुष्यं श्रृणु कौरवनन्दन।
जगामहास्तिनपुरं षोड़शाब्दो युधिष्ठिरः॥
भीमसेनः पञ्चदशो बीभत्सुर्वै चतुर्दशः।
त्रयोदशोऽब्दौ च यमौ जग्मतुर्नागमाह्वयम्॥
तत्र त्रयोदशाब्दानि धार्तराष्ट्रैः सहोषिताः।
षण्मासान् जातुषगृहान्मुक्ता जातो घटोत्कचः॥
षण्मासानेकचक्रायां वर्षं पाञ्चालके गृहे।
धार्तराष्ट्रैः सहोषित्वा पञ्चवर्षाणि भारत!॥
इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते त्रीणि वर्षाणि विंशतिम्।
द्वादशाब्दानथैकञ्च बभूवुर्द्यूतनिर्जिताः॥
भुक्त्वा षट्त्रिंशतं राजन्! सागरान्तां वसुन्धराम्।
मासैः षड्भिर्महात्मानः सर्वे कृष्णपरायणाः॥
राज्ये परीक्षितं स्थाप्य दिष्टां गतिमवाप्नुवन्।
एवं युधिष्ठिरस्यासीदायुरष्टोत्तरं शतम्॥
—महाभारत।

पौर्णिमाको २१ घड़ीपर और इनके एक वर्ष पश्चात् नकुल-सहदेवका जन्म हुआ था। नकुल-सहदेवके जन्ममास और तिथिका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। केवल इतना ही उल्लेख है कि, वे अर्जुनसे १ वर्ष छोटे थे। इस विवेचनसे स्पष्ट है कि, पाण्डवोंका जन्म द्वापरके अन्तमें हुआ और कल्यब्दके ३६ वर्षोंतक उन्होंने राज्य किया था। महाभारतके ही प्रमाणोंसे यह कालनिर्णय किया गया है। इस कारण इधर उधरके प्रमाणोंसे जो लोग यह अनुमान करते हैं कि, ईसासे हजार डेढ़ हजार वर्षपूर्व महाभारत युद्ध हुआ था, वह भ्रमपूर्ण है, इसमें सन्देह ही क्या रह जाता है?

महाभारतके रचनाकालके सम्बन्धमें भी कुछ लोग ऐसे ही ऊँटपटांग अनुमान करते हैं और यहाँतक कहते हैं कि, महाभारत ग्रन्थ ही व्यासका रचा नहीं है। परन्तु महाभारत आदिपर्व प्रथमाध्यायके ५४ और ५८ वें श्लोकमें स्पष्ट लिखा है कि, सत्यवतीतनय व्यासदेवने तप और ब्रह्मचर्यके प्रभावसे यह पुण्यकारक सनातन वेदस्वरूप इतिहास रचा है और उस महर्षिने यह महाभारत ग्रन्थ सब लोगोंको तब सुनाया है, जब युधिष्ठिरादि पाण्डव वृद्ध होकर परमगतिको प्राप्त हो चुके थे। (१) महाभारत-आदिपर्व-अध्याय ५७

(१) तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम्।

श्लोक ४० में यह भी लिखा है कि, महर्षि कृष्णद्वैपायन प्रतिदिन प्रातःकालमें उठकर स्वस्थ होकर पवित्रतासे महाभारत कहते थे और आदिसे लेकर तीन वर्षोंमें इसे उन्होंने पूर्ण किया था। (१)

परीक्षित ३६ वर्षकी अवस्थामें राज्यासनपर बैठा, उसने २४ वर्षतक राजशासन किया और ६० वें वर्षमें तक्षकके काटनेसे उसकी मृत्यु हुई। इसका प्रमाण महाभारत-आदिपर्व-४४ वें अध्यायके २६ वें श्लोकसे मिलता है। उसमें कहा गया है कि, जिस मुनिके गलेमें परीक्षितने मरा साँप डाल दिया था, उस मुनिको जब परीक्षितने देखा, तब परीक्षित ६० वर्षका बुड्ढा हो गया था और बहुत भूखा तथा थका हुआ था। (२) इसके ७ ही दिन बाद उसकी

इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः ॥
तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम्।
अब्रवीत् भारत लोके मानुषेऽस्मिन्महान्नृपः ॥
—महाभारत।

(१) त्रिभिर्वर्षैर्महाभागः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
नित्योत्थितः शुचिः शक्तो महाभारतमादितः ॥
—महाभारत।

(२) परिश्रान्तो वयस्थश्च षष्ठिवर्षो जरान्वितः।
क्षुधितः स महारण्ये ददर्श मुनिसत्तमम् ॥
—महाभारत।

मृत्यु हुई और उसके बाद जब जनमेजय राजगद्दीपर बैठा, तब वैशम्पायनने उसे महाभारत ग्रन्थ सुनाया। इससे स्पष्ट है, कि ख्रिष्टपूर्व ३०४१ अर्थात् कलिके ६१ वें वर्षमें महाभारतकी रचना हुई है।

महाभारत, वेदान्तदर्शन और पुराणशास्त्रमें बौद्ध संन्यासी, बौद्धमठ, बौद्ध विहार, बौद्धमत आदिका उल्लेख होनेसे कुछ लोग यह समझ बैठे हैं कि, उक्त आर्ष ग्रन्थ गौतमबुद्धके निर्वाणके बाद लिखे गये हैं। परन्तु संस्कृतके प्राचीन ग्रन्थ ललितविस्तरसूत्र, बुद्धचरित, लङ्कावतारसूत्र, अवदानकल्पलता और पाली भाषाके जातक प्रभृति ग्रन्थोंका जिन्होंने अध्ययन किया है, वे समझ सकते हैं कि, ख्रिष्टपूर्व ३१०१ वर्षमें क्रकुच्छन्दबुद्ध, २०९० वर्षमें कनकमुनिबुद्ध १०१४ वर्षमें काश्यपबुद्ध हुए हैं और इसी क्रमसे ख्रिष्टपूर्व ६३३ वर्षमें शाक्यसिंह गौतम सातवें बुद्ध हुए थे। इन सब बुद्धोंसे पहिले और भी १२० बुद्ध हुए हैं, जिनका उल्लेख उक्त ग्रन्थोंमें है। अनेक पुराणोंमें बुद्धमतानुयायी आचार्यों-का उल्लेख है तथा ईश्वरविश्वासहीन बौद्धमतानुयायी प्रजाका भी वर्णन है। दूसरी ओर बौद्ध ग्रन्थोंसे भी पता लगता है कि, बुद्ध अनेक हुए हैं और अतिप्राचीनकालसे बुद्ध होते आये हैं। इन दोनों प्रमाणोंसे स्वतः सिद्ध होता है कि, ईश्वरतत्वको

न समझनेवाला एक बौद्धमत पहिलेसे चला आता है, जिसके आचार्य कलियुगसे पहिलेसे होते आये हैं। इस कारण महाभारतमें उनका उल्लेख है। इसी प्रकार जैनमत भी पुराना है। इन मतोंका उल्लेख होनेसे ही पुराण, दर्शन या महाभारतादि ग्रन्थ आधुनिक नहीं कहे जा सकते। अस्तु, इस मीमांसासे यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि, महाभारतका युद्ध हुए ५०३५ वर्ष बीत गये हैं। तभीसे कलि प्रारम्भ हुआ है और कलिके ६१ से ६४, इन तीन वर्षोंमें महाभारतग्रन्थ लिखा गया है। जो सम्राट् युधिष्ठिरके जीवनका समय है, वही पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके आविर्भावका समय है और वही द्वापर और कलिकी सन्धि है।

वर्तमान समयमें चाहे आध्यात्मिक तत्वानुसन्धानका कार्य हो, चाहे ज्ञानभूमियोंके अनुसन्धानका कार्य हो, चाहे परलोकतत्त्व और चतुर्दशभुवनकी खोजका कार्य हो, चाहे कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्डके रहस्योद्घाटनका कार्य हो, चाहे दैवी चरित्र या मानवी चरित्रके वर्णनका कार्य हो, पुराणशास्त्र ही उनके लिये एकमात्र अवलम्बनीय है। इस समय पुराणशास्त्रमें महाभारतका अधिकार सर्वोपरि माना गया है। इस कारण इसको पञ्चम वेद

भी कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका कालनिर्णय करनेमें भी महाभारत पूर्ण रूपसे अग्रसर है। रामायणमें भगवान् रामचन्द्रके कालनिर्णयके विषयमें स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु जब महाभारतका कालनिर्णय हुआ तब रामायणका भी कालनिर्णय होना आवश्यक है। अतः अनेक अनुसन्धानके बाद देवीभागवतके प्रमाण द्वारा रामायणका कालनिर्णय अच्छी प्रकारसे होता है। देवीभागवतमें जो श्रीरामावतारके विषयमें कालनिर्णय किया गया है। उसके अनुसार श्रीरामावतारका काल—४०३९७०३६ वर्ष पूर्व प्रमाणित होता है। नवीन ऐतिहासिक गवेषणा करनेवाले व्यक्तिगण इस संख्याको देखकर भले ही चकित हों परन्तु कल्प-मन्वन्तर-युगादि भेदसे कालगणना करनेवाले सनातनधर्मी बुधजन और ज्योतिषशास्त्र पर विश्वास करनेवाले विद्वानगण अवश्य ही निःसन्देह होकर रामायणके काल और महाभारतके कालका अन्तर समझ सकेंगे।

वैवस्वत मन्वन्तरके उन्नीसवें महायुगके त्रेतायुगमें परशुरामावतार और उनके बाद रामावतारका होना लिखा है अतः हम त्रेतायुगके १२९६००० वर्षोंके दो भाग करके द्वितीय भागमें रामावतारका होना मान लेते हैं उसके अनुसार—उन्नीसवें महायुगके त्रेतायुगके द्वितीय भागके ६४८०००

वर्ष मानकर रामावतारकी वर्षसंख्या इस प्रकार लगाते हैं ।

उन्नीसवें	महायुगके	त्रेतायुगके अन्तिम	६४८००० वर्ष
"	"	द्वापरयुगके	८६४००० वर्ष
"	"	कलियुगके	४३२००० वर्ष
बीसवें	"	चारों युगोंके	४३२०००० वर्ष
इक्कीसवें	"	"	४३२०००० वर्ष
बाइसवें	"	"	४३२०००० वर्ष
तेइसवें	"	"	४३२०००० वर्ष
चौबीसवें	"	"	४३२०००० वर्ष
पच्चीसवें	"	"	४३२०००० वर्ष
छब्बीसवें	"	"	४३२०००० वर्ष
सत्ताइसवें	"	"	४३२०००० वर्ष
अट्ठाइसवें	"	सत्ययुगके	१७२८००० वर्ष
"	"	त्रेतायुगके	१२९६००० वर्ष
"	"	द्वापरयुगके	८६४००० वर्ष
"	"	कलियुगके गताब्द	५०३६ वर्ष
			४०३९७०३६ वर्ष*

* अवतार वर्णन ।

श्रीदेवीभागवतके चतुर्थ स्कन्धके सोलहवें अध्यायमें लिखा है कि :—

जैसा पहिले कहा गया है, पुराण शास्त्रके अनेक भेद हैं। यथा,—महापुराण, पुराण, उपपुराण, औप-

जनमेजय उवाच।

भृगुशापान्मुनिश्रेष्ठ ! हरेरद्भुत कर्म्मणः।
अवताराः कथं जाताः कस्मिन् मन्वन्तरे विभो ! ॥ १ ॥
विस्तराद्वद धर्म्मज्ञ ! अवतारकथां हरेः।
पापनाशकरीं ब्रह्मन्छृनां सर्व्वसुखावहां ॥ २ ॥

व्यास उवाच।

शृणु राजन् ! प्रवक्ष्यामि अवतारान्हरेर्यथा।
यस्मिन्मन्वन्तरे जाता युगे यस्मिन्नराधिप ! ॥ ३ ॥
येन रूपेण यत्कार्य्यं कृतं नारायणेन वै।
तत्सर्व्वं नृप वक्ष्यामि संक्षेपेण तवाऽधुना ॥ ४ ॥
धर्म्मस्यैवावतारोऽभूच्चाक्षुषे मनुसम्भवे।
नरनारायणौ धर्म्मपुत्रौ ख्यातौ महीतले ॥ ५ ॥
अथ वैवस्वताऽऽख्येऽस्मिन्द्वितीये तु युगे पुनः।
दत्तात्रेयोऽवतारोऽत्रेः पुत्रत्वमगमद्धरिः ॥ ६ ॥
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रस्त्रयोऽमी देवसत्तमाः।
पुत्रत्वमगमद्देवास्तस्यात्रेर्भार्य्यया वृताः ॥ ७ ॥
अनुसूयात्रिपत्नी च सतीनामुत्तमा सती।
यया सम्प्रार्थिता देवाः पुत्रत्वमगमँस्त्रयः ॥ ८ ॥
ब्रह्माऽभूत्सोमरूपस्तु दत्तात्रेयो हरिः स्वयम्।
दुर्व्वासा रुद्ररूपोऽसौ पुत्रत्वं वै प्रपेदिरे ॥ ९ ॥
नृसिंहस्यावतारस्तु देवकार्य्यार्थसिद्धये।

चतुर्थे तु युगे जातो द्विधारूपो मनोहरः ॥ १० ॥
हिरण्यकशिपोः सम्यग्वधाय भगवान् हरिः ।
चक्रे रूपं नारसिंहं देवानां विस्मयप्रदम् ॥ ११ ॥
बलेर्नियमनार्थाय श्रेष्ठे त्रेतायुगे तथा ।
चकार रूपं भगवान्वामनं कश्यपान्मुनेः ॥ १२ ॥
छलयित्वा मखे भूपं राज्यं तस्य जहार ह ।
पाताले स्थापयामास बलिं वामनरूपधृक् ॥ १३ ॥
युगेचैकोनविंशेऽथ त्रेताख्ये भगवान् हरिः ।
जमदग्निसुतो जातो रामो नाम महाबलः ॥ १४ ॥
क्षत्रियान्तकरः श्रीमान् सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
दत्तवान् मेदिनीं कृत्स्नां कश्यपाय महात्मने ॥ १५ ॥
यो वै परशुरामाख्यो हरेरद्भुतकर्मणः ।
अवतारस्तु राजेन्द्र ! कथितः पापनाशनः ॥ १६ ॥
त्रेतायुगे रघोर्वंशे रामो दशरथात्मजः ।
नरनारायणांशौ द्वौ जातौ भुवि महाबलौ ॥ १७ ॥
अष्टाविंशे युगे शस्तौ द्वापरेऽर्जुनशौरिणौ ।
धराभारावतारार्थं जातौ कृष्णार्जुनौ भुवि ॥ १८ ॥
कृतवन्तौ महायुद्धं कुरुक्षेत्रेऽतिदारुणं ।
एवं युगे युगे राजन्नवतारा हरेः किल ॥ १९ ॥
भवन्ति बहवः कामं प्रकृतेरनुरूपतः ।

—श्रीदेवीभागवत ।

विभागोंमें १८।१८ ग्रन्थ हैं; परन्तु इतिहासग्रन्थ इस समय दो ही उपलब्ध हैं; यथाः—रामायण और महाभारत। योगवासिष्ठरामायण, वाल्मीकिरामायणका ही एक अंश है। पुराण और इतिहासमें एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि, पुराणग्रन्थोंमें जो गाथाएँ आती हैं; वे प्रायः कल्प-कल्पान्तरकी दैवी गाथाएँ हैं। इतिहास ग्रन्थोंमें जो गाथाएँ आती हैं, वे प्रायः इस मृत्युलोककी गाथाएँ हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, रामायण भगवदवतार रामके और महाभारत भगवदवतार कृष्णके और उस समयके मृत्युलोकसम्बन्धी चरित्रोंके इतिवृत्तोंसे प्रायः पूर्ण हैं। पुराण और इतिहासके आधुनिक पाठकगण उन दोनों ग्रन्थोंमें समानरूपसे लौकिक इतिहासका पता लगानेका जो प्रयत्न करते हैं, उससे वे भ्रममें पड़ जाते हैं। यदि वे कल्प-कल्पान्तर, मन्वन्तर-मन्वन्तरान्तर, युगयुगान्तरके कालको अपने ध्यानमें रक्खें और कौनसी गाथा देवलोककी है और

एवमेषा महाभागा मर्त्येषूत्पत्स्यते पुनः।
क्षेत्रे हलमुखोत्कृष्टे वेद्यामग्निशिखोपमा॥
एषा वेदवती नाम पूर्वमासीत्कृते युगे।
त्रेतायुगमनुप्राप्य बधार्थं तस्य रक्षसः॥
उत्पन्ना मैथिलकुले जनकस्य महात्मनः।
—वा० रा०, उत्तरकाण्ड, सर्ग १७

कौनसी मनुष्यलोककी है, इसका विचार रक्खें और पौराणिक वर्णनमें अध्यात्मतत्त्वनिर्णयकारी समाधिभाषा, अध्यात्मतत्त्वका लौकिकरीतिसे रूपकमें वर्णनकारी लौकिक भाषा और समाधिभाषा तथा लौकिक भाषाके विषयोंकी पुष्टिके लिये देवलोक और मनुष्यलोककी चरित्रवर्णनकारी परकीयभाषा और साथ ही साथ कौनसा आध्यात्मिक वर्णन है, कौनसा आधिदैविक वर्णन है और कौनसा आधिभौतिक वर्णन है; इन सब रहस्योंको सम्मुख रखकर विचारमें प्रवृत्त हों, तो उनको भ्रममें पड़नेका अवसर ही नहीं मिलेगा। महाभारतका महाग्रन्थ पुराण ग्रन्थ होनेपर भी लौकिक इतिहासग्रन्थ नहीं है। जैसा सत्ययुगके आरम्भमें वेदोंका प्राकट्य होता है, वैसा ही जगत्के कल्याणार्थ इस कलियुगके प्रारम्भमें महाभारतका प्राकट्य हुआ है।

सब पुराणों और सब इतिहासोंमें महाभारतकी प्रधानता मानी गयी है। महाभारतकी ज्ञानगरिमा जैसी सर्वोन्नत है, उसके ऐतिहासिक तत्त्व भी वैसे अतिविचित्र हैं। रामायणमें एक ही प्रबल असुर रावणका वर्णन है, परन्तु महाभारतमें और श्रीकृष्णचरित्रमें अगणित महासुरोंका सम्बन्ध पाया जाता है। महाभारत जिस प्रकारसे पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णकी अतुलनीय जीवनीसे पवित्र है, उसी

प्रकार लोकोत्तरचरित्र चिरकुमार अखण्ड ब्रह्मचारी परम-तपस्वी भीष्म जैसे पुण्यात्मा क्षत्रियपुत्रकी जीवनीसे भी सुशोभित है और क्षत्रिय धर्मपरायण और महावीर ब्राह्मणभूषण द्रोणाचार्यकी अनुपम प्रतिभासे अलंकृत है। वस्तुतः महाभारतके नायक पञ्च पाण्डव थे, जिनकी अलौकिक उत्पत्ति, जिनकी देव और मनुष्यके सहयोगसे विचित्र देहकी प्राप्ति, जिनका लोकोत्तर भ्रातृप्रेम, महाराज युधिष्ठिरका सत्यव्रत और धर्मप्राणता, भीमार्जुनकी अलौकिक वीरता, पाँचों भाइयोंकी सयुक्तपत्नी द्रौपदीकी अलौकिक योगशक्ति, जिससे वह पंचपतिप्राणा होनेपर भी सती कहायी, ये सब विचित्रताएँ अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आतीं, महाभारतसे पूर्व और परवर्ती इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे यह स्पष्ट होता है कि, महाभारतके महायुद्धतक देवलोकके साथ इस मृत्युलोकका घनिष्ठ सम्बन्ध था और पीछे घटता गया। और यह भी सिद्ध होता है कि, सूर्यवंशी राजन्यवर्गके उत्कर्षका समय समाप्त होकर वह चन्द्रवंशी राजाओंके उत्कर्षका समय था। महाभारतका पूर्वापर अनुशीलन करनेपर यही सिद्ध होता है कि, यदि महाभारतका महायुद्ध होकर दाम्भिक आसुरी शक्तियोंका विलय न होता, तो धर्मका तथा वर्णाश्रमशृंखलाका सम्पूर्ण नाश हुए

विना न रहता । यह महाभारतके महायुद्धके पुण्यमय स्वरूपका ही कारण है कि, गीतारूपी ज्ञानका प्राकट्य हुआ था । पुराणशास्त्र तथा महाभारत जैसा इतिहास ग्रन्थामे जो ऐतिहासिक गाथाएँ और वंशवर्णन आता है और वंशके विस्तारका इतिहास आता है, उन सबके समझने और समझानेके लिये पुराण-पाठक और पुराण-वक्ताको पूर्व-कथित समाधिभाषा, परकीयभाषा और लौकिकभाषा तथा आध्यात्मिक वर्णन, आधिदैविक वर्णन और आधिभौतिक वर्णन इन छहों विषयों और सिद्धान्तोंका जैसे प्रतिमुहूर्त विचार रखना चाहिये, उसी प्रकार यह भी अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि, पौराणिक गाथाओं और इतिहासोंमें दैवीसृष्टि और मानुषीसृष्टि इन दोनोंका मिला जुला वर्णन आया करता है । इसका प्रधान कारण यह है कि, वैदिक विज्ञानके अनुसार दैवीजगत् मुख्य है और यह स्थूल मृत्युलोक गौण है । दैवीजगत्के आश्रयसे ही इस मृत्युलोकके सब काम चलते हैं । वस्तुतः सनातनधर्मावलम्बियोंके सब कार्य और सब चिन्ताप्रणालियाँ दैवीजगत्को मुख्य मानकर चलायी जाती हैं । यहाँ तक कि, वर्णाश्रमधर्मी हिन्दु प्रजाका चलना, फिरना, उठना, बैठना, सोचना, समझना, उनकी शारीरिक क्रिया, मानसिक क्रिया और बौद्धिक क्रिया जो

कुछ होती है, वह दैवीजगत्को मुख्य समझकर ही होती है। यही कारण है कि,पृथ्वीकी अन्य शिक्षित जातियाँ सनातनधर्मके आचार-व्यवहार और चिन्ताप्रणालीको ठीक समझ नहीं सकतीं और उनको असम्बद्ध तथा मिथ्या समझा करती-हैं दूसरी ओर पुराणोंकी गाथाओंके समझनेमें बड़ी भारी कठिनता इसलिये रहा करती है कि, इस मृत्युलोकके इस कल्पकी अथवा कल्पान्तरकी गाथा और इतिहास वर्णनके साथ ही साथ वेद और पुराणोंमें मृत्युलोक और देवलोक दोनोंके चरित्रोंका परस्पर सम्बन्धयुक्त -गुम्फित वर्णन आया करता है। इसमें भी आधिभौतिकदृष्टिसम्पन्न जनगण विमोहित हुआ करते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि, त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंकी समाधि-सुलभ ज्ञानदृष्टिके सम्मुख सूक्ष्म दैवीलोक और स्थूल मृत्युलोक दोनों एकसे ही दिखायी दिया करते हैं। जैसे हम अपने घरमें बैठ कर घरके आकाशको और घरके बाहरके आकाशको एक दृष्टिसे देख सकते हैं, वैसे ही वे स्थूल मृत्युलोक और उसके आधार सूक्ष्म दैवीलोकको समदृष्टिसे देखनेमें समर्थ हुआ करते थे।

शंका-समाधान रूपसे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। क्षत्रियोंके सूर्यवंश अथवा चन्द्रवंशका वर्णन जब शास्त्रमें

आवेगा और उसके साथ मिला जुला पृथिवीके इस मृत्यु-लोकके लौकिक राजवंशोंका वर्णन आवेगा, तो समझना चाहिये कि, उस वंशके ऊपरके कुछ लोगोंके नाम देवलोकके राजाओंके हैं और पीछेके नाम मनुष्यलोकके राजाओंके हैं। सूर्यवंशमें सूर्य आदि देवपिण्डधारी हैं और दशरथ आदि मानवपिण्डधारी हैं। उसीके अनुसार ही सृष्टिमें नाना प्रकारकी विचित्रता भी रहेगी। अतः पूर्वकथित छः सिद्धान्तोंके साथ ही साथ इस सिद्धान्तको भी ध्यानमें रखना उचित है। दूसरा रहस्य यह है कि, भूः, भुवः, स्वः इन्हीं त्रिलोकके समष्टिकर्मके तारतम्य और समष्टिजीवोंके प्रारब्धके अनुसार समय समय पर मृत्युलोकके साथ देवलोकका प्रत्यक्षमें कभी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और कभी विच्छिन्न हो जाता है। पुराणों और इतिहासोंके वर्णनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि, द्वापर युगके अन्त तक, यहाँ तक कि, सम्राट् जनमेजय आदिके समयतक सूक्ष्म दैवी राज्यका स्थूल मृत्युलोकके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध कुछ न कुछ बना था। द्वापर और उसके पहिले युगोंमें तो परस्परके विशिष्ट व्यक्तियोंका आना जाना भी हुआ करता था। यद्यपि जड़-वादी स्थूलदर्शी व्यक्तिगण इस प्रकारके दैवी और मानुषी

व्यक्तियोंके परस्पर सम्बन्ध, मानव पिण्ड और दैवपिण्ड-धारी जीवोंकी परस्पर घनिष्ठता, मानवपिण्डधारी जीवोंमें विशेष विशेष कालमें विशेष विशेष दैवी शक्तियोंके आविर्भावकी सम्भावना और स्थूल मृत्युलोकमें कैसे देवतागण आकर कार्य करते हैं, अथवा सूक्ष्मलोकमें कैसे स्थूलदेह-धारी मनुष्यगण पहुँच सकते हैं, इत्यादि रहस्योंको विना शास्त्रज्ञान प्राप्त किये समझ नहीं सकते। परन्तु अन्त-र्दृष्टि सम्पन्न बुधजनका यह स्थिर सिद्धान्त है, जो वेद और शास्त्रसे भी सिद्ध है कि, कालप्रभावसे दैवीजगत् और मनुष्यजगत्का परस्पर सम्बन्ध समय समय पर घट जाता है और समय समय पर बढ़ भी जाता है। त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपने समयमें जैसा अनुभव किया था, वैसा ही उन्होंने नाना पुराणों और इतिहासोंमें सार्वजनिक लोक-शिक्षाके निमित्त दैवीचरित्र और मानुषीचरित्र दोनोंको विना अलग अलग किये एक साथ ही वर्णन किया है।

वैदिक और पौराणिक इतिवृत्तके साथ आधुनिक लौकिक इतिवृत्तकी तुलनात्मक गवेषणा करनेपर और भी अनेक प्रकारकी शंकायें हो सकती हैं यथा—यदि पूज्यपाद महर्षिगण त्रिकालज्ञ और सर्वजनहितकारी थे, तो पुराण और इतिहास ग्रन्थोंमें नाना भाव और नाना भाषाका

प्रयोग उन्होंने क्यों किया जिससे सर्वसाधारण उनको समझ ही न सके ? प्राचीनकालमें मानवपिण्डधारी कोई-कोई व्यक्ति इसी शरीरसे दैवलोकोंमें जाते-आते थे और अब नहीं जा सकते हैं, इसको समझनेकी युक्ति क्या है, जिसमें हम वेदसम्मत पुराणों और इतिहासोंके वर्णनपर विश्वास कर सकें ? देवपिण्डधारी पूर्वजोंसे चलकर मनुष्य पिण्डधारी प्रजातन्तुका विस्तार कैसे होगया ? इत्यादि श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमें दर्शनशास्त्रोंके अनुसार कहा जाता है कि, जैसे इस लोकमें मातृगर्भसे जन्मा हुआ कोई मनुष्य यदि अपने इस जीवनपथमें चलता हुआ अपने अगणित पूर्वजन्मोंके स्त्री पुत्रादि स्वजनोंका वियोग और सुख दुःखका स्मरण करता रहता तो वह पागल ही नहीं बन जाता किन्तु उसका जीवन घोर दुःखमय हो जाता, अतः पूर्वकालकी स्मृतियोंका न रहना भगवान्का अनुग्रह है। उसी प्रकार वेदके भाष्यरूपी पुराण और इतिहास ग्रन्थोंमें यदि पद-पदपर भाषाभेद और भाव-भेदका विश्लेषण किया जाता तो अल्पमति सर्वसाधारणके लिये पुराण शास्त्र बुद्धिभेद करनेवाला ही नहीं होता किन्तु उनके लिये अरुचिकारक भी होता। इस कारण पूज्यपाद महर्षियोंका इतिहास पुराण सम्बन्धी वर्णन अति अनुग्रहकारी है।

जैसे वृद्ध होनेपर युवावस्थाकी क्रियाओंका करना असम्भव हो जाता है, इसी प्रकार वर्तमान युगके शक्तिहीन मनुष्य पूर्वयुगके अलौकिक शक्तियोंके कार्योंको करनेमें असमर्थ हैं। और जैसे युवकगण वृद्धावस्थाकी असमर्थताको समझ नहीं सकते वैसे ही आजकलके मानवपिण्डधारी जीवगण बहिर्दृष्टिसम्पन्न होनेके कारण इस युगमें कैसे दैवीकार्य करनेकी असमर्थता आ जाता है उसको समझ नहीं सकते हैं। यह तो पहले ही कहा गया है कि जिस युगमें देवलोकके साथ मनुष्यलोकका घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान रहता है उस युगमें देवपिण्ड और मानवपिण्डका परस्पर संयोग भी बना रहता है और दोनोंके सम्बन्धसे सृष्टि भी होती रहती है अतः उस उन्नत युगमें यदि दैवी प्रजातन्तुके अनन्तर मिश्र प्रजातन्तुका विस्तार किया करते थे तो यह कोई असंभव बात नहीं है। अतः आस्तिक विद्वानोंके विचारमें सूर्यवंश और चन्द्रवंशके क्षत्रियोंका वंशवर्णन कोई असंभव बात नहीं है।

पुराणोंमें चतुर्विध सृष्टिप्रकरण, खण्डसृष्टि प्रतिसर्ग प्रकरण, जिसमें दैवीसृष्टि आदिका वर्णन हो,—वंशवर्णन, जिसमें देवलोकके देववंश तथा मृत्युलोकके ऋषिवंश और राजवंश, अर्थात् पुण्यशाली ब्राह्मण और क्षत्रिय वंशोंका वर्णन हो,—कालवर्णन अर्थात् मन्वन्तर, कल्प आदिका

वर्णन हो,—जिसमें सृष्टि-शृंखला और सभ्यताके विभागोंका हाल पाया जाय,—और ऋषि और राजाओंके वंशोंकी सन्तति अर्थात् प्रजातन्तुका वर्णन हो, ये ही पाँचों पुराणोंके लक्षण पाये जाते हैं। प्रत्येक पुराण, महा-पुराण, उपपुराण, और औपपुराणमें इन पाँचोंका थोड़ा बहुत समावेश होना अवश्यसम्भावी है। भेद इतना ही है कि, किसी पुराणमें इन पाँचोंमेंसे किसीका वर्णन अधिक आता है और किसीका कम आता है। दूसरा भेद यह है कि, किसी किसी पुराणमें इन पाँचोंमेंसे किसी विषयका वर्णन बहुत अधिक आता है और उसीकी उसमें प्रधानता रहती है; जैसी कि, मार्कण्डेयपुराणमें मन्वन्तरोंके वर्णनकी प्रधानता है। तीसरा भेद पुराण और इतिहासका यह है कि, जिसमें मृत्युलोकका लौकिक इतिहास अधिक हो, उसको इतिहास कहते हैं और जिसमें मृत्युलोक और देवलोक दोनोंका सम-समान वर्णन हो, उसे पुराण कहते हैं। जैसा पहिले कह चुके हैं। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, महाभारतमें कौरव-पाण्डव तथा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आदिका लौकिक इतिहास अधिक होनेसे और रामायणमें भगवान् श्रीरामचन्द्रका इतिहास अधिक होनेसे दोनोंही इतिहास कहाते हैं। दूसरी ओर श्रीदेवीभागवत, श्रीविष्णुभागवत,

श्रीमार्कण्डेयपुराण आदिमें सबकी समानता रहनेसे अथवा इनमें लौकिक इतिहासोंका आधिक्य न होनेसे ये सब पुराण कहाये हैं। चतुर्विध सृष्टिप्रकरण, जिसका वर्णन पहिले आ चुका है, यथाः—प्राकृतसृष्टि, ब्राह्मीसृष्टि, मानस-सृष्टि और बैजीसृष्टि, इनका भी वर्णन मिला जुला पुराणोंमें आता है। परन्तु किसी किसी पुराणमें इन चारोंमेंसे किसी किसीको विशेषता दी गयी है। दूसरी ओर सृष्टिप्रकरणके विषयमें किसी पुराणमें मन्वन्तर आदिके विचारसे सृष्टिलीलाका विस्तृत वर्णन अधिक किया गया है। किसीमें दैवीसृष्टि अथवा मानुषीसृष्टिका विस्तार अधिक किया गया है। इसी प्रकार सर्ग और प्रतिसर्गके वर्णनमें पुराणोंमें कहीं कहीं मतभेदसा प्रतीत होता है और किसी किसीमें एक विषयका आधिक्य और और अन्य विषयोंका स्वल्पत्व पाया जाता है। यही कारण है कि, सब पुराणोंका अध्ययन किये बिना अथवा अधिक संख्यक पुराणोंका अध्ययन किये बिना न पुराणोंका आध्यात्मिक रहस्य समझमें आता है और न उसके समझनेकी शृंखलाही ठीक ठीक बैठती है।

वंशवर्णन और वंशानुचरित वर्णनके विषयमें भी बहुत कुछ समझने योग्य है। प्रायः इतिहासोंमें लौकिक-

वंशका वर्णन अधिक आता है। और अन्य पुराणोंमें दैवीवंशका वर्णन अधिक आता है। दूसरी ओर जैसा कि, हम पहिले कह चुके हैं, त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंकी योगदृष्टिके सम्मुख मठाकाश और महाकाशके समान स्थूल मृत्युलोक और सूक्ष्मदैवीलोक समान दृष्टिसे ही देखे जाते हैं। उन दोनोंके देखनेमें कोई बाधा नहीं होती। इस कारण वंश वर्णनमें दैवीसृष्टि और लौकिकसृष्टि, दैवीवंश और लौकिकवंश दोनोंका मिलाजुला वर्णन आता है। उदाहरण रूपसे समझ सकते हैं कि, सूर्यवंशमें सूर्य आदिसे जो उत्पत्ति मानी गयी है, वह दैवी-वर्णन और जो दशरथ आदिसे उत्पत्ति मानी गयी है, वह लौकिक वर्णन समझना उचित है। जैसा पहिले सिद्ध किया गया है। इस प्रकारसे दैवी और मानुषी वंशपरम्पराकी शृंखला मिला लेनेसे और मिलाकर समझनेसे पुराण और इतिहासके पाठकोंको भ्रममें नहीं पड़ना पड़ेगा और इस रहस्यको अच्छी तरह समझनेसे ही इस मृत्युलोकके लौकिक ऐतिहासिक लोग और आधुनिक रिसर्चर अर्थात् अनुसन्धानप्रिय लोग विपथगामी नहीं हो सकेंगे। वंशवर्णन और वंशानुचरित वर्णन दोनों वर्णनोंके समझनेमें पुराण पाठकोंको यह स्थिररूपसे ध्यानमें रखने योग्य है कि, पुराण लिखते

समय पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी योगयुक्त समाधिदृष्टि द्वारा अनेक मन्वन्तर अथवा अनेक कल्पोंके पूर्वकी गाथाएँ प्राप्त की हैं। पुराण लिखते समय अर्थात् पुराण लिखनेकी अवस्थामें वे जब अपनी योगयुक्त स्वरूप अवस्थासे व्युत्थान अवस्थाको प्राप्त होते थे, तो उस सविकल्प समाधिकी विचारानुगत अवस्थामें कल्पकल्पान्तरके उपयोगी वंशानुचरित गाथारूपसे उनके अन्तःकरणपटलमें उपस्थित हुआ करते थे। अतः ये सब गाथाएँ न कल्पनाप्रसूत हैं और न लौकिक रीतिसे प्राप्त की गयी हैं। मन्वन्तर और कल्प आदिकी वर्ष संख्या पहिले कही गयी है। पृथ्वीके सब लौकिक इतिहासोंको खोजनेपर यही पाया जाता है कि, बौद्धयुगसे पहिलेका लौकिक इतिहास नहीं प्राप्त होता। पूज्यपाद महर्षियों द्वारा प्रणीत इतिहास और पुराणोंमें श्रीरामचरित अथवा श्रीकृष्णचरितके समकालीन लौकिक इतिहासकी जो छाया कहीं कहीं देख पड़ती है अथवा अन्य पुराणोंमें जो लौकिक इतिहासकी गाथाएँ प्राप्त होती हैं, वे प्रथम तो आधुनिक इतिहासकी तरह शृंखलाबद्ध नहीं हैं और उनमें मानवपिण्डके चरित्र और देवपिण्डके चरित्र परस्पर गुम्फित पाये जाते हैं। उनमें कालनिर्णयका कोई विचार ही नहीं रक्खा गया है और वे सब चरित्र लौकिक

इतिहासकी उद्देश्यसिद्धिके लिये वर्णित न होकर केवल शास्त्रोक्त समाधिभाषा और शास्त्रोक्त धर्मसिद्धान्त तथा धार्मिक चरित्रगठनके विचारसे ही वर्णित हैं। इस कारण महाभारतके महायुद्धके पूर्वका लौकिक इतिहास प्राप्त करनेका जो प्रयास है, वह आकाशकुसुम खोजनेके समान है।

भारतद्वीपके शास्त्रोंका जिन्होंने अच्छी तरह अनुशीलन किया है, उनका स्थिर सिद्धान्त यह है कि, जब तक इस मृत्युलोकरूपी भारतवर्षसे दैवीलोकका सम्बन्ध घनिष्ठ बना था और जब तक पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंका आविर्भाव इस भारत द्वीपमें स्थायी था, उस समयके लौकिक इतिहासका अनुसन्धान करना वृथा है। महाभारतके महायुद्धके समकालीन और भगवान् श्रीकृष्णके पवित्र चरित्रके समकालीन काल सम्बन्धीय कुछ प्रमाण ऊपर दिये गये हैं। उस समय भारतसम्राट्की जो राजधानी थी, जिसे इन्द्रप्रस्थ कहते थे और अब दिल्ली कहते हैं, वही पृथ्वीकी राजधानी थी और जो भारतद्वीपके सम्राट् थे, वे ही भारतवर्षरूपी पृथ्वीके सम्राट् थे। क्योंकि उस समय सारे पृथ्वीभरमें भारतद्वीपकी ही सभ्यता शासन करती थी। इस ऐतिहासिक सिद्धान्तके द्वारा भारतवर्षमें भारतद्वीपका गौरव और भारत-

द्वीपवासियोंके जगद्गुरुत्वका गौरव और उनके जगत्शासनके महत्त्वका गौरव सिद्ध होता है।

सम्पूर्ण वेदों और वेद सम्मत शास्त्रोंसे यही सिद्ध होता है कि, भारत द्वीपके प्राचीन साहित्यमें दैवीसम्बन्ध और लौकिक सम्बन्ध, दैवीशृंखला और लौकिकशृंखलाका सम्बन्ध दैवीसभ्यता और मानवीसभ्यताका परस्पर सम्बन्ध गुम्फित है। इसका प्रधान कारण यह है कि, महाभारतके महायुद्धके समय तक चतुर्दशभुवनके साथ भारतवर्षका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध न होनेपर भी भूः, भुवः, स्वः रूपी त्रिलोकके साथ अवश्य ही घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता था। कालभेदसे उसमें तारतम्य होनेपर भी उस घनिष्ठताका स्पष्ट प्रमाण वेद और वेदसम्मत सब शास्त्रोंमें मिलता है। इस कारण दैवीराजा, दैवीराजधानी और दैवीकालका कुछ ज्ञान महाभारतके पूर्वके इतिहासके साथ अवश्य होना उचित है। देवराज इन्द्रकी राजधानी सदा स्वर्लोक अर्थात तृतीय देवलोकमें, कालराज मनुकी राजधानी प्रधानतः भुवः रूपी द्वितीय लोकमें और धर्मराज यमराजकी राजधानी प्रथमदेवलोकरूपी भूलोकके पितृलोकमें स्थापित है। धर्माधर्म और पुण्यापुण्यके फलदाता भगवान् यम धर्मराज हैं। कालको शृङ्खलाबद्ध करने और सभ्यताका विधान करने आदिका अधिकार भगवान् मनुका

है । सब पदधारी देवताओंको अधीन रखकर उनसे यथाधिकार कार्य करानेका अधिकार भगवान् इन्द्रपर न्यस्त है । भगवान् मनु कालके नियामक होनेसे उनके काल और पदपरिवर्तनका वर्णन पुराणोंमें विशेष रूपसे पाया जाता है ।

पूज्यपाद महर्षियोंके द्वारा निर्मित पुराणों और इतिहासोंमें वंशानुचरितका जो वर्णन है, वह केवल राजाओंका है । उसमें दैवीलोकके राजा और मनुष्यलोकके राजा दोनों ही सम्मिलित हैं । क्योंकि उस समय सूक्ष्म देवलोकके साथ स्थूल मृत्युलोकका घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान था । यह सम्बन्ध कैसे स्थायी हो सकता है, यह वर्तमानकालके केवल स्थूलदर्शी बुधजनकी समझमें नहीं आ सकता । योगयुक्त मनीषिगण ही इसे समझ सकते हैं । उस समयके वंशानुक्रमके मुख्यतः दो भेद पाये जाते हैं । एक सूर्यवंश और दूसरा चन्द्रवंश । सूर्यवंशके आदिपुरुष सूर्यलोकस्थित सूर्यदेवता माने गये हैं । और चन्द्रवंशके आदिपुरुष चन्द्रलोकस्थित चन्द्रदेवता माने गये हैं । कुछ दूरतक उनकी सन्तति दैवी थी और अनन्तर मानुषी हो गयी, जिसका परम्परागत वर्णन पुराणों और इतिहासोंमें बहुधा मिलता है । उन दोनोंमेंसे सूर्यवंशकी शोभा रामायणमें और चन्द्रवंशकी शोभा महाभारतमें विशेषतया

प्रतिफलित है। इस कारण महाभारतके महायुद्धसे पूर्वके राजाओंकी नामावली और कमसे कम पहिले तीन युगोंकी नामावलीकी खोज करना वृथा प्रयास करना है।

जब यह सिद्ध है कि, शृङ्खलाबद्ध वंशवर्णन पुराणमें और इतिहासोंमें नहीं पाया जाता, तब दैवी शृङ्खलाकी प्रधानताके कारण प्रधान देवपदधारियोंकी शृङ्खलाबद्ध नामावलीका कुछ उल्लेख कर देना उचित है। इसी विचारसे दैवी-शृङ्खलाके चालक देवराज इन्द्र और सभ्यता तथा कालके नियामक कालराज मनुके इस कल्पकी नामावाली प्रकाशित की जाती है। क्योंकि इन्हीं दो श्रेणियोंके राजाओंका प्राधान्य त्रिलोकपर नियमपूर्वक बना रहता है। एक कल्प कितने मनुष्यवर्षोंका होता है, उसकी संख्या पहिले प्रकाशित हो चुकी है। एक कल्पमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। उन्हीं चौदह मन्वन्तरोंके कालराज मनुओंकी नामावली नीचे दी जाती है। १ स्वायम्भुव मनु, २ स्वारोचिष मनु, ३ उत्तम मनु, ४ तामस मनु, ५ रैवत मनु, ६ चाक्षुष मनु, ७ वैवस्वत-मनु, ८ सूर्यसावर्णि मनु, ९ ब्रह्मसावर्णि मनु, १० धर्मसावर्णि-मनु, ११ रुद्रसावर्णि मनु, १२ दक्षसावर्णि मनु, १३ रौच्य-मनु और १४ भौत्य मनु। प्रत्येक कल्पमें सृष्टि नवीन होती है। उस समय चाहे कालराज मनु हों, चाहे देवराज

इन्द्र हों, वे सब स्वायम्भुव होते हैं अर्थात् ब्रह्माजीके द्वारा उत्पन्न होते हैं। इस कारण प्रथम देवराजका नाम इन्द्र ही होना सम्भव है। २—विपश्चित इन्द्र, ३—सुशान्ति इन्द्र ४—शिवि इन्द्र, ५—विभु इन्द्र, ६—मनोजव इन्द्र, ७—ऊर्जस्वी इन्द्र, ८—बलि इन्द्र, ९—अद्भुत इन्द्र, १०—शान्ति इन्द्र, ११—वृष इन्द्र, १२—ऋतुधामा इन्द्र, १३—दिवस्पति इन्द्र और १४—शुचि इन्द्र।

वर्तमान मन्वन्तरका नाम वैवस्वत मन्वन्तर है। इस मन्वन्तरके कालराज वैवस्वत हैं और इस मन्वन्तरके देवराज ऊर्जस्वी हैं। यह सातवाँ मन्वन्तर है। इसके अनन्तर सात मन्वन्तर अभी होने बाकी हैं। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने दैवीजगत्से खोज लगाकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालके दैवीजगत्के राजाओंके नाम पुराणशास्त्रमें प्रकाशित किये हैं। प्रत्येक कलियुगमें मानवपिण्डकी शक्ति, मानवपिण्डकी धारणा और मानवपिण्डकी ज्ञानगरिमा बहुत ही लघु हो जाती है। उनकी घनिष्ठता दैवी जगत्से शिथिल हो जानेसे वे अपने मृत्युलोकको ही सब कुछ समझने लगते हैं। इस कारण दैवी शासनको भूलकर वे मानवी शासनको ही यथेष्ट मानने लगते हैं और मनुष्यलोकके राजाओंके चरित्रों और इतिहासोंसे ही तृप्त रहते हैं। परन्तु

कलियुगसे पूर्व अन्य तीन युगोंमें मृत्युलोक और देवलोकका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकाश्य रूपसे बना रहनेके कारण और उस समयके मानवपिण्डधारी जीवोंकी शक्ति और उनके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अधिकार अपेक्षाकृत उन्नत रहनेके कारण वे दैवीशासनको ही मुख्य समझते थे। इस कारण कलियुगसे पूर्व कालमें अर्थात् महाभारतके महायुद्धके पहिलेके समयमें देवपदधारी राजन्यवर्गकी ही महिमा और उनके चरित्रोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। यह सब विषय महाभारतसे सिद्ध है। इसी कारण महाभारतकी महिमा सर्वोपरि है।

जल्प और वितण्डाको छोड़कर वादसे सत्यका अनुसन्धान करनेवाले पण्डितगण यदि जिज्ञासायुक्त होकर पुराण और महाभारतादि शास्त्रोंकी ऐतिहासिक रचनाप्रणालीके साथ वर्तमान लौकिक इतिहासकी रचनाप्रणालीकी तुलनात्मक गवेषणा करेंगे, तो अवश्य ही निश्चय कर सकेंगे कि, प्राचीन ऐतिहासिक चरित्रवर्णनसे कितना रचनात्मक और सब कालमें समानरूपसे स्थायी फल प्राप्त हो सकता है। बुधजन यदि विचारयुक्त होकर इस ग्रन्थकी विचारप्रणालीकी सहयोगितासे सनातनधर्मके पुराण और इतिहास शास्त्रका परिशीलन करेंगे, तो उनके सब प्रकारके सन्देह

दूर होकर महाभारतका महत्त्व उनके हृदयोंमें प्रतिफलित हो सकेगा। यदि ज्ञानवान् सज्जन ज्ञानयुक्त होकर भारतद्वीपके महाभारतके महायुद्धके पूर्वके इतिहासपर विचार करेंगे, तो इसी सिद्धांतपर पहुँचेंगे कि, भारतद्वीप ही वर्तमान जगत्का आदिगुरु रहा आया है। श्रद्धालु सज्जन यदि श्रद्धायुक्त होकर इस इतिवृत्तके बताये हुए मार्गपर सनातनधर्मके शास्त्रोंका अनुशीलन करेंगे, तो त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंके महत्त्वके समझनेमें उन्हें विलम्ब नहीं लगेगा। यदि नवीन और प्राचीन इतिहासके अध्ययन करनेवाले निरपेक्ष विद्वानगण दूरदर्शिताके साथ सोचेंगे तो वे अवश्यही प्राचीन ऋषिप्रणीत इतिहासोंके रचनात्मक और स्थायी फलका अनुभव कर सकेंगे। यदि मनीषिगण योगयुक्त होकर इस ग्रन्थकी प्रदर्शित प्रणालीके अनुसार देश और कालका विचार करेंगे, तो दोनोंके अनाद्यनन्तत्व और महान् विस्तारका अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। यदि योगिजन समाधिभूमिमें पहुँचकर समाहित चित्तसे विचार करेंगे, तो समाधिजनित ऋतम्भरा द्वारा कैसे पूज्यपाद महर्षिगण पुराण और इतिहासशास्त्रकी रचना कर सकते थे, यह जान सकेंगे और भक्तियुक्त भक्तगण देश और कालके अनादित्वको विचारमें रखकर ब्रह्मशक्तिके महाकाली रूपको ध्यान करते करते आनन्दाश्रुपूर्ण होकर गावेंगे :—

(गीत)

(१)

विरचे ब्रह्माण्ड कितेक करोड़
रचो सचराचर विश्व-पिटारो।
सिरजे हरि ईश विरञ्चि घने
भवमें भटकाइ समेटत सारो॥
जननी! कर जोरि चिरौरि करों
कलि कण्टक काटिके सङ्कट टारो।
प्रणमामि शिवे! शरणागत हौं
करुणामयि कालिके! क्लेश निवारो॥

(२)

छिति छुद्रसे छिद्रकी ज्यों रवि-रेखमें
तैरतसे त्रिसरेणु दिखावें।
नहिं जात गने, महाकाशमें त्यों
ब्रह्माण्ड अनन्त भरे मँड़रावें॥
महाकाल लखें वश है तुमरे
तिनके उर ऊपर रूप तिहारो।
प्रणमामि शिवे! शरणागत हौं
करुणामयि कालिके! क्लेश निवारो॥

(३)

प्रसवौ महाकालको हे जगदम्ब !
नहीं कोउ कौतुक सो कहि पावै ।
पुनि धारत देशको रूप हो आपु
न ओर न छोर कहूँ लखि आवै ॥
प्रकटाइके लीला-विलासके साज
सजाइके विश्वप्रपञ्च पसारो ।
प्रणमामि शिवे ! शरणागत हौं
करुणामयि कालिके ! क्लेश निवारो ॥

(४)

डरपावन दानव-मुण्ड गह्यो कर
खड्गसों क्रूर कुचालिन मारो ।
वर देत तृतीयसों देवनको
अभयङ्कर हाथ चतुर्थ तुम्हारो ॥
यहि भाँति सुजानको त्रान करो
खल-मण्डल मोह-पगेको पछारो ।
प्रणमामि शिवे ! शरणागत हौं
करुणामयि कालिके ! क्लेश निवारो ॥

(५)

दिन मास महायुग चौयुग हूँ
मन्वन्तर वत्सर कल्प अनेक हैं।
वहु भाँतिके फूल सुगन्धित सो
सव अङ्ग सिंगार सजे मनु नेक हैं॥
वहलावति हो निज भक्तनको
तिन मानस-मन्दिर माहिं विहारो।
प्रणमामि शिवे! शरणागत हौं
करुणामयि कालिके! क्लेश निवारो॥

(६)

कवहूँ सगुणा गुणहूसे परे
कवहूँ अवलम्ब अलम्ब दशा है।
चिच्छक्ति समाय रही चहुँधा
पहिरे परिधान दिशा-विदिशा है॥
वर ब्रह्ममें खेलति ब्रह्ममयी
तुम ब्रह्म-स्वरूपिणी ब्रह्म-सहारो।
प्रणमामि शिवे! शरणागत हौं
करुणामयि कालिके! क्लेश निवारो॥

(७)

महाकाली कराली रमा परमा
वर बानी भवानी ! तिहारे स्वरूप हैं ।
कबहूँ शिवदूती कहावती अम्बिका
चण्डी चामुण्डाके रूप अनूप हैं ॥
बनि विद्या बतावती मुक्तिको मारग
जीवन देवन लेति सम्हारो ।
प्रणमामि शिवे ! शरणागत हौं
करुणामयि कालिके ! क्लेश निवारो ॥

(८)

सब शक्तिमयी निज भक्तन हेतु
धरो बहुरूप अरूप विचारो ।
कल्याणमयी अपनाइके साधत
साधकके पुरुषारथ चारों ॥
रचि पालत नासत विश्व सबै
अब डूबत भारतभूमि उबारो ।
प्रणमामि शिवे ! शरणागत हौं
करुणामयि कालिके ! क्लेश निवारो ॥

———

श्रीभारतधर्ममहामण्डलका धार्मिक प्रकाशन

सनातनधर्मका विश्वकोष

धर्मकल्पद्रुम

श्री स्वामी दयानन्द विरचित ।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दूजातिकी पुनरुन्नतिकेलिये जिन-जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रंथकी थी कि, जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्गउपाङ्गोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेद और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानों का यथा-क्रम स्वरूप जिज्ञासुको भली-भाँति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेकेलिए भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्री-भारतधर्ममहामण्डलस्थ उपदेशकमहाविद्यालयके प्रधानाचार्य श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये गये हैं। इस ग्रन्थमें आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रन्थों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर याथार्थरूपसे सनातन वैदिकधर्म-का प्रचार होगा। इस ग्रंथरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेश-मात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें, इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दूशास्त्रके सभी

विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थविद्या (Scicnce) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। यह आठ खण्डों में सम्पूर्ण हुआ है।

प्रथम खण्ड—इसमें सनातनधर्मका स्वरूप सनातनधर्मका सर्वधर्म पितृत्व, दानधर्म महिमा और उसके भेद, तपके लक्षण तथा उसके त्रिविधभेद कर्मकी महिमा, नित्य नैमित्तिक, काम्यकर्मके स्वरूप, उसके भेद, उपासनाका लक्षण व स्वरूप, निर्गुण सगुणब्रह्मके स्वरूप, व उपासना, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग राजयोगोक्त क्रियानुसार उपासनामार्गमें क्रमोन्नति, ज्ञानका स्वरूप और महिमा, दार्शनिक सप्तज्ञानभूमि, व अज्ञान भूमिका वर्णन, यज्ञ महायज्ञके विज्ञान उसके त्रिविधभेद वर्णन, वेदोंका स्वरूप व आविर्भाव, मन्त्र, ब्राह्मण, व आरण्यक भेदसे वेदचतुष्टयका विभाग व शाखानिर्णय, दर्शनशास्त्र, प्राच्य, प्रतीच्यदर्शन समीक्षा, उनके रहस्यवर्णन, स्मृतियोंका आवश्यकता व संख्यावर्णन, पुराणोंके लक्षण, भेद तथा संख्यानिर्णय, और सन्देहोंका निराकरण, तन्त्रोंका विराट् स्वरूपवर्णन तान्त्रिकसाधन, उपवेदवर्णन, ऋषियोंके श्रेणिभेद मन्वन्तरानुसार संख्यानिर्णय आदि, विषय वर्णित हैं। मूल्य २)

द्वितीय खण्ड—साधारणधर्म और विशेषधर्म, असाधारण धर्मके भेद व रहस्यवर्णन, वर्णधर्मके साथ त्रिगुणमयी प्रकृतिका मौलिक सम्बन्ध निर्णय, प्रकृतिचार वर्णकी व्यवस्था, वर्णव्यवस्थाके न रहनेसे क्या हानि या लाभ है, आश्रम-धर्मका उद्देश्यवर्णन, ब्रह्मचर्य महिमा, गार्हस्थ्य धर्मानुसार कर्तव्यनिर्णय वानप्रस्थ धर्मनिर्णय, संन्यासधर्म वर्णन, नारीधर्म, नारीधर्म-

विज्ञान तथा पुरुषधर्मसे उनकी विशेषताकथन, विवाहकालनिर्णय, गृहिणीधर्म व पातिव्रत्यमहिमा, आदि विषयोंका शास्त्रोंके प्रमाण एवं आधुनिक विज्ञानके साथ प्रतिपादन किया गया है। मूल्य १॥)

तृतीय खण्ड—इस खण्डमें आर्यजातिका लक्षण, आर्यजातिका आदिनिवासस्थाननिर्णय, 'हिन्दु' शब्दपर विचार सामाजिक जीवनकी चिरस्थितिका कारण निर्देश, हिन्दुसमाजकी वर्तमान दुर्दशाका चित्रप्रदर्शन, योग्यनेताके लक्षण और आविर्भावका उपायनिर्धारण, राजा और प्रजा धर्म, राज्यशासनप्रणालीके चार भेद और उसका परिणाम निर्णय, प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मका स्वरूप तथा एक लक्ष्यताका निर्णय, आपद्धर्मका लक्षण तथा भावके साथ इसका विशेष सम्बन्ध वर्णन, आपद्धर्मके साथ देश और कालका सम्बन्ध वर्णन, देशकाल और पात्र भेदानुसार आपद्धर्मका पालन, भक्तिका त्रिविध आर्यशास्त्रोक्त लक्षण वर्णन, भक्तिकी परम महिमाका वर्णन, भक्तिके त्रिविधभेद वर्णन, मन्त्रयोगका लक्षण, भावके साथ नाम और रूपका सम्बन्धनिर्णय, प्रतिमापूजनकी आवश्यकताका वर्णन भावानुसार सगुण पञ्चोपासनाका अपूर्व रहस्यवर्णन, सगुणोपासनाका फलनिर्णय, मूर्तिपूजापर अर्वाचीन पुरुषोंके कटाक्षका निराकरण, मन्त्रशक्ति, मन्त्रमहिमा और मन्त्रोंसे सिद्धिप्राप्तिका कारण और उपायवर्णन, नामोपासनाका फल निर्णय, मन्त्रयोगके षोडशांगोंका संक्षिप्तवर्णन, आदि विषयोंपर भलीभाँति प्रकाश डाला गया है। मूल्य २)

चतुर्थ खण्ड—इस खण्डमें अष्टाङ्ग योगके विषयमें श्रुति-स्मृति आदियोंकी प्रामाणिकता, हठयोगका लक्षण तथा मन्त्रयोगसे विशेषतावर्णन, हठयोगके सप्तांगोंका पृथक् पृथक् वर्णन, लययोग-

का लक्षण, लययोगाङ्गनिर्णय, लययोगके नवाङ्गका पृथक् पृथक् वर्णन, राजयोगका लक्षण और साधनक्रमनिर्णय, राजयोगके सिद्धान्तानुसार यौगिक अष्टाङ्गोंका साधनविधिवर्णन, सप्तज्ञान-भूमियोंके अनुसार सप्ताङ्गका वर्णन, मुक्तिपथमें गुरुका प्रयोजन तथा गुरुशब्दका व्युत्पत्तिनिर्णय, गुरुके साथ ईश्वरका कार्य-कारणसम्बन्ध निर्णय, गुरुदेवमहिमावर्णन, गुरुसेवाफल वर्णन, गुरुसेवाकी विधियोंका वर्णन गुरुशिष्यलक्षणवर्णन, दीक्षाविधि, वैराग्यके लक्षण तथा भेदन वर्णन, वैराग्योत्पत्तिका कारण वर्णन, गर्भवास और प्रसवकालीन दुःखवर्णन, आत्मज्ञान-प्रशंसा वर्णन, देहात्मवाद निराकरण, इन्द्रियात्मवाद निराकरण, प्राणात्मवाद निराकरण, परमात्माका सत्, चित् और आनन्द स्वरूपनिर्णय, आस्तिक सप्तदर्शनोंकी ज्ञानभूमियोंके अनुसार ईश्वर-सत्ताका प्रतिपादन, जीवतत्त्व, जीवके स्वरूप विषयमें अवच्छिन्न-वादका सिद्धान्त निर्णय, आदिका वर्णन है। मूल्य २)

पञ्चम खण्ड— इसमें प्राण और पीठतत्त्व, सृष्टिस्थिति प्रलयतत्त्व, ऋषि-देवता और पितृतत्त्व, अवतारतत्त्व, अवतारोंका विस्तृत वर्णन, मत्स्य कूर्मवाराह नृसिंह-वामन परशुरामादि तथा श्रीरामचन्द्रके आदर्शचरित्रकी विस्तृत समालोचना तथा उनके चरित्रके विषयमें अर्वाचीनजनोंकी विविधशंकाओंका समाधान, दशावतारोंके विषयमें वेदादिशास्त्रोंका प्रमाणनिरूपण, ऋषि और देवताओंका अवतारवर्णन, अवतारतत्त्वमें सिंहावलोकन आदि विषय सुन्दर रीतिसे वर्णित हैं। मूल्य २) दो रुपया।

षष्ठ खण्ड—इसमें महामायाका अधिदैवरहस्य तथा उनकी परा और अपरा शक्तिका पौराणिक भाषानुसार वर्णन ब्रह्मशक्ति महामायाकी चार अवस्थाओंका वर्णन, बन्धमोक्ष-

दायिनी अविद्या और विद्याभावका वर्णन, महामायाके त्रिविध-भावानुसार सृष्टि-स्थिति प्रलय लीलारहस्य, त्रिगुणमयी प्रकृतिका लक्षणवर्णन, जड़ चेतनात्मक जगत्के प्रत्येक पदार्थ तथा गुणानुसार जीवगतिविवेचन, त्रिभावतत्त्व, कर्मतत्त्व, मुक्ति-तत्त्वका विवेचन, पुरुषार्थ चतुष्टयके साथ वर्णचतुष्टयका स्वाभाविक सम्बन्ध निर्णय, सनातनधर्मके चारपादोंका वर्णन तथा द्वितीयपाद रूपी विशेष धर्मके अन्तर्गत वर्णाश्रमधर्मके साथ जातीय वीजरक्षाका सम्बन्ध निर्णय, चतुर्विध पुरुषार्थका लक्ष्य निर्णय, दर्शनोंकी महिमा तथा स्वाभाविक सप्तभेदवर्णन, सनातन-धर्मका सार्वभौमस्वरूप वर्णन, धर्म सम्प्रदाय धर्म पन्थ और मतोंके पृथक् पृथक् लक्षण वर्णन, धर्मपन्थका लक्षण तथा उत्पत्तिका कारणनिर्णय, रामानन्दी पन्थका संक्षिप्त इतिहास, कबीर, दादू, रामसनेही, गोरख नानक, रामदासी, स्वामीनारायण तथा दशनामी पन्थका संक्षिप्त इतिहासका वर्णन किया गया है। यह खण्ड यन्त्रस्थ है।

सप्तमखण्ड—इस खण्डमें लोकरहस्य वर्णन, सप्तद्वीप तथा वर्ष वर्णन, चतुर्दशभुवन वर्णन, सप्त अधोलोक वर्णन, चतुर्दश लोकोंका उत्पत्ति-विनाश कथन, परलोकपर विश्वासकी नैसर्गिकता कथन, परलोकके विषयमें पश्चिम देशीय आविष्कार, परलोकके विषयमें प्राचीन आर्यशास्त्रसिद्धान्त, प्रेतलोक तथा प्रेतोंका स्वरूप कथन, नरकलोक तथा नारकियोंका स्वरूप कथन, परलोक विज्ञानरहस्य वर्णन, जीवनमुक्तकी विचित्र स्थितिका वर्णन, जीवन्मुक्तके दो भेद वर्णन, जीवन्मुक्त जीवनकी अलौकिक विचित्रता वर्णन, विदेहमुक्ति रहस्य वर्णन सदाचारलक्षण वर्णन, सदाचारके साथ जातीय जीवन तथा ब्रह्मतत्त्वका

सम्बन्ध वर्णन, प्रातः कृत्य वर्णन, भोजनमें भक्ष्याभक्ष्य, स्पृश्यास्पृश्य तथा दृष्टिदोषादि विचार, सदाचारकी, विज्ञान मूलकतापर विचार, संस्कारमहिमा तथा प्रकारभेद, षोडशसंस्कारोंका रहस्य कथन, सप्रमाण श्राद्धमहिमा और श्राद्धलक्षणवर्णन, श्राद्धकाल, श्राद्ध कृत्यवर्णन, पञ्चमहायज्ञवर्णन, सन्ध्योपासनमहिमा, सन्ध्याका लक्षण तथा कालनिर्णय गायत्रीमहिमा, ओंकारमहिमा, प्रणवके त्रिभाववर्णन, आदि विषय वर्णित हैं। मूल्य २)

अष्टम खण्ड— गोमहिमा, आर्यशास्त्रमें गोजातिका सर्वोच्च स्थान, गोमाताकी विशेष शक्ति, विज्ञानानुसार गव्यपदार्थोंकी विशेषता वर्णन, गोमय, गोमूत्र, गोरोचन आदिकी महिमा, गोवंशनाशके कारण, व्रतलक्षण तथा व्रतभेद, व्रताधिकार निर्णय, व्रतोंसे त्रिविधलाभ, तीर्थलक्षण तथा तीर्थादिवर्णन, प्रयागादि तीर्थोंका माहात्म्य, संगीतकी महिमा और व्यापकता, संगीतका प्राचीन इतिवृत्त संगीतोत्पत्ति तथा रागलक्षण, ताल-लय तथा वाद्ययन्त्रके विविधभेद, भाषालक्षण तथा भाषामहिमा, संस्कृत हिन्दी आदि भाषाओंकी उत्पत्ति, देवनागरी आदि लिपिविकाश, शिक्षाविज्ञान और शिक्षादर्श, शिक्षालक्षण तथा शिक्षाके चार भेदोंका विशदवर्णन, आर्यनारियोंकेलिये शिक्षादर्श, स्वाराज्य लक्षण, वर्तमान प्रजातन्त्र तथा उसके मूलकारण, आर्यजातिकी प्राचीन प्रजातन्त्रनीति, उन्नतिका आदर्श, आर्यजीवनकी विशेषता, आर्यजीवनमें अध्यात्मलक्ष्य, आर्यजीवनमें भौतिक विज्ञान, भौतिक विज्ञानकीगौणता, आर्यजीवनमें कर्म-उपासना ज्ञान, आर्यजीवनमें देशसेवा, आर्यजीवनकी वर्तमान दीनदशा, आदिविषय वर्णित हैं। इसका मूल्य ३||) है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत ।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित ।

इस ग्रन्थमें आर्यजातिके आदिका वासस्थान, उन्नतिका वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित हैं। इसके दो खण्ड हैं, क्रमशः मूल्य २) २) ।

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत ।

श्रीस्वामी दयानन्द संपादित

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेकेलिये यह एक ही पुस्तक है । मूल्य १)

साधनचन्द्रिका ।

इसमें मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अतिसुन्दर वर्णन किया गया है । मूल्य १।।)

शास्त्रचन्द्रिका ।

वेद और वेदसम्मतदर्शन पुराणादि शास्त्रके आधार पर पारलौकिक विद्याके दिग्दर्शनार्थ यह ग्रन्थ इस विचारसे बनाया गया है कि, जिससे विद्यार्थियोंको धर्मशिक्षा प्राप्त करनेमें सहायता प्राप्त हो सके । मूल्य १।) ।

धर्मचन्द्रिका

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

बालकोंके पठनोपयोगी उत्तम धर्मपुस्तक है। इसमें सनातनधर्मका उदार सार्वभौम स्वरूप वर्णन, यज्ञ, दान, तप, आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्यधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया

है। कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्य कर्मोंका वर्णन, षोडशसंस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। मूल्य १)।

आर्य्यगौरव

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

आर्यजातिका महत्त्व जाननेकेलिये एक ही पुस्तक है, मू० ।।)

नीतिचन्द्रिका

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

मानवीय जीवनका उन्नत होना नीतिशिक्षापर ही अवलम्बित होता है। कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्त्व खचित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गई है। इसमें नीतिकी सब बातें-ऐसी सरलता से समझायी गयी हैं कि, इस एकके ही पाठसे नीतिशास्त्रका ज्ञान हो सकता हैं। मूल्य ।।)

चरित्रचन्द्रिका

सम्पादक पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर।

इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १।)

धर्मप्रश्नोत्तरी

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अतिसंक्षिप्तरूपसे इस पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रखी

गई है कि छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भलीभाँति हृदयङ्गम कर सकेंगे। मूल्य केवल ।) मात्र है।

परलोक-रहस्य

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

मनुष्य मरकर कहाँ जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृत रूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोकरहस्य

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

स्वर्ग और नरक कहाँ और क्या वस्तु है, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णित है। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका

श्रीमान् पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर सम्पादित।

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवन-चरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य-कर्मचन्द्रिका

इस ग्रन्थमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त हिन्दूमात्र के अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म वैदिक तान्त्रिक मन्त्रोंके साथ भलीभाँति वर्णित हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भलीभाँति हो जाता है। यह पुस्तक

क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्रीपुरुष, सबकेलिये बहुत ही-उपकारी है। मूल्य ।) आना।

धर्म-कर्म-दीपिका

इस पुस्तक में कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संस्कारके लक्षण और भेद, वैदिक संस्कारोंका रहस्य, त्रिविधकर्मका वैज्ञानिक स्वरूप, कर्म सम्बन्धसे मुक्ति, वर्णाश्रमधर्मकी महिमा, धर्म, कर्म और विज्ञानका महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, यह ग्रंथ मूल और सुस्पष्ट हिन्दी-अनुवाद सहित शास्त्रीय प्रमाण देकर छापा गया है। मूल्य ॥)

सदाचारसोपान

यह पुस्तक कोमलमति बालक-बालिकाओंकी धर्मशिक्षाकेलिये प्रथम पुस्तक है। मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेकेलिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य -)

ब्रह्मचर्यसोपान

ब्रह्मचर्यव्रतकी शिक्षाकेलिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। मूल्य ।) आना।

राजशिक्षासोपान

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेकेलिये यह ग्रंथ बनाया गया है, परन्तु सर्वसाधारणकी धर्मशिक्षाकेलिये भी यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातनधर्मके अंग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡)

साधनसोपान

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुत ही उपयोगी है। वालक वालिकाओंको पहलेसे इसपुस्तकको पढ़ना चाहिये। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान

सनातनधर्मके शास्त्रोंका सारांश इस ग्रंथमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेकेलिये प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीके-लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।) आना।

उपदेशपारिजात

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रोमें क्या क्या विषय हैं, धर्मवक्ता होनेकेलिये किन किन योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें हैं। संस्कृतके विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिकेलिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ।।) आना।

कल्किपुराण

कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है? इस कलियुगमें कल्कि महाराज अवतार धारणकर दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है। हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। मूल्य १।।)

पातञ्जलयोगदर्शन

भाष्यकार भगवत् पूज्यपादश्री १९०८ महर्षि स्वामीज्ञानानन्दजी महाराज द्वारा विस्तारित भाष्यसहित इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनों में योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तर्जगत्के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीकानिर्माण वही सुचारुरूपसे कर सकता है, जो योगके क्रियासिद्धान्तका पारगामी हो। प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़ने पर असम्बद्ध नहीं मालूम होगा और ऐसा प्रतीत होगा कि, महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसकेलिये मानो एक महान् राजपथ निर्माण कर दिया है। मूल्य २) दो रुपया।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य

इस ग्रन्थमें सात अध्याय हैं। यथा-आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्य-सेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन। यह ग्रन्थरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है। प्रत्येक सनातनधर्माव-लम्बीको इस ग्रन्थको पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। धर्मके गूढ़तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरहसे बताये गये हैं। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १)

मन्त्रयोगसंहिता

भाषानुवादसहित—योगविषयक सा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोगके १६ अंग और क्रमशः

उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। इसमें मन्त्रोंका स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है और अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधके दूर करनेके-लिये यह एकमात्र ग्रन्थ है, इसमें नास्तिकोंका मूर्ति-पूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं, उनका अच्छा समाधान है। मूल्य १) एक रुपया।

हठयोगसंहिता

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजकल प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अंग और क्रमशः उनके लक्षण साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ।।।)

तत्त्वबोध

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल वेदान्त ग्रन्थ श्रीशंकराचार्य्य कृत है। मूल्य =)

स्तोत्रकुसुमाञ्जलि

इसमें पंचदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियाँ और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियाँ हैं। मूल्य ।) आना।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथमखण्ड

श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी-भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है, जिसका प्रथम खण्ड जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजकल श्रीगीताजीपर

अनेक संस्कृत और हिन्दीभाष्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इस प्रकारका भाष्य आजकल किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता—विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १) एक रुपया।

शक्तिगीता

इस ग्रन्थमें महादेवीका देवताओंके सामने प्रगट होना, देवासुर युद्धमें असुरोंके पराजयके अनन्तर देवताओंका भगवतीके दर्शनकी अभिलाषासे अनुष्ठान करना, देवताओंके द्वारा भगवतीकी स्तुति, भगवतीके स्वरूपज्ञान प्राप्तिकी देवताओंका जिज्ञासा, महादेवीको कारणब्रह्म, कार्यब्रह्म और पुरुष-प्रकृति आदि रूपोंके धारण करनेका विज्ञान, महामायाका स्वरूप, शक्ति और शक्तिमान्में अभेदवर्णन, भगवतीकी कलाओंका ज्ञान करनेकी देवताओंकी जिज्ञासा, ब्रह्मा विष्णु-महेशमें षोडशकलाओंकी पूर्णता, धर्ममें षोडशकला, प्रवृत्ति निवृत्ति धर्मकी पूर्णताकी अवस्था, और उसके अधिकारी, वर्णाश्रमधर्ममें कलाओंकी पूर्णताका परिणाम, वेदके काण्डत्रयका विज्ञान, योगरहस्य योगशक्तिवर्णन, कर्म उपासना और ज्ञानयोगके लक्षण, योगके आठों अंगोंका लक्षण और भेद, मन्त्रशक्ति विज्ञानवर्णन, कर्मविज्ञानवर्णन, कर्मकी व्यापकता और उसका सर्वकारणत्व, वैदिक संस्कारोंके नाम उनका विभाग, त्रिविध कर्मका वैज्ञानिक स्वरूप और उनका कार्य, आकर्षण-विकर्षणशक्ति, और उनका गुणोंसे सम्बन्ध, जीवन्मुक्तोंका भी कर्मयोग, और सहज तथा ऐशकर्मोंकी अधीनता; भगवतीका विस्तृतस्वरूपवर्णन, पराभक्तिका स्परूपवर्णन वैधीभक्तिमें

उन्नतिका क्रम और उसके मुक्ति, मुक्तिप्राप्तिमें सदाचारकी आवश्यकता, महादेवीका विराटरूप दर्शन, और विभूतियोंका वर्णन, आदि विषय सात अध्यायोंमें भलीभाँति प्रतिपादित है। जिसको पढ़कर उपासनाकी महिमाको जान सकते हैं। मूल्य १)।

श्रीशम्भुगीता

इसमें, धर्मनिरूपण, वर्णाश्रमधर्मका प्रधान सृष्टिरूपिणी मर्त्यसृष्टिका नियामक होना, वर्णाश्रमकी वीजरक्षासे क्रमाभ्युदयप्रदमार्गका सुरक्षित रहना, पूर्वजन्मार्जित कर्मसंस्कार पूर्वजन्मसंगृहीत संस्कारोंके अनुसार आसक्तिका उत्पन्न होना, विद्या अविद्या भेदसे द्विधा भगवत्-शक्ति और उसका धर्माधर्मसे सम्बन्ध, पिण्डसृष्टिनिरूपण, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, त्रिविधज्ञान, और उससे धर्मके सार्वभौम स्वरूपका ज्ञान होना, कायविद्या, चिकित्साविद्या, आधिभौतिक पदार्थ विद्याओंका वर्णन, त्रिगुणभेदसे नरनारीका गुणवर्णन, षोडश पुरुषभेद, और षोडश नारीभेद, चिज्जड़ग्रन्थिकी सहायतासे जीवोंका उत्पन्न होकर ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण, सहज मानव, और दैवरूप त्रिविधपिण्ड और उनके लक्षण, दैवलोकनिरूपण, चतुर्दशलोकोंकावर्णन, वर्णाश्रमबन्धवर्णन, अध्यात्मतत्त्वनिरूपण, ब्रह्माण्ड-पिण्ड नादविन्दु और अक्षरमयी पांचपुस्तक, उनके लक्षण, ज्ञानकी तीन श्रेणियाँ, भगवद्-भागवत सम्बन्धनिरूपण, जीवन्मुक्त अवस्थाका वर्णन, प्रारब्धादि त्रिविधकर्मोंके लक्षण, विदेहमुक्ति और साम्यत्व, भगवान्की लिङ्गाकारमें अर्चनाके कारण, चिन्मयलिंगवर्णन, विश्वधारक योगकी प्रणाली और उसका फल, आदि अनेक महत्त्वके विषयोंका वर्णन है। मूल्य केवल १) एक रुपया।

श्री सूर्यगीता

इसमें सूर्य भगवान्की महिमावर्णन, अधिदैव रहस्यनिरूपण, कुण्डलिनीशक्तिके आविर्भावसे भगवान्के तेज का दर्शन, पञ्चोपासना निरूपण, कर्मरहस्य, कर्मविभाग, सृष्टिप्रकरण और आत्मस्वरूपवर्णन, आध्यात्मिक, आधिदैव और आदिभौतिकसृष्टि, विराट् ब्रह्माण्ड और पिण्डसे सम्बन्ध, अधिभूत रूपदर्शन, और योगविज्ञानवर्णन, स्नेह प्रेम-श्रद्धा और भक्तिरूपसे अनुरागके चारभेद, जीवन्मुक्तके लक्षण और उसके विविधभेद वर्णन आदि विषय हैं। मूल्य ।।)

श्री विष्णुगीता

इसमें सात अध्याय हैं। जिममें वैराग्ययोग वर्णन, देवलोकमें देवताओंको निर्भय करनेकेलिये श्रीभगवान् महाविष्णुका आविर्भूत होना, भोगवृद्धिसे देवताओंके तपःक्षय होना, नारदजीके उपदेशसे देवताओंका तपस्या करना, उससे प्रसन्न होकर श्रीमहाविष्णुका दर्शन देना, देवताओं द्वारा महाविष्णुकी स्तुति, स्तुतिसे महाविष्णुकी प्रसन्नता, सदाचारत्यागसे ही देवताओंके दुःखों की उत्पत्ति, वैराग्यप्राप्तिविषयक विस्तृतविचारवर्णन, सृष्टिका प्रवाहरूपसे अनाद्यनन्तत्व, सृष्टिचक्रका विवेक, सृष्टिके आधार, धर्म ही सृष्टिका आधार, ज्ञानयज्ञका श्रेष्ठत्व, दैवीसम्पत्ति और आसुरी सम्पतिका विस्तृत वर्णन, त्रिगुणोंका स्वरूप, गुणातीतका लक्षण, यज्ञका विविधभेद, त्रिगुणके द्वारा सृष्टि-स्थितिलय, जीवात्माका स्वरूप, क्षर अक्षर और परमात्माका लक्षण, कर्मयोग की दशाका वर्णन, शुक्ल कृष्णगति, और उनके साथ निवृत्ति और प्रवृत्तिका सम्बन्ध, योगभ्रष्टकी गति, कर्मयोगीकी सर्वोत्कृष्टता पराभक्ति अधिकार और उसका फल, अवतारोपासनाकी

आवश्यकता, पापात्माकी भी भक्तहोनेसे मुक्ति, भगवान्के प्रियतम भक्तके लक्षण, त्रिविधज्ञान और उसका स्वरूप, संन्यासके लक्षण, कर्मसंन्याससे कर्मयोगकी श्रेष्ठता, विश्वरूपदर्शन, महाविष्णुके विराट्रूपका अद्भुतवर्णन, आदि विषय वर्णित हैं। मूल्य १) रुपया।

श्रीसंन्यासगीता

इसमें बारह अध्याय हैं। जिसमें सामान्यधर्मतत्त्व, सनातनधर्म और आर्यजातिका लक्षण, धर्माङ्गनिरूपण, सनातनधर्मका पितृत्व और धर्मांगके उपांगोंका वर्णन, दानतपोधर्म निरूपण, उसकी महिमा, कर्मोपासनाज्ञान निरूपण, संन्यासधर्मकी पृच्छा, कलिकास्वरूप, संन्यासियोंके चारभेद, उनके धर्म और अधिकार, कलिकालके नानाप्रकारके साधु संन्यासियोंके संज्ञाभेद, संन्यासियोंका कर्त्तव्य, संन्यासग्रहण कालनिर्णय, संन्यासियोंका लक्षण और उनका महत्त्व, कुटीचकधर्म, बहूदकधर्म, हंसधर्म चार प्रचारके योग और कर्म, उपासना ज्ञानकी सप्तभूमिकायें, शिखा, सूत्र, दण्ड आदि चिह्नोंकी मीमांसा, हंसाचारवर्णन, परमहंसधर्म, ब्रह्मस्वरूप सन्तवर्णन, जीवन्मुक्तलक्षण जीवन्मुक्त विज्ञान रूपण, ब्रह्म और जगत्का अभेद, आदिविषयोंका विस्तृत विवेचन किया गया है। यह सबके पढ़नेयोग्य है, विशेषतः—संन्यासि-महात्माओंको अवश्य अवलोकन करना चाहिये। मूल्य १)

श्रीधीशगीता

इसमें श्रीगणपतिकी महिमा वर्णित है। स्वरूपभाव निरूपण, धीशलोकका वर्णन, सिद्धियोंके भेद वर्णन, सिद्धिप्राप्तिके प्रधान आठ उपाय, चतुर्विध सिद्धियोंके लक्षण, दिव्यदृष्टिसे ज्ञानभूमियोंमें

परासिद्धिका दर्शन होना, तटस्थ और स्वरूपज्ञानके लक्षण, धर्मशक्तिका मनुष्यकी मुक्तिमें कारणत्व, धर्मका महत्त्ववर्णन, धर्मके साधारण और विशेषभेद, साधारणधर्मके चौवीस तत्त्वोंके अनुरूप चौवीसभेद, श्रवणमनन और निदिध्यासनकी उपयोगिता, विद्या अविद्याके कार्य और उसके फल, ब्रह्म, स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर कारणशरीरके लक्षण, पञ्चकोषोंसे आत्माका आवरण, ब्रह्माण्डका चतुर्दशविभाग, ब्रह्मसत्य, जगन्मिथ्या और जीव ब्रह्मकी एकता प्रतिपादन, विराट्स्वरूपवर्णन, आदि विषय हैं। भाषानुवाद सहित मूल्य ॥।) बारह आना।

गुरुगीता

इसमें गुरुदीक्षाकी आवश्यकता, गुरुशक्तिका लक्षण, भगवान्का जगद्गुरु होना, दीक्षागुरुके लक्षण, सब धर्म-सम्प्रदायोंमें गुरुदीक्षा विधान, गुरुशब्दके अक्षरोंका अर्थकथनपूर्वक गुरुमाहात्म्यवर्णन, गुरुकारक्षकत्व और गुरुके साथ भगवान्का अभिन्नत्व, गुरुका विशेष पूज्यत्व और उनमें ब्रह्मभावना, शिष्य-लक्षण और उसका कर्तव्य एवं गुरुशुश्रूषाका फल, मन्त्रयोग, हठयोग लययोग और राजयोगोंके लक्षण, उपासनाके विस्तृतभेद, दिव्यदेश भक्तिके भेद, भक्तोंके भेद और उपासकोंके भेदका वर्णन गुरुमाहात्म्य और गुरुध्यानवर्णन परमात्माके स्वरूपका वर्णन आदि विषय सरल हिन्दी भाषामें प्रमाणोंके साथ वर्णित हैं। मूल्य ।) आना।

कर्ममीमांसादर्शन

महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शनशास्त्र अनुसन्धानद्वारा प्राप्त हुआ है, जो चारपादोंमें प्रकाशित हुआ है। सूत्र, सूत्रका हिन्दीमें अर्थ और संस्कृतभाष्यका हिन्दी अनुवाद, इस प्रकार

इसको छापा गया है। कर्म्मके साथ धर्म्मका सम्बन्ध, धर्म्मके अंगोपांग, पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म प्रायश्चित्तप्रकरण आदि अनेक विषयोंका विज्ञान धर्मपादमें वर्णित हुआ है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि कैसे होती है, तथा उसके द्वारा मोक्षप्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इत्यादि विषयोंका विज्ञान संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपादमें वर्णित हुआ है। ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके अनुसार पञ्चमभूमिका यह दर्शन है। महर्षि-जैमिनीकृत जो बृहत् कर्ममीमांसादर्शन उपलब्ध होता है वह केवल वैदिक कर्मकाण्डके विज्ञानका प्रतिपादक है। वैदिक यज्ञोंका प्रचार आजकल बहुत कम होनेके कारण जैमिनीदर्शनका उपयोग बिलकुल नहीं होता है यही कहना युक्तियुक्त होगा। महर्षि भरद्वाजकृत उपर्युक्त दर्शनग्रन्थ कर्मके सब अंगोंके विज्ञानका प्रतिपादन और धर्मविज्ञानके रहस्यका वर्णन करनेवाला है। इसके तीन खण्ड हैं। मूल्य धर्मपाद १।।), संस्कारपाद, २) विस्तृत हिन्दीभाष्य सहित नवीन संस्करण क्रियापाद और मोक्षपाद मूल्य ५)।

कर्ममीमांसादर्शन

संस्कृतभाष्य एवं सूत्रार्थ सहित मूल्य २)

श्रीरामगीता

श्रीमहर्षि वशिष्ठकृत तत्त्वसारायणमें कथित यह श्रीरामगीता है। परमधार्मिक विद्वान् स्वर्गवासी भारतधर्मसुधाकर श्रीमहा-रावलजी साहब सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूँगरपुरराज्याधिपतिके पुरुषार्थद्वारा इसका सुललित हिन्दी-भाषामें अनुवाद हुआ है और विस्तृत वैज्ञानिक टिप्पणियोंके द्वारा इसके दुरूह विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है, इन टिप्प-

णियोंके महत्त्वको सब दर्शनोंका ज्ञान और सब योगोंका अभ्यासी समझकर आनन्दित हो सकता है मूल्य केवल २॥)।

कहावत रत्नाकर

न्यायावली और सुभाषितावली सहित। परमधार्मिक तथा विद्वान् स्वर्गीय श्रीमान् भारतधर्म-सुधाकर हिजहाइनेस महारावल साहब सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूंगरपुर नरेशके सम्पादकत्वमें इस पुस्तकका छपना प्रारम्भ हुआ था जिसको श्रीमहामण्डलके शास्त्रप्रकाश विभागकी पण्डितमण्डलीने सुचारु-रूपसे समाप्त किया है। हिन्दीभाषाका यह एक अद्वितीय ग्रंथ है, इसमें हिन्दीभाषाकी प्रधानता रखकर पाँच भाषाओंमें कहावतें दी गई हैं। हिन्दी और उसीकी संस्कृत कहावत, अंग्रेजी कहावत, फार्सी कहावत और उर्दू कहावत, अरबी कहावत, ये कहावतें प्रत्येक भाषाके प्रधान विद्वानों द्वारा संग्रहीत और संशोधित हुई हैं, इसी प्रकार संस्कृत न्यायावली और उनका अंग्रेजी अनुवाद और विस्तृत अंग्रेजी विवरण तथा हिन्दी अनुवाद और हिन्दी विवरण दिया गया है। अन्तमें संस्कृतसुभाषितावली हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। हिन्दी कहावत, संस्कृत न्यायावली और संस्कृत सुभाषितावलीको सर्वसाधारणके सुभीतेकेलिये अकारादि क्रमसे दिया गया है। इसके प्रारम्भमें अंग्रेजी और हिन्दीभाषाका महत्त्व प्रतिपादन करनेवाली एक भूमिका दी गई है। पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर है, सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। रायल एडीशन १०) साधारण संस्करण ७)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण

श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित पुस्तकके साथ मिलाकर सम्पूर्ण विशुद्धरूपसे छपाया गया है। हम दावेके साथ कह सकते हैं कि,

इसके मुकाबलेकी पुस्तक बाजारमें नहीं मिलेगी। इसमें कठिन कठिन शब्दोंका अर्थ इस तरहसे दिया गया है कि बिना किसीके सहारेसे स्त्रियाँ, बालक, बुड्ढे आदि सभी कोई अच्छी तरह कठिन कठिन भावों को समझ सकते हैं। और भी इसकी विशेषता यह है कि,—इस तरहकी टिप्पणियाँ इसमें दी गई हैं कि, जिनको पढ़नेसे सनातनधर्मकी सब बातें समझमें आ जावेंगी। धर्मसम्बन्धीय सब तरहकी शङ्काओंका समाधान भली भाँति हो जायगा। इसकी छपाई, कागज वगैरह बहुत ही उत्तम और सुन्दर है और केवल प्रचारकेलिये ही मूल्य भी १।) रक्खा गया है।

गीतार्थ चन्द्रिका

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

श्रीस्वामीजीकी विद्वत्ता किसीसे छिपी नहीं है। उन्होंने बहुत ही परिश्रमके साथ गीता पर यह अपूर्व टीका लिखी है। केवल हिन्दीभाषाके जाननेवाले ही इसके द्वारा गीताके गूढ़ रहस्यको जान सकें इसी लक्ष्यसे यह टीका लिखी है। इसमें श्लोकके प्रत्येक शब्दका हिन्दी अनुवाद, समस्त श्लोकका सरल अर्थ और अन्तमें एक अतिमधुर चन्द्रिका द्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य बतलाया गया है। इसमें किसीका आश्रय न लेकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंका सामञ्जस्य किया गया है। भाषा अतिसरल तथा मधुर है। इस ग्रन्थके पाठ करनेसे गीताके विषयमें कुछ भी जाननेको बाकी नहीं रह जाता। हिन्दी भाषामें ऐसी अपूर्व गीता अबतक निकली ही नहीं है। मूल्य २।) सजिल्द ३)

सनातनधर्म—दीपिका

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

इसमें धर्म, नित्यकर्म उपासना, अवतार, श्राद्ध-तर्पण

यज्ञोपवीत संस्कार, वेद और पुराण, वर्णधर्म, नारीधर्म, शिक्षादर्श और उपसंहार शीर्षकनिबन्ध लिखकर श्री स्वामीजीने बड़ी ही सरलभाषामें सनातधर्मके मौलिक सिद्धान्त समझा दिये हैं। मूल्य केवल ।||) बारह आने।

आदर्श-जीवन-संग्रह

महापुरुषोंके जीवन चरित्रसे भावी सन्तानके चरित्र संगठन-पर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। अतः बालकोंको आदर्श महापुरुषों का जीवनचरित्र अवश्य पढ़ाना चाहिये। वस्तुतः पुस्तकमें श्रीभगवान् शंकराचार्य, ईसामसीह, गो० तुलसीदास, महाराज युधिष्ठिर, महात्मा गान्धी, लोकमान्य तिलक, महारानी अहिल्या बाई आदि ३२ महानुभावों तथा महादेवियोंके जीवन-चरित्रका संग्रह किया गया है। इस प्रकार यह अनेक आदर्शोंकी पुष्प-माला है। बालकोंकेलिये अत्युपयोगी है। ऐसी पुस्तकका मूल्य १।|) मात्र है।

त्रिवेदीय सन्ध्या

पं० राधिकाप्रसाद वेदान्त शास्त्री प्रणीत।

इसमें तीनों वेदोंकी सन्ध्या दी गई है। हरएक मन्त्रका हिन्दी में अन्वय और विशुद्ध सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद किया गया है सन्ध्या क्यों की जाती है ? सन्ध्याका स्वरूप क्या है ? उपासना की रीतिसे सन्ध्याके द्वारा अपने अपने जीवनको कैसे उन्नत कर सकते हैं, सन्ध्या किस समय की जाती है और कैसे की जाती है, सन्ध्या न करनेसे क्या हानि होती है, सन्ध्याका वैज्ञानिक तात्पर्य क्या है, आदि सन्ध्या सम्बन्धीय सब बातें युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे सिद्ध की गई हैं। मूल्य केवल ।=) आने।

"THE WORLD'S ETERNAL RELIGION"

A Unique work on Hinduism in one volume, containing 24 Chapters with tricolour illustrations, glossary etc. No work has hitherto appeared in English that gives in a suggestive manner the real exposition of the Hindu religion in all its phases. The book has perfectly supplied this long-felt want. Names of the chapters are as follows:—1 Foreword, 2 Universal Religion. 3 Classification of Religion, 4 Law of Karma, 5 Worship in all its phases, 6 Practice of Yoga through Mantras, 7 Practice of Yoga through physical exercise, 8 Practice of Yoga through inner force of Nature, 9 Yoga through power of reasoning, 10 The Mystic Circle, 11 Love and Devotion, 12 Plans of knowledge, 13 Time, space, creation, 14 the Occult world, 15 Evolution and Reincarnation, 16 Hindu Philosophy, 17 The System of Castes and Stages of Life, 18 Woman's Dharma, 19 Image Worship, 20 The geat Sacrifices, 21 Hindu Scriptures, 22 Liberation, 23 Education, 24 Reconciliation of all Religions. The followers of all religions in the world will profit by the light the work is intended to give, price cloth bound, superior edition Rs. 5, Ordinary edition Rs. 3, Postage extra.

ब्रह्मविद्या का मूलग्रन्थ

सरल हिन्दी में वेदान्तका यह सिद्धान्त ग्रन्थ है। थियोसाफी की दृष्टिसे ब्रह्मविद्याका रहस्य इस पुस्तकमें लिखा गया है। २५० पृष्ठकी पुस्तकका दाम ॥=) मात्र है।

गोव्रत-तीर्थ-महिमा

इस पुस्तकमें गो-महिमा व्रतोत्सवमहिमा और तीर्थमहिमा, शास्त्रीय प्रमाण तथा वैज्ञानिक युक्तिके साथ विस्तृत रूपसे वर्णित है। धर्मकल्पद्रुमके अष्टमखण्डके प्रथम तीन अध्यायको ही 'गोव्रत तीर्थमहिमा' देकर पृथक् पुस्तकरूप से प्रकाशित किया गया है जो धर्मकल्पद्रुम जैसा विराट धर्मग्रन्थ नहीं खरीद सकते वे इस छोटीसी पुस्तकसे सनातनधर्मके सबसे श्रेष्ठ गो-महिमा, व्रतोत्सवमहिमा और तीर्थमहिमाका रहस्य जान सकते हैं। मूल्य ।।) आठ आना।

मार्कण्डेय पुराण

महर्षि वेदव्यासका संसार प्रसिद्ध यह ग्रन्थ है। भाषा बड़ी सरल और हिन्दी टीका सहित तीन खण्डों में प्रकाशित है। मूल्य तीनोंका क्रमशः १), १), १) है।

ऋजुपाणिनीयम्

भूमिकासहित यह व्याकरणग्रन्थ है। संस्कृत सीखनेकेलिये उपयोगी है। इसको पढ़नेसे थोड़े समयमें संस्कृत ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मूल्य ।।।)

संगीतसुधाकर	।)	सुगमसाधनचन्द्रिका	=)
पुराणरहस्यम्	१।।)	Meghnad Badh Kavya	२)
संन्यासधर्मपद्धति	१।।)	Indias Eternal Raligion	।।)
महिला प्रश्नोत्तरी	–)	व्यास शुक सम्वाद	।)

दैवीमीमांसादर्शन, प्रथम खण्ड ३।।)

दर्शनादर्श

वैदिक महादर्शनविज्ञान समझनेकेलिये आदर्श स्वरूप है। इस विषयकी ऐसी उत्तम पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। जैसा नाम वैसा ही गुण। यह दर्शनशास्त्रकेप्रेमियोंकेलिये अवश्य संग्रहणीय अद्भुत ग्रन्थ है। हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित होनेसे यह ग्रन्थ संस्कृतविद्यालयों और हिन्दीपाठशालाओंके पाठ्यक्रममें रखने योग्य है। मूल्य १) मात्र।

बँगलाकी पुस्तकें

रामायण गोस्वामी तुलसीदासकृत (बँगला अनुवाद)	४)
हितोपदेश	।)
हिन्दीवर्ण परिचय	-)
मन्त्रयोगसंहिता	१)
जातीय महायज्ञ साधन	१)
दैवीमीमांसादर्शन	।।।)
गुरुगीता	।)
तत्त्वबोध	।)
साधनसोपान	=)
सदाचार सोपान	-)
कन्याशिक्षा सोपान	-)
शक्तिगीता	१)
श्रीशम्भुगीता	४)
योगदर्शन	२)
पुराणतत्त्व (श्रीस्वामी दयानन्द प्रणीत)	१।)
साधनतत्त्व	१)
आर्यजाति	१)
नारीधर्म	१।)
सदाचार शिक्षा	।=)
नीतिशिक्षा	।)
अवतारतत्त्व	१)
भक्तितत्त्व	१)
महर्षि चरित	१)
अगस्त्य चरित	।।)
सरल हिन्दी शिक्षा	१।)
वैशेषिकरहस्य	।।।)
वेदान्तदर्शन	।।)

—

धार्मिक पुस्तकें

श्रीभारतधर्ममहामण्डल और श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी-महापरिषद् दोनों रजिस्टर्ड संस्थाएँ पृथक् पृथक् हैं। दोनोंकी रक्षाकेलिये स्वतंत्र ट्रस्ट हैं, दोनोंके हिसाब आदि भी अलग रक्खे जाते हैं, तथापि दोनों संस्थाओंके द्वारा जिन ग्रन्थोंका प्रकाशन होता है, उनका प्रणयन, भाष्य, टीका, व्याख्या आदिका सब कार्य श्रीमहामण्डलके संस्थापक पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महा-राजके तत्वावधानमें ही हुआ है। इस दृष्टिसे दोनों संस्थाएँ एक ही हैं। दोनों संस्थाओं द्वारा जो प्रकाशन हो चुका है, उनमेंसे महापरिषद् तथा वाणीपुस्तक-माला द्वारा पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उन पुस्तकोंका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

सनातनधर्मके अद्वितीय विद्वान् ब्रह्मीभूत स्वामी दयानन्दजी महाराजद्वारा लिखित—

धर्म-विज्ञान

(तीन खण्डोंमें)

यह सनातन धर्मका विश्वकोश है। इसमें धर्म और आधुनिक विज्ञानके समन्वयके साथ धर्मके विविध अङ्गोंपर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। सनातनधर्मको पूर्णरूपसे समझनेकेलिये अकेली यही पुस्तक पर्याप्त है। समय-समयपर लोगोंद्वारा की गयी और की जानेवाली यथासम्भव शङ्काओंका समाधान सुन्दर सुबोध भाषामें किया गया है। इसमें आधुनिकविज्ञान और सना-तनधर्म, देशसेवा और सनातनधर्म, स्वराज्य और सनातनधर्म,

आचारमें वैज्ञानिक चमत्कार, नित्यकर्म, षोडश-संस्कार, श्रद्धा-तर्पण, शक्ति-संचय और आश्रमधर्म, सती धर्म-रहस्य, विवाहकाल-निर्णय आदिका महत्त्वपूर्ण विवेचन प्रकाशित है। आकार—डवल क्राउन अठपेजी, प्रत्येक खण्डकी लागत क्रमशः—५)-४)-४) मात्रा।

१—ईशोपनिषद् ॥।) २—केनोपनिषद् ॥।) ३—कठोपनिषद् ३)

उपनिषदोंकी दुरूहता किसीसे छिपी नहीं है। इनके गूढ़ रहस्योंका जैसा उद्घाटन श्रीमत् शङ्करप्रभुने अपने भाष्योंमें किया है, वह अद्वितीय है। परन्तु वह भाष्यसंस्कृतमें होनेके कारण केवल हिन्दी जाननेवाले लोगोंको उसका ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा कठिन था। अतः विषयको सरल और सुगम बनानेके विचारसे श्री महामण्डलके प्रतिष्ठाता परम पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराजकी टीकाओंसहित प्रकाशित की गयी हैं, इसमें मन्त्र, अन्वय, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य तथा भाष्यका हिन्दी अनुवाद तत्पश्चात् 'उपनिषद् सुबोधिनी नामक सुन्दर और सरल टीकाद्वारा उनके भावोंका जन-साधारणके उपयोगी बना दिया गया है एवं अस्पष्ट स्थलोंको सुस्पष्ट और सुबोध किया गया है। धर्ममें श्रद्धा रखसेवाले प्रत्येक व्यक्तिको ऐसे महिमामय ग्रन्थोंका अवश्य अवलोकन करना चाहिये।

सप्तशती गीता (दुर्गा)

योंतो इसके संस्करण अनेक स्थानोंसे प्रकाशित हुए आपको दिखायी पड़े होंगे किन्तु यह संस्करण जो 'वाणीपुस्तकमालाद्वारा' प्रकाशित हुआ, है सचमुच अद्वितीय है। मूल, फिर अन्वय तथा इसके बाद उसका सरल और सुन्दर हिन्दीभाषामें अनुवाद करके इसका सौन्दर्य वढ़ाया गया है, श्रीमहामंडलके प्रतिष्ठाता परम पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराजकी 'मातृमहिमा प्रकाशिनी'

टीकासे संयुक्त है। जिसे पढ़ने या पाठ करनेसे माँ दुर्गाका आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक रहस्य अनायास समझमें आजाता है। हर प्रकारकी आशङ्काओंको इस ग्रन्थका पाठ विनष्ट कर देनेवाला है। किसी भी भाषामें अवतक दुर्गा सप्तशतीका ऐसा प्रकाशन आपको उपलब्ध नहीं होगा, दुर्गा-पाठ करनेवाले प्रत्येक विद्वान् पंडित और प्रत्येक हिन्दू सद्गृहस्थको यह ग्रन्थ अपने घरमें रखकर अवश्य लाभ उठाना चाहिये। कागजका जिल्द १।), कपड़ेका जिल्द १।।=)।

सती-सदाचार

दाम्पत्य जीवनको सुन्दर, सुखमय और सरल बनानेवाली यह आदर्श पुस्तक है। अधिक कहना व्यर्थ है। इस पुस्तकको आप स्वयं पढ़ें, अपनी गृहिणीको पढ़ावें बालक और बालिकाओंको दें। मूल्य ।।।) मात्रा।

धर्मतत्त्व

धर्माधर्मसम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक हिन्दूका आवश्यक कर्तव्य है। इस धर्मग्रन्थमें तथा उसके अंगोंपर संक्षेपसे वहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। अतः प्रत्येक गृहस्थकेलिये यह वड़ा उपयोगी ग्रन्थ है ऐसे स्कूल और कालेज तथा पाठशालाएँ, जिनमें धार्मिक शिक्षा देनेका नियम है, इस धर्मग्रन्थसे काफी लाभ उठा सकते हैं। स्त्रीपुरुष, बालक बालिकाओं यानी सभी वर्गके लोगोंकेलिये यह समान हितकारी है। धर्मज्ञानकी ज्योतिको घर-घरमें जगानेकेलिये यह सर्वांग सुन्दर एवं उपयोगी ग्रन्थ है। मूल्य १=) मात्र।

व्रतोत्सवचन्द्रिका—जिसमें वर्षभरके त्योहारों पर्वोंका वृहद् रूपसे वर्णन है। मूल्य ५)

भारत-धर्म-समन्वय

सनातनधर्म पृथिवीके सब धर्ममार्गोंका कितना सुहृद् है, इसको बतानेकेलिये श्रीमहामण्डलके प्रतिष्ठाता श्रीस्वामीजी महाराजके द्वारा इस पुस्तककी रचना हुई है। इसमें धर्मका सार्वभौम रूप, धर्मकी दार्शनिक व्याख्या, साधारणधर्म, विशेष-धर्म आदि स्तम्भोंको पढ़कर आपका हृदय सनातनधर्मकी महत्तापर मुग्ध हो जायगा। सभी श्रेणीके धर्मप्रेमी विद्वानों और विद्यार्थियोंकेलिये भी यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा। मूल्य १=) मात्र।

परलोक-तत्त्व

परलोक एक ऐसा स्थान है, जहाँ मृत्युके बाद सभीका पहुँचना अनिवार्य है। ऐसे स्थानकी रहस्यमयी बातोंको जाननेकेलिये किसके हृदयमें कौतूहल उत्पन्न नहीं होता। इस पुस्तकके द्वारा यह विषय ज्ञात हो जायगा। थोड़ा भी हिन्दी पढ़ा लिखा मनुष्य इस पुस्तकके द्वारा उस आश्चर्यमय लोककी बातोंको समझकर अपनी चिन्ता मिटा सकता है। मूल्य ॥=) मात्र।

आचार-चन्द्रिका

यह पुस्तक ब्रह्मीभूत श्री १०८ श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराज द्वारा प्रणीत है। धर्महीनपाश्चात्यशिक्षाके फलस्वरूप आर्य-जीवन-में प्राचीन आदर्शोंका लोप-सा दिखाई पड़ता है। अतः सदाचार-प्रतिपालन, ईश्वरभक्ति, गुरुजन-श्रद्धा, मातृ-भक्ति, सच्चरित्रता, आस्तिकता, परार्थपरता एवं ज्ञानार्जन-स्पृहा उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे इस पुस्तककी रचना हुई है। पुस्तक अतीव उपयोगी है। बालक और बालिकाओंके अतिरिक्त सयाने लोगोंकी भी यह पुस्तक मार्गप्रदर्शकका काम देनेवाली है, मूल्य ।॥) मात्र।

धर्म-प्रवेशिका

सर्वसाधारणमें धर्मका प्रारम्भिक ज्ञान करानेवाली ऐसी कोई दूसरी पुस्तक नहीं। इसमें धर्मका स्वरूप, पुण्य और पाप धर्मके अंग और उपाङ्ग, वेद और शास्त्र, इहलोक और परलोक, ईश्वर, देवता और अवतार-उपासना और पूजा, गृहस्थके कर्तव्य आदि शीर्षक देकर धर्मके प्रत्येक अंगपर सरल हिन्दीभाषामें ऐसा प्रकाश डाला गया है, कि एक बालक भी इसे पढ़कर हिन्दूधर्मका अच्छा ज्ञानप्राप्त कर सकता है। मूल्य ।=) मात्र।

व्रतोत्सव-कौमुदी

ऐसा कौन हिन्दू होगा, जिसके घरकी महिलाएँ तथा बालिकाएँ व्रत करनेकी अभिलाषा नहीं रखती हैं। वे परम्परागत व्यवहारानुसार व्रत तो करती हैं, किन्तु अधिकांशको इस बातका पता ही नहीं रहता कि, किस व्रतके करनेकी क्या विधि है, उसे क्यों किया जाता है, उसके करनेसे क्या लाभ होता है, आदि-आदि। इस पुस्तकमें हिन्दू घरोंमें होनेवाले प्रायः सभी व्रतोंकी विधियाँ, उसके कारण आदिपर भलीभाँति प्रकाश डाला गया है। मूल्य ।।।=) मात्र।

पूजा और प्रार्थना

इस पुस्तकमें गणेश, विष्णु, दुर्गा, काली आदि अनेक देव- और देवियोंकी प्रार्थना और पूजाकी पद्धतिपर स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। पुस्तक प्रत्येक हिन्दू तथा विद्यार्थियोंके कण्ठ करने योग्य है। मूल्य ।) मात्र।

वेदान्त-चतुःसूत्री

महर्षि वेदव्यासका यह संसार-प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसका अध्ययन जिसने नहीं किया, वह दयनीय हिन्दू है। ऐसा सरल और सुगमभाष्य, शाङ्करभाष्यके अनुकूल हिन्दीमें कहीं प्रकाशित नहीं हुआ होगा। मूल्य ॥-)

कर्म-रहस्य

यह पुस्तक अभी हालहीमें प्रकाशित हुई है। इसमें कर्म-सम्बन्धी बड़ा सुन्दर विवेचन है। इसमें कर्मका स्वरूप, कर्मसे सृष्टि, कर्मके भेद, कर्मका परिणाम, कर्मसे जाति, कर्मसे आयु-कर्मसे प्रकृति, कर्मसे प्रवृत्ति, कर्मसे संस्कार, कर्मसे शक्ति, कर्मसे काल, आदि शीर्षक देकर श्रीमहामण्डलके प्रतिष्ठाता श्रीस्वामीजी-महाराज द्वारा अनेक निवन्ध लिखे गये हैं। इस पुस्तकमें कर्मके विषयकी सभी बातोंपर पूर्ण प्रकाश डाला गया है और इसके अध्ययनके द्वारा जीवन बहुत कुछ सफल बनाया जा सकता है। मूल्य लागत मात्र ।॥≡)।

श्रीमद्भगवद्गीता
(प्रथम और द्वितीय खण्ड)

यह ग्रन्थ प्रथम अध्यायसे १८ अध्यायतक प्रत्येकश्लोक, अन्वय, अर्थ तथा अपूर्वभूमिका और परिशिष्टके अतिरिक्त श्रीमहामण्डलके प्रतिष्ठाता श्रीस्वामीजी महाराजकी 'तत्त्वबोधिनी' नामकी विस्तृत टीकाके साथ प्रकाशित हो चुका है। यद्यपि आज-तक गीताकी विविध टीकाएँ निकल चुकी हैं, किन्तु इसकी यह अपनी मौलिक विशेषता—गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत त्रिविधस्वरूप वैज्ञानिक ढंगसे वर्णित है जो प्रत्येक जिज्ञासुकेलिये तृप्ति-दायक है। भाषा अतिसुन्दर और सरल है। हिन्दीमें

गीताकी यह अपूर्व पुस्तक है। मूल्य—४) मात्र। इसी तरह इसका दूसरा खण्ड है। मूल्य ४)

आदर्श-देवियाँ

(दो भाग)

इस ग्रन्थको पढ़कर महिला आदर्श-महिला या आदर्श-देवी हो सकती है। क्योंकि इस ग्रन्थमें वैदिक कालसे लेकर ऐतिहासिक काल तक जिन जिन देवियोंके चरित्र सङ्कलित हुए हैं, उनमें कोई आदर्श विदुषी है, कोई आदर्शमाता है, कोई आदर्श सती है, कोई आदर्श योगिनी है, और कोई आदर्श वीराङ्गना हैं। इसमें लगभग ५० देवियोंके चरित्रोंका सुन्दर चयन है। ग्रन्थ दो भागोंमें है। प्रत्येक भागका मूल्य १।–) मात्र है।

कन्या शिक्षा सोपान	=)
महिला प्रश्नोत्तरी	=)
धर्माधर्म प्रश्नोत्तरी	=)
तीर्थदेव पूजन प्रश्नोत्तरी	=)
सदाचार प्रश्नोत्तरी	=)
परलोक प्रश्नोत्तरी	=)
सरलसाधन प्रश्नोत्तरी	=)
गायत्री मन्त्रकी टीका	=)
हिन्दूधर्मका स्वरूप	=)

स्मरणी

धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्रके मौलिक बड़े-बड़े ग्रन्थोंके पढ़नेमें जिज्ञासुओंको असुविधा होती है। उनके सौकर्यकेलिए संक्षेपमें धर्म और दर्शनके महत्त्वपूर्ण विषयोंका इसमें समावेश किया गया है। मूल्य ॥=)

स्त्री-पुरुषविज्ञान

इसमें दार्शनिक, वैज्ञानिक, शारीरिक प्रत्यक्ष और अनुमान तथा तान्त्रिक दृष्टिकोण स्त्री-पुरुषोंके विज्ञानका विवेचन किया गया है। मूल्य ।)

अन्तःकरणविज्ञान

साधकको अन्तर्जगतमें प्रवेश करानेवाला मनोविज्ञान है। परन्तु इसका कहीं ठीक विवेचन देख नहीं पड़ता। इस अभाव-की पूर्ति इस छोटी सी पुस्तिकासे हो जाती है। इससे आर्षमनो-विज्ञानकी रूपरेखा समझमें आसकती है। मूल्य ॥)

श्राद्ध और परलोकविचार

देहान्तके पश्चात् मनुष्यकी क्या गति होती है, उसको कहाँ कहाँ जाना पड़ता और कौन कौनसे सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं, प्रेतत्व क्या है और उससे छुटकारा कैसे हो सकता है, इन विषयों का इसमें विवेचन किया गया है। मूल्य ।=)

सतीधर्म और योगशक्ति

सती में कैसी योगशक्ति प्रकट होती है, इसका विज्ञान प्राचीन और नवीन प्रमाणों सहित इसमें दिया गया है। मूल्य ।)

निर्मूल आक्षेपोंका उत्तर

नवशिक्षित लोग सनातनधर्मपर जो अनेक निर्मूल आक्षेप किया करते हैं, उनका समाधान इस पुस्तिकाके पाठसे हो जाता है। मूल्य ।=)

मनुष्यधर्म

शिक्षा प्रणालीमें श्रीभगवान्के चरणोंमें भक्ति, दैवीजगत पर विश्वास और धर्मज्ञानकी अभिवृद्धिके लक्ष्यसे यह पुस्तिका लिखी गयी है। इसके पाठसे धर्मके अङ्ग-उपाङ्गोंका ज्ञान हो सकता है।

इसमें किसी मत-मतान्तरका गन्ध नहीं है। हर एक पढ़े लिखे सज्जनके संग्रह योग्य है। मूल्य ।)

अखिल भारतीय धार्मिकाध्यात्मिक

संस्कृत विश्वविद्यालय

यह विश्वविद्यालय श्रीभारतधर्ममहामण्डलद्वारा स्थापित है। इसमें वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, न्याय, साहित्य, मीमांसा, ज्योतिष, कर्मकाण्ड, आयुर्वेद और राष्ट्रभाषा हिन्दी आदि विविध विषयोंकी परीक्षायें प्रथमासे लेकर आचार्य तक प्रति-वर्ष नियमित हुआ करती हैं। इसके परीक्षाकेन्द्र भारतके प्रत्येक प्रान्त तथा नगरोंमें स्थापित हैं। जहाँ कहीं संस्कृत-पाठशाला, पुस्तकालय आदि हों, और जो सज्जन इसके केन्द्र अपने यहाँ स्थापित करना चाहें, वे पत्र द्वारा केन्द्र स्थापनकी अनुमति प्राप्त कर सकते हैं। शेष ज्ञातव्य विषय परीक्षा नियमावली मँगाकर देखें।

निवेदक

परीक्षामंत्री, सं० वि० विद्यालय
महामण्डलभवन, जगतगंज, वाराणसी कैंट।

सूर्योदय

सनातनधर्म और हिन्दू-संस्कृतिका प्रचारक यह अद्वितीय संस्कृत मासिकपत्र श्रीभारतधर्ममहामण्डल द्वारा प्रतिमास गत ३४ वर्षों से प्रकाशित हो रहा है। इसका वार्षिक मूल्य ३) है। समस्तविद्यानुरागी, विद्यार्थी तथा संस्कृतभाषाप्रेमी सज्जनोंको ग्राहक बनकर संस्कृत भाषाके प्रचारमें सहायक होना चाहिये। पत्रव्यवहार निम्न पतेसे करें—

व्यवस्थापक "सूर्योदय"
महामण्डलभवन, जगतगंज, वाराणसी कैंट।

उपदेशक महाविद्यालय

अखिल भारतीय विराट् धर्म संस्था श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान ालय महामण्डल भवन, जो काशीके मध्यभागमें महामण्डल नगर-समीप स्थित है उसीमें बहुत कालसे श्री उपदेशक-महाविद्यालय प्रतिष्ठित है, जिसमें सुयोग्य धर्मवक्ता एवं सुयोग्य धर्मसेवक यथायोग्य उचित शिक्षा देकर प्रस्तुत किये जाते हैं। उनसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता है बल्कि उनकी योग्यतानुसार कई प्रकारकी छात्रवृत्ति दी जाती है। इसमें शास्त्री एवं आचार्यके छात्र प्रविष्ट किये जाते हैं। शिक्षण-काल दो से चार वर्षोंका होता है। भारतके विभिन्न विभिन्न प्रान्तोंके छात्रवृन्द इस संस्थासे लाभ उठावें।

पत्र व्यवहारका पता--

प्रधानाचार्य उपदेशक महाविद्यालय

श्रीभारतधर्ममहामण्डल, जगतगंज वाराणसी कैंट

धर्मप्रचारविभाग

इस विभागसे धर्मप्रचारार्थ सुयोग्य विद्वान् वक्ता भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें भेजे जाते हैं। कम से कम एक मास पहले पत्रव्यवहार कर कार्यक्रम निश्चित कर लेना चाहिये। जहाँ कहीं धर्मप्रचार करना हो उसके लिये निम्नलिखित पते पर पत्रव्यवहार करें। उपदेशक महाविद्या-लयमें प्रति रविवारको सत्संगसभा भी होती है; जिसमें स्थानीय धर्मप्रेमी-सज्जन सम्मिलित होकर कथा कीर्तन उपदेशसे लाभ उठाते हैं। इसमें जिज्ञासु सज्जनोंकेलिये शङ्का समाधानका भी प्रबन्ध है। श्रीमहामण्डलके साधु एवं विद्वान्गण सब श्रेणीके शङ्काओंका उत्तम रीतिसे समाधान करते हैं। सब श्रेणीके पत्राचार निम्नाङ्कित पतेसे करें।

जनरल सेक्रेटरी

श्रीभारतधर्म महामण्डल

जगतगंज, वाराणसी कैंट